पाठ्यक्रम समिति (अध्ययन परिषद्)	**वेद एवं निरूक्त, MASL-101**
प्रोफे0. दामोदर राम त्रिपाठी, गंगानाथ झा शोधपीठ संस्कृत विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय	**प्रोफे0एच0पी0शुक्ल** निदेशक, मानविकी विद्याशाखा उ0मु0वि0 हल्द्वानी,
प्रोफे0 पुष्पा अवस्थी, संस्कृत विभाग एस0एस0जे0 परिसर, कुमाउॅ विश्वविद्यालय अल्मोड़ा	**डॉ0 देवेश कुमार मिश्र** सहायक प्राध्यापक, संस्कृत विभाग उ0मु0वि0, हल्द्वानी
डॉ0 ब्रजेश पाण्डेय, एसो0प्रो0 महिला डिग्री कॉलेज, हल्द्वानी	**डॉ0 संगीता बाजपेयी** अकादमिक एसोसिएट संस्कृत विभाग, उ0मु0वि0, हल्द्वानी
डॉ0 गोपाल दत्त त्रिपाठी संस्कृत महाविद्यालय, हल्द्वानी	

मुख्य सम्पादक	**सह सम्पादक**
डॉ0 ब्रजेश पाण्डेय एसो0 प्रोफे0, राजकीय महिला डिग्री कॉलेज हल्द्वानी	**डॉ0 देवेश कुमार मिश्र,** सहायक प्राध्यापक, संस्कृत विभाग उ0मु0वि0, हल्द्वानी

इकाई लेखन	**खण्ड**	**इकाई संख्या**
डॉ0 देवेश कुमार मिश्र, सहायक प्राध्यापक, संस्कृत विभाग उ0मु0वि0, हल्द्वानी	**1**	1 से 4
डॉ0 उमेश कुमार शुक्ल प्रवक्ता, व्याकरण विभाग श्रीमती लाडदेवी शर्मा पंचोली संस्कृत महाविद्यालय बरून्दनी, भीलवाड़ा, राजस्थान	2	1 से 5
डॉ0 शशी तिवारी दिल्ली विश्वविद्यालय	3	1 से 4
डॉ0 जया तिवारी डी0एस0बी0 परिसर, कुमाउॅ विश्वविद्यालय नैनीताल	4	1 से 5

प्रकाशन वर्ष : 2015

पुस्तक का शीर्षक - वेद एवं निरूक्त **ISBN No. 978-93-84632-21-2**

कॉपीराइट @ उत्तराखण्ड मुकत विश्वविद्यालय

मुद्रक -

खण्ड 1. वैदिक सूक्त

इकाई .1 इन्द्र सूक्त 1/1 5

इकाई की रूपरेखा

1.1 प्रस्तावना
1.2. उद्देश्य
1.3 मन्त्र संख्या 1 - 5 तक (मूल,अन्वय,व्याख्या)
1.4 मन्त्र संख्या 6 -10 तक (मूल, अन्वय, व्याख्या)
1.5 सारांश
1.6 पारिभाषिक शब्दावली
1.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
1.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
1.9 निबन्धात्मक प्रश्न

1.1 प्रस्तावना

वैदिक सूक्तों से सम्बन्धित यह पहली इकाई है। जिस प्रकार अन्य सूक्तों में आपने विभिन्न देवताओं के स्वरूप और कार्यों का अध्ययन किया है उसी प्रकार प्रस्तुत इकाई में इन्द्र की समस्त विशेषताओं का अध्ययन करेंगे।

यह इन्द्र सूक्त ऋग्वेद के द्वितीय मण्डल का पन्द्रहवॉ सूक्त है, इसके देवता इन्द्र तथा ऋषि गृत्समद हैं। छन्द 1,7, को छोड़कर शेष समस्त छन्दों में त्रिष्टुप् का प्रयोग किया गया है। एक तथा सात में पंक्ति छन्द है। प्रस्तुत सूक्त में ऋषि ने कुल दस छन्दों के माध्यम से इन्द्र की स्तुति की है, जिसमें वैदिक देवता इन्द्र की विभिन्न स्थितियों और कार्यात्मक विशेषताओं का वर्णन है।

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप इन्द्र के विविध स्वरूपों को जानकर उसकी महत्ता एवं कार्यात्मक क्षमता का उल्लेख करते हुए अन्य देवताओं के कार्यों से अन्तर भी स्थापित कर सकेंगे।

1.2. उद्देश्य

वैदिक कालीन देवता इन्द्र की अधिकाधिक विशेषताओं का अध्ययन कराना ही इस इकाई का उद्देश्य है। प्रस्तुत इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप बतायेंगे कि-

- इन्द्र का स्वरूप क्या है।
- इन्द्र के कार्य क्या हैं।
- वैदिक देवता इन्द्र की स्तुतियॉ कितने छन्दों में की गयी हैं।
- इन्द्र के पराक्रम का वर्णन किस प्रकार किया गया है।
- इन्द्र की विशेषताएं कौन-कौन सी हैं।

1.3 मन्त्र संख्या 1-5 तक (मूल, अन्वय, व्याख्या)

सूक्त - 15 मण्डल 2, देवता-इन्द्र, ऋषि- गृत्समद, छन्द 1 तथा 7, में पंक्ति, शेष त्रिष्टुप्।

संहिता पाठ

प्रधान्वस्य महतो महानि सत्य सत्यस्य करणानि वोचम्। त्रिकटु केस्वपिवत् सुतस्यास्य मदे अहिमिन्द्रो जघान ।।1।।

अन्वय- सत्यस्य महतः अस्य महानि करणानि नु प्रवोचम्। इन्द्र त्रिकद्रुकेषु अस्य अपिवत्, इन्द्रः

अस्य सुतस्य मदे अहिं जघान।

व्याख्या- ऋषि गृत्समद इन्द्र की विशेषता प्रकट करते हुए कहते हैं- सत्यस्वरूप इस महान शक्तिशाली इन्द्र के सर्वथा स्थिर कर्मों को प्रकृष्ट रूप से कहता हूँ। इन्द्र ने तीन पात्रों में सोम-रस का पान किया। इस सोम-रस के मद में वृत्रासुर का वध किया **॥1॥**

शब्दार्थ- सत्यस्य-सत्यस्वरूप, महतः-महान् अस्य-इस इन्द्र के सत्या-सर्वथा स्थिर महानि-महान् करणानि- कर्मो को नु प्रवोचम्- प्रकृष्ट रूप से कहता हूँ, इन्द्र-इन्द्र ने, त्रिकद्रुकेषु-तीन पात्रों में,अधिबत्-सोमपान किया, अस्य- इस, सुतस्य-सोम के, मदे -मद में (अहं में), अहिं-वृत्रासुर को, जघान- मार डाला ॥

सायणभाष्य- गृत्समदो ब्रूते- महतः बलवतः सत्यसंकल्पस्य अस्य इन्द्रस्य सत्या सत्यानि यथार्थानि महानि महान्ति करणानि अस्मिन्सूक्ते वक्ष्यमाणानि कर्माणि न अद्य प्र वोचं प्रकर्षेण ब्रवीमि। वच् परिभाषणे। छन्दसि लुङ्, लङ् लिट- वर्तमाने, लुड़ि, 'अस्यतिवक्तिख्यातिभ्योडड़्' वच् उम् घ इति प्रसिद्धौ। कानि-कानि उच्यन्ते। विकद्रु केषु ज्योतिगौरीमुचयेमं रूपेष्वाभि-'लविकेष्वहः सु स्तस्य अभिषुतं सोमम् इन्द्रः अपिषत्। ततः पतिस्य अस्य सोमस्य मदे हर्षे संजाते सति इन्द्रः अहिं वृत्रमसुरं जघान हतवान्।

अर्थ - गृत्समदो ऋषिः कथयति यत् सत्यस्वरूपस्य शक्तिशालिनः इन्द्रस्य सत्यानि महान्ति कार्याणि प्रकृष्टरूपेन कथयामि। तेन त्रिषु पात्रेषु सोमरसपानं कृतम्, सोमस्य हर्षे सन्जाते सति सः वृत्रासुरं हतवान् **॥1॥**

व्याकरणगत टिप्पणी- महतः- शब्द षष्टी एकवचन। करणानि-सायण के अनुसार कर्माणि। प्रवोचम्- √ वच् परिभाषणे धतु से 'छन्दसिलुङटः' सूत्र से वर्तमान के अर्थ में लुङ् लकार का प्रयोग हुआ है। अपिषत् -√ पा धातु लङ् लकार प्रथम पु0 एकवचन। जघान-√हन् धात लिट् लकार प्र0 पु0 एक वचन।

संहिता पाठ

अवंशे धामस्तभायद्बृहन्तमा रोदसी अपृणदन्तरिक्षम् स धारयत्पृथिवीं पप्रथच्च सोमस्य ता मद इन्द्रश्चकार ॥ 2 ॥

अन्वय- धाम् अवंशे अस्तभायत्, बृहन्तं अंतरिक्षं रोदसी अपृणत् सः पृथिवीम् धरयत् च इन्द्रः सोमस्य मदे ताः चकार।

व्याख्या- इन्द्र ने द्युलोक को बिना कारण अन्तरिक्ष में स्थित किया। बढ़े हुए आकाश और द्यावापृथिवी को धारण किया और उसे विस्तृत किया। इन्द्र ने वे सब कर्म सोम के मद में किये **॥2॥**

शब्दार्थ- द्याम- द्युलोक को, अवंशे- (बिना कारण) अन्तरिक्ष में, अस्तभायत्-स्थित किया, बृहनतं- बढ़े हुए, अन्तरिक्षं- आकाश रोदसी- द्यावा पृथिवी को, धारयत् -धारण किया, पप्रथत् च- और उसे विस्तृत किया । इन्द्रः-इन्द्र नें, सोमस्य-सोम के मदे-मद में, ताः -वे सब कर्म, चकार-किया।

सायणभाष्य- अवंशे आकाशे धां घोतमानं सूर्य द्युलोकं वा अस्त-भायत् इन्द्रोऽस्तभायत्। अवलम्बनस्य तस्यावस्थापन व्यत्यमो बहुलम्' इत्यद्वावपि शायजादेशः । बृहन्तं महत् अन्तरिक्ष रोदसी धावपृथिव्यौ च अपृणत् स्वतेजसा पूरितवान्। किन्च सः इन्द्रः पृथिवीं विस्तीर्ण भूमिं धारयत् अधारयत् । तथा पप्रथच्च एनां भूमिमप्रथयत् । प्रथ प्रख्याने । व्यन्तस्य लुड़ि चड़ि रूपम्। चड़्यन्यतरस्याम् इति मध्योदात्तत्वम् सोमस्य मदे हर्षे संजाते सति तानीमानी कर्माणि इन्द्रश्चकार ।।2।।

संस्कृतार्थ- इन्द्रः घुलोकं अन्तरिक्षे स्थापितवान्, वर्धितः नभः धावापृथिव्योः परिपूर्णः कृतवान् पृथिवीं चाधारयत्। तेन कृतम् सर्व सोमस्य मदे ।।2 ।।

व्याकरणगत टिप्पणी- अस्तभायत्-√ स्तम्भु धातु लुड् लकार प्रथम पु0 एकवचन, 'व्यव्ययो बहुलम्' सूत्र से शानच् आदेश। रोदसी से तात्पर्य घुलोक और पृथिवी लोक से है। अन्तरिक्ष-अन्तः 'स्वर्गपृथिव्यौर्मध्येईक्ष्यते इति' अन्तर ईक्ष घञ् यहाँ पृषोदरादि नियम द्वारा ई को ह्रस्व हो जाता है। धारयत् -यह अधारयत् का वैदिक रूप है। पृथिवी- √प्रथ् धातु वयन्त लृड् लकार प्रथम पुरूष एक वचन इस मन्त्र में त्रिष्टुप् छन्द है।

संहिता पाठ

सद्मेव प्राचो वि मियाय मानैर्वज्रेण खान्यतृणन्नदीनाम्।
वथासृजत्पथिभिदीर्धमाथैः सोमस्य ता मद इन्द्रश्चकार ।।3।।

अन्वय- मानैः सद् मेव प्राचः विमियाय। वज्रेण नदीनां खानि अतृणत् दीर्धमाथैः पथिभिः वथा असृजत्। इन्द्र मदेताः चकार **।।3।।**

व्याख्या- इन्द्र ने माप-तौल के अनुसार नदियों को यज्ञ-गृह की भॉति पूर्व की ओर गतिशील बनाया। बज्र से नदियों को मार्ग को खोदा। नदियों को दूर तक जाने योग्य मार्गो से सहज ही बहाया। इन्द्र ने यह सब कर्म मद में किया।

शब्दार्थ- मानैः- माप-तौल के अनुसार (नदियों को), सद्मेव- यज्ञ गृह की भॉति, प्राचः पूर्व की ओर, विमियाय- गतिशील बनाया, बज्रेण-बज्र से नदीनां-नदियों के, खानि- मार्ग को अतृणत् खोदा, दीर्धयाथैः- दूर तक जाने योग्य, पथिभिः- मार्गो से बृथा- सहज ही , असृजत्-बहाया।

सायणभाष्य- सद्मेव यज्ञगृहान् मानैः षट्त्रिंशत्प्रक्रमप्राचीत्येवं रूपैः परिमाणैः प्राक्प्रवणान् कुर्वन्ति तद्वत् सिन्धून् लोकान्वा नृजून्वा मानैः परिमाणैः प्रायः प्राड्मुखान् विमियाय । इन्द्रो विशेषेण निर्मितवान् । तथा नदीनां खानि निर्गमनद्वाराणि वज्रेण च अतृणत् अखनत् तृदि हिंसानादरयोः रूधादि। लड्। तथा च मन्तः इन्द्रो अस्यां अरूणद्वज्रबाहुः (त्रह,सं0 3.33.6) इति। तथा दीर्धमाथैः बहुकालगन्तव्यैः पथिभिः मार्गैः वृथा असृजत् अनायासेन् ताः नदीः सृष्टवान्। सोमस्य इति सिद्धार्थ इति ।।3।।

संस्कृत- इन्द्रः परिमाणैः यज्ञगृहमिव सिन्धुन् प्राड़मुखान् गतिशीलं कृतवान्। वज्रेण नदीनां मार्गम्

अखनत् बहुकालगन्तव्यैः मार्गैः अनायासेन ताः नदीः सृष्टवान् ।।3।।

व्याकरणगत टिप्पणी- मानैः √मन् धातु घञ् प्रत्यय तृतीया बहुः सद्म-सीदन्ति अस्मिन्- सद्मनित् । विमियाय-विमि लिट् लकार प्रथम पुरूष एकवचन । अतृणत्-√तृद् धातु लड्लकार प्रथम पु0 एकवचन। असृजत्-√सृज् धातु लड् लकार प्रथम पु0 एकवचन। इस मंत्र में देवता इन्द्र तथा निचृत् और त्रिष्टुप छन्द है।

संहितापाठ

स प्र वोळहन् परिगत्या दभीतेर्विश्वमधागायुघमिद्धे अग्नौ।

सं गोभिरश्वैरसृजद्रथेभिः सोमसय ता मद इन्द्रश्चकार।।4।।

अन्वय- सः दभीतेः प्रवोळहन् परिगतय विष्वम् आयुधम् इद्धे अग्नौ अधाक्। गोभिः अष्वैः रथैः समसृजत्, इन्द्रः सोमस्य मदे ताः चकार ।।4।।

व्याख्या- इस इन्द्र ने दभीति के अपहर्ता असुरों को चारो ओर से घेर लिया। उनके समस्त अस्त्र-शस्त्रों को प्रदीप्त (प्रज्वलित) अग्लि में जता दिया। उन दभीति नामक राजर्षि को गायों, घोड़ों और रथों आदि से संयुक्त किया। यह सब कर्म अर्थात् यह सारा कार्य इन्द्र ने सोम-रस के मद (अहं) में किया।

शब्दार्थ-सः-उस (इन्द्र) ने, दभीतेः- दभीति के, प्रवोळहन् अपहर्ता असुरों को, परिगत्य-चारो ओर से घेर कर, विश्वं-समस्त, आयुधम् - अस्त्र-शस्त्रों को, इद्धे-प्रदीप्त, अग्नौ-अग्नि में, अधाक्-जलादिया, गोभिः गायों अश्वैः-घोडो, रथैः-रथों से समसृजत्-संयुक्त किया।

सायणभष्य- प्राक्किल चुमुरधुनिप्रभृतयोडसुरा दभीतेः पुरं संरूध्य परिगृह्य तस्मात्पुरान्निरगुरिति कथा । सः इन्द्रः दभीतेः दभीतिर्नाम कश्चिद्रजर्षिः। तसय प्रवोळहन् प्रवोढ्न्।। सहिवहोरोद-वर्णस्य' इत्योत्वम् ।। प्रकर्षेण तं दर्भतिं वहतस्तानसुरान् मध्येमार्ग परिगत्य तेषां विश्वं सर्वम् आयुधम् इद्धे अग्नौ दीप्यमाने वह्नौ अधाक् अधाक्षीत्। दहेर्लृड़ि मन्त्रे घस इत्यादिना च्लेर्लृक्। पश्चातं दभीतिं गोभिः, अश्वैः रथेभिः रधैश्च, सम् असृजत् संयोजितवान् । सो मस्यादिसिद्धमिति।। अतिमूर्तिनाम्न्यो काहे मरूत्वतीये सूक्तमुखीया । अमितमूर्तिता इति खण्ड सूजितं-स ई0 नहीं धुनिमेतोररम्णोत्।।4।।

संस्कृत - इन्द्रः अपहर्तृम् असुरान् सर्वतः परिग्रह्य सर्वम् शस्त्रं प्रदीप्तवह्नौ जज्वाल गोभिरश्वैः रथैश्च तं संयोजितवान् । ।4 ।।

व्याकरणगतटिप्पणी - प्रवोळहन्- 'सहिवहोरोदवर्णस्य' इस सूत्र से ओत्व होता है । अधाक्- √ दह् धातु लृड् प्र0पु0 एकवचन रथोभिः- रथैः का वैदिक रूप् है । सम् असृजत्- सम् उपसर्ग पूर्वक √ सृज् धातु लड् लकार प्र0 प्र0 एकवचन । इस मंत्र में त्रिष्टुप छन्द है ।

संहिता पाठ

स ई महीं धुनिमेतोररम्णात्सौ अस्नातृ नृपारयत्स्वस्ति।

त उत्सनाय रयिमभि प्रतस्थुः सोमस्य ता मद इन्द्रश्चकार ।।5 ।।

अन्वय- सः एतोः ईम् महीम् धुनिम् अरम्णात्। सः अस्नातृ न स्वस्ति अपारयत् । ते उत्स्नाय रयिम् अभि प्रतस्थुः । इन्द्रः सोमस्य मदे ताः चकारः ।।5।।

व्याख्या-इन्द्र ने इन ऋषि को पार जाने हेतु महती नही को स्थिर किया पार जाने में असमर्थ लोगों को सकुशल नदी के पार कर दिया । उन लोगों ने नदी को तैरकर धन की ओर प्रस्थान किया। यह सब कार्य इन्द्र ने सोम के मद में किया ।

शब्दार्थः इन्द्र ने एतोः ईम् इन (ऋषि) को पार जाने के लिए इस, महीं-महती, धुनि-नदी को, अरम्णात्-स्थिर किया सः-उन्होने, अस्नातृन्-पारं जाने में असमर्थ लोगों को स्वस्ति-सकुशल, अपारयत्-पार कियाते-उन लोगों ने उत्स्नाय- (उस नदी को) पार कर, रयिं -धन को, अभि-ओर, प्रतस्थुः- प्रस्थान किया ।

सायणभाष्य-सः इन्द्रः ईम् एनां महीं महती धुनिं धुनोति स्तोतृणां पापानीति धुनिः परूष्णी नदी। ताम् एतोः।। ईश्वरपदा संनिधानेडपि तो सुन्प्रत्ययेः।। ऋषीणां गमनार्थम् अरम्णात् उपाशमयत्। महाजलां नदीमल्लोपदकाम् करोतीत्यर्थः। ततः सः इन्द्रः असनानतृ न् सनातुमषक्तान् तरणासमर्थानवर्षीन्स्वस्ति क्षेमेण अपारयत् ते महर्षयः उत्स्नाय तां नदीमुत्तीर्य यं रचिमपेक्ष्य गच्छन्ति तं रयिम् अभिलक्ष्य प्रतस्धुः प्रतस्थिरे। शिष्टं सिद्धम् ।।5।।

संस्कृत- इन्द्रः ऋषीणां गमनाय नदीं संरूरोध, तान् सकुशलम-पारयत् महर्षयः नदीमुत्तीर्य धनं प्रति प्रतस्थिरे **।।5।।**

व्याकरणगतटिप्पणी- एतोः यहाँ तोसुन् प्रत्यय हुआ। प्रतस्थुः प्र उपसर्ग पूर्वक √क्या धातु लिट् लकार प्रथम पुरूष बहुवचन। कतिपय विद्वान इस मंत्र की व्याख्या इस प्रकार करते हैं- जो जगदीश्वर इस संसार का सृष्टिकर्ता, पालक और संहती संहारक हैं । वह शुद्धाचरण करने वालों को दु:खों से पार कराने वाला है । इस प्रकार के शुद्ध ईश्वर में जो समाज के द्वारा प्रतिष्ठित होते हैं वे सब जगत् में सर्वत्र प्रतिष्ठा को प्राप्त करते हैं । इस मंत्र में त्रिष्टुप छन्द है ।

अभ्यास-प्रश्न-1

क. निम्नलिखित बहुविकल्पीय प्रश्नों के उत्तर दीजिए-

1. प्रस्तुत सूक्त के प्रथम मंत्र में कौन-सा छन्द है?

क. त्रिष्टुप ख. भूरिक्पंक्ति

ग. अनुष्टुप घ. उरिक्पंक्ति

2. इन्द्र सूक्त ग्रहीत है-

क. ऋग्वेद,02 मण्डल से ख. ऋग्वेद 10 मण्डल से

ग. ऋग्वेद 03 मण्डल से घ. ऋग्वेद 14 मण्डल से

3. इन्द्र ने किस नदी को स्थिर किया?

क. महानदी ख. गंगा नदी

ग. महती नदी घ. गण्डक नदी

4. असुरों ने किस ऋषि को अपहृत किया ?

क. विश्वामित्र ख. उभीति

ग. दभीति घ. इनमें से कोई नहीं

5. प्रस्तुत सूक्त का ऋषि कौन हैं-?

क. मधुच्छन्दा ख. कवष ऐलूष

ग. वाजश्रवा घ. गृत्समद

ख. निम्नलिखित वाक्यों का सत्यासत्य निर्धारण कीजिए।

1. इन्द्र सोम-रस का पान करते है। ( )

2. अरम्णात् का अर्थ है स्थिर किया। ( )

3. इन्द्र ने नदियों के मार्ग को हाथ से खोदा। ( )

4. दभीति को इन्द्र ने गाय, रथ इत्यादि से संयुक्त किया। ( )

5. √दह् धातु लड् लकार प्रथम पुरूष, एकवचन यह अधाक् शब्द की व्युत्पत्ति है।

1.4 संख्या 6-10 तक (संहिता पाठ, अन्वय,व्याख्या)

संहिता पाठ

सोदञ्चं सिन्धुमरिणान्महित्वा वज्रेणान उषसः सं पिपेष।
अजवसो जविनीभिर्विवृश्चन्त्सोमस्य ता मद इन्द्रश्चकार।। 6 ।।

अन्वय- सः महित्वा सिन्धुम् उदञ्चम् अदिणात्। उषसः अनः वज्रेण संपिपेष। जविनीभिः अजवासः विवृश्चन् इन्द्रः सोमस्य मदे ताः चकार।

व्याख्या-उस इन्द्र ने अपने महान् बल से नदी को उत्तर की ओर बढ़ाया। उषा देवी के शकट अर्थात् गाड़ी को अपने वज्र से नष्ट किया। बलयुक्त वेगवती सेनाओं के द्वारा निर्बल सेनाओं को विशेष प्रकार से नष्ट किया। इन्द्र ने यह सब कर्म सोम-रस के मद में किया।

शब्दार्थ-सः- उस इन्द्र ने, महित्वा-(अपने) महान् बल से सिन्धुं -नदी को, उदञ्चम्- उत्तर की ओर, अरिणात्-बढ़ाया उषसः उषा देवी की, अनः-शकट (गाड़ी) को, वज्रेण-वज्र के द्वारा, संपिपेष-चूर्ण कर दिया, अविनीभिः- वेगवती सेनाओं के द्वारा, अजवसः-निर्बल सेनाओं को विवृश्चन्-विशेष प्रकार

से नष्ट कर दिया।

सायणभाष्य- सःइन्द्रसिन्धुप्राञ्चंसन्तंमहित्वास्वकोयेनमहिम्नाउदञ्चम्अरिणात् । उदङ्मुखमकरोत् ।। सिन्धुषब्दष्छन्दसि पुलिङ्ग। उषसःउषोदेव्या अनः शकटं वज्रेण सं पिपेष। चूर्णीचकार । एतञ्च द्विष्बिद्वा दुध्तिरम् (ऋग्वेद सं 4-30-9) इत्यत्र स्पष्टं वक्ष्येत। किं कुर्वन् । अजवसः जवहीना दुर्बलाः सेनाः जविनीभिः जव- युक्ताभिः विवृश्चन् विशेषेण भिन्दन् । विपेषेति समन्वयः। ''औव्रश्चूछेदने''। शतरि ग्रहिज्यादिना संश्रसारणम् शिष्टं स्पष्टम् ।।

संस्कृत-इन्द्रः स्वहिम्ना नदीम् उदङ्मुखं कृतवान् । उषोदेवयाः शकटं वज्रेण चूर्णीचकार वेगवदि भः सेनाभिः निबला सेनाः विशेषेण छित्रं कृतवान् ।

व्याकरणगत टिप्पणी- महित्वा - यह महिम्ना का वैदिक रूप है । संपिपेष - सम् उपसर्ग पूर्वक √ पिष् धातु लिट् लकार प्र0 पु0 एकवचन । चकार-√ कृ-धातु लिट्लकार प्र0 पु0 एकवचन । कतिपय विद्वान इस मन्त्र को इस प्रकार व्याख्यायित करते हैं - जिस प्रकार सूर्य महान बल से अपने प्रकाश के द्वारा जल को ऊपर पहुँचाता है । रात्रि के अंधकार को विनष्ट करता है, और अपनी तीव्र गति से अद्भुत कार्यो को करता है । उसी प्रकार हम लोगों को भी करना चाहिए। इस मंत्र में त्रिष्टुप छन्द है ।

संहिता पाठ

स विद्धां अपगोहं कनीनामा विर्भवन्नुदतिष्ठत्परावृक ।
प्रति श्रोणः सथाद् व्यनगचष्ट सोमस्य ता मद इन्द्रष्चकार ।।7।।

अन्वय- सः विद्वान् परावृक, कनीनाम् अपगोहम् अविर्भवन् उदतिष्ठत् श्रोणः प्रतिस्थात् अनक् व्यचष्ट। इन्द्र सोमस्य मदे ताः चकार ।

व्याख्या - वह विद्वान् परावृक् ऋषि सुन्दर कन्याओं के तिरोहित होने के कारणों को जानकर पुनः इन्द्र को कृपा से प्रत्यक्ष होता हुआ उनके सम्मुख उपस्थित हुआ । पङ्गु पुरावृक् ऋषि पॉच प्राप्त करके उनके पास गये, नेत्रहीन ऋषि पूर्ण तथा स्पष्ट देखने लगा । यह सब कर्म इन्द्र ने सोमरस के मद में किया ।

शब्दार्थ - पुरावृक्- पुरावृक् कनीन- सुन्दर कन्याओं के अपगोहम् तिरोहित होने के कारणों के, अविर्भवन् -प्रत्यक्ष होता हुआ, उदतिष्ठत् सम्मुख उपस्थित हुआ । श्रोणः पङ्गु प्रतिस्थात्-समीप गये, अनक् नेत्रहीन, व्यचष्ट-स्पष्ट देखने लगे।

सायणभाष्य - पुराकिल कन्याकाश्च चक्षुहीनं पादहीनं परावृजं जिघृसुमृषि दृष्ट्वाभिदुदुः ततः स ऋषिरिन्द्रं स्तुत्वा चक्षुः पादं च लेभे। तदेताह कनीनां कन्यकानाम् अपगोहम् अपगोहनं तिरोभावं विद्ववान् पुरावृक् ऋषि आभिर्भवन् सर्वेषां प्रत्यक्षो भवन् उदतिष्ठत्। श्रोणः प्रतिस्थात्। पूर्वमन्घोडघुना चक्षुलो भात् विअचष्ट । ताः कन्यकाः विशेषण पश्यतिस्म। तानीमानि कर्माणि सः इन्द्रष्चकार ।।7।।

संस्कृत- पुरावृक् ऋषि कन्यकानां तिरोभावं दृष्ट्वा पुनश्च प्रत्यक्षीभवन् सम्मुखमुवस्तिवान्। इन्द्रस्य कृपावशात् चक्षुः पादं च प्राप्तवान्। इमानि सर्वाणि कर्माणि इन्द्रश्चकार।

व्याकरणगतटिप्पणी- विद्ववान् √ विद् धातु वसु प्रत्यय । आविर्भवन् आविर्√ भू धातु

शतृ प्रत्यय, उदतिष्ठत्-उत्√ स्था धातु लड् लकार प्र0 पु0 एकवचन। कतिपय विद्वान इस मन्त्र की व्याख्या इस प्रकार करते है-हे मनुष्यों जिस प्रकार सूर्य अपने प्रकाश से अंधकार को निवृत्त कर विचित्र संसार दिखलाता है, उसी प्रकार विद्वान् व्यक्ति सत्य विद्या के उपदेश से अविद्या को दूर कर विविध पदार्थ विज्ञान को प्रकट करते है और उस प्रकार के विश्व को विभूषित करने वाले होते हैं। इस मन्त्र में स्वराट् पंक्ति छन्द है।

संहिता पाठ

भिनद्बमड्गिरोभिर्गृणानो विपर्वतस्य दृंहितान्यैरत्।
रिणग्रोधांसि कृत्रिमाण्येषां सोमस्य ता मद इन्द्रश्चकार ।। 8।।

अन्वय- अङ्गि रोभिः गृणानः बलं भिन्त्। पर्वतस्य दृंहितानि विऐरत्। एषाम् कृत्रि माणि रोधांसि रिणक्। इन्द्रः सोमस्य मदे ताः चकार ।।8 ।।

व्याख्या- अड्गिरा आदि ऋषियों से प्रशंसित होकर इन्द्र ने बल नामक दैत्य को तोड़ दिया तथा गायों के अवरोधक पर्वत के सुदृढ़ द्वारों को खोल दिया। इन पर्वतों के द्वारा कृत्रिम रूप से निर्मित अवरोधक द्वारों को दूर किया। इन्द्र ने यह सब कार्य सोम के मद में किया।

शब्दार्थ- अड्गिरोभिः- अड्गिरा ऋषियों से, गृणानः प्रशंसित (बलनामक दैत्य को) भिक्त्-तोड़ दिया, पर्वतस्य पर्वत के दृंहितानि-सुदृरों को, वि ऐरत्-खोल दिया, एषाम् इन पर्वतों के द्वारा कृत्रिमाणि-कृत्रिम रूप से निर्मित, रोधांसि-अवरोधक द्वारा को, रिणक् दूर किया।

सायणभाष्य- अड्गिरोभिः गृणानः स्तुयमानः स इन्द्र बलं बलनामकम् असुर भिनत् अभिनत्। तथा गवां निरोधकस्य पर्वतस्य दृंहितानि शिलाभिदृढीकृतानि द्वाराणि व ऐरत उद्घाटितवन्। तदेवाह। एषं पर्वतानां कृत्रिमाणि क्रियया निर्वृत्तानि रोधाषि निद्धानि रिणक् उदघाटयत्। गतमन्यत्।। अतिमूर्तिनाम्न्येकाहे निष्कैवलये सूक्तमुखीया ।।8।।

संसकृत-इन्द्र बलासुरम् अभिनत्। पर्वतस्य सुदृढीकृतानि द्वाराणि समुद् धारितवान्। कृत्रिमद्वाराण्यपि दूरीकृतानि तेन। तानीमानि कर्माणि स इन्द्र चकार ।।**8**।।

व्याकरणगतटिप्पणी-अड्गिरोभिः-तृतीयाविभक्ति बहु। गृणानः √गृ धातु ज्ञानच् प्रव्यय वैदिक रूप। कतिपय विद्वान इस मन्त्र की व्याखा इस प्रकार करते हैं- हे मनुष्यों। जिस प्रकार वायु की सहायता से अग्नि अद्भुत कार्यों को करता है, उसी प्रकार धार्मिक विद्वान के सहयोग से बडे-बड़े उत्तम कार्य कर सकते हैं। उस मन्त्र में विराट् त्रिष्टुप छन्द है।

संहिता पाठ

स्वन्पेनाभ्युप्या चुमुरिं धुनिञ्च जघन्थ दस्युं प्रदभीतिभावः।
रम्भी चिदत्र विविदे हिरण्यं सोमस्य ता मद इन्द्रश्चकार ।। 9 ।।

अन्वय- (सच्वं) दस्युम् चुमुरिम् धुनिम् च सवन्पेन अभ्युप्य आ जघन्य दभीति प्रभावः। रम्भीचित् अत्र हिरण्यम् विवेदे। इन्द्र सोमस्य मदे ताः चकार ।। 9 ।।

व्याख्या-इन्द्र ने दुष्ट, आततायी चुमुरि और धुनि नामक असुरों को दीर्घ निद्रा से युक्त करके मार डाला और दभीति की रक्षा की। दण्डधारी ने युद्ध में धन प्राप्त किया। इन्द्र ने यह सब कर्म सोम रस के मद में किया।

शब्दार्थ- दस्युम-दुष्ट, चुमुरि-चुमुरि, धुनि च और धुनि को स्वन्पेन-दीर्घ निद्रा से, अभ्युप्य-युक्त करने, आ जघन्थ- मारा डाला, दभीति- दभीति की , प्रआव-रक्षा की रम्भीचित् दण्डधारी ने, अत्र इस युद्ध में, हिरण्यं-धन को विवेदे-प्राप्त किया ॥ 9 ॥

सायणभाष्य- सच्वं दसयुं सर्वस्योपक्षपयितारं चुमुरिं धुनि च एतन्नामानावसुरौ स्वन्पेन दीर्धनिद्रया अभ्युपत संयोज्य जघन्थ छतवानसि। ततः ताभ्याम् युध्यमाणं दभीतिं राजार्षि आवः रक्षितवानसि। तथा च मन्त्रवर्णः त्वं निदस्यं चुमुरिं धुनिं चास्वापयो दभीतये सुहन्तु (ऋ0सं0 7,19.4) इति। आवः। अवते रक्षाणानार्थस्य लड़ि सिपि रूपम्। रम्भी चित् वेत्रधारी चास्य दौवारिकः अत्र अस्मित्युद्धे तयोरसुरयोः हिरण्यं धनं विवेदे लेभे। विद्लृ लाभे सवरितेत् तानीमानि कर्माणि सोमस्य मदे सति चकार इति ।।9।।

संस्कृत- इन्द्रः चमुरिं घुनिम् च एतन्नामानावसुरौ हतवान्। राजर्षि दभीतिं रक्षितवान् युद्धेडस्मिन् वेत्रधारीं धनं लेभे। सर्वाणीमानि कर्माणि इन्द्रेण कृतानि **।।9।।**

व्याकरणगतटिप्पणी- स्वन्पेन- √ स्वप् धातु से नन् प्रत्यय, तृतीया विभक्ति एकवचन विविदे-√ विद्लृ लाभे धातु से लिट्कलाकर प्र0 पुरूष। कतिपय विद्वान् इस मंत्र की व्याख्या इस प्रकार करते हैं- जो पुरूषों की रक्षा के निमित्त एकत्रित होते है जो पुरूषार्थी डाकू आदि दुष्टों का निवारण कर श्रेष्ट पुरूषों की रक्षा निमित्त एकत्रित होते है, वे संसार के मध्य ऐश्वर्य को प्राप्त करते इस छन्द में अनुष्टुप् छन्द है।

संहिता पाठ

नूनं सा ते प्रति वरं जरिगे दुहीयदिन्द्र दक्षिणा मधोनी।
शिक्षा स्तोतृभ्यो माति घग्भगो नो बृहद्वदेम विदथे सुवीराः।।10।।

अन्वय- हे इन्द्र ते सा मधोनी दक्षिणा नूनं जरिगे वरम् प्रति दुहीयत्। स्तोतृभ्यः शिक्ष भगः नः मा अति घक्, सुवीराः विदथे बृहत् वदेम ।।10 ॥

व्याख्या-हे इन्द्र! तुम्हारी वह अत्यधिक ऐश्वर्यशालिनी दक्षिणा निश्चय ही स्तुति करने वाले को श्रेष्ठ धन प्रदान करती है। स्तुति करने वालों को श्रेष्ठ ज्ञान प्रदान कीजिए। धन, ऐश्वर्य आदि के प्रदान करने के समय हमें न छोड़े और हम हम लोगों को ऐश्वर्य प्रदान करें। यज्ञ के समय स्तोता लोग महान् स्तोत्र को बोलें **।।10 ।।**

शब्दार्थ- ते- तुम्हारी सा-वह मधोनी- अत्यधिक ऐश्वर्यशालिनी, दक्षिणा नूनं-निश्चय ही, जरित्रे- स्तुति करने को, वरं- श्रेष्ठ धन, प्रति दुहीयत- प्रदान करती है, सतोतृभ्यः- स्तुति करने वालों को शिक्ष- (वह दक्षिणा) प्रदान कीजिए, भगः भजनीय (आप) नः- हम लोगों का, मा अति धक्- अतिक्रमण कर, अन्य लोगों को दक्षिणा न प्रदान करें। सुवीराः सुन्दर पुत्र पौत्रों से युक्त हम स्तोता

लोग, विदथे- इस यज्ञ में, वृहत् महान् या प्रभूत, वदेम- स्तोत्र को बोले।

सायणभाष्य- हे इन्द्र या दक्षिणा। दक्षमुत्साहनं करोतीति दक्षिणा। स्तोतृभ्यो देया ते त्वत् संबन्धिनी मधोनी धनवती जरित्रे सतोत्रे वरं श्रेष्ठमभिमतमथं नूनं प्रति दुहीयत् इदानीं प्रतिदोग्धि सम्पादयतीत्यर्थः। तादृशी दक्षिणां सतोतृभ्यः अस्मभ्यं शिक्ष प्रयच्छ। किंच भगः भजनीयस्त्वं माति धक् ।। दहेर्दानार्थस्य लृड़ि ’मन्त्रे धस0 इत्यादिना च्लेर्लुक्। नः अस्मान् अतिक्रम्यान्येभ्यों दक्षिणां मा याः। प्रथममस्मम्यं दत्त्वा पश्चादन्येम्यों दीयतामित्यर्थ यद्वानोडस्माकं कामान् ना धक् मा धाक्षीः अपेक्षितफलदानेन पूरमेत्यर्थः। सुवीराः शोभनपुत्रपौत्राः सन्तो वयं विदये अस्मिन् यज्ञे वृहत् प्रभूतं स्तोत्रं वदेम त्वामुद्दिश्य ब्रवाम।अत्र सा ते प्रतिदुग्धाम् इति प्रकृत्य ’वीरो वीरयत्यमित्रान् वेत्तर्वा स्याद् गतिकर्मणो वीरयतेर्वा (निरूक्त 1.7) इत्यत्र निरूक्तम् अनुसंधेयम! **।।10।।**

संस्कृत- हे इन्द्र परमैश्वर्यशालिनी ते दक्षिणा खलु स्तोत्रे श्रेष्ठ धनं प्रददाति । धनवितरणसमये असमाकं परित्यागः न कर्त्तवयः। ऐश्वर्य देह्यस्मभ्यं यज्ञे स्तोतृगणाः महत्सतोत्रं वदेम ।।10।।

व्याकरणगतटिप्पणी- स्तोतृभ्यः-स्तु$तृच से स्तोता बना √ स्तोतृ धातु भ्यास् प्रत्यय होकर सतोत्रेभ्यः बना है। सुवीराः- सुवीर$जस्, वदेम-√ वद् धातु विधिलिङ् लकार उत्तम पुरूष एकवचन। कतिपय विद्वान इस मन्त्र की व्याख्या इस प्रकार करते है-हे मनुष्यों! तुम्हें उत्तम विद्वानों के लिए अभीष्ट दक्षिणा और विद्यार्थियों के लिए शिक्षा देनी चाहिए। जिससे दाता और ग्रहीता फलयुक्त बनें। इस मन्त्र के ऋषि गृत्समद हैं। देवता इन्द्र है और त्रिष्टुप छन्द है।

अभ्यास-प्रश्न-2

क. निम्नलिखित बहुविकल्पीय प्रश्नों के उत्तर दीजिए-

1. ' शकट’ का अर्थ है-

क. गाड़ी ख. गाड़ीवान

ग. कोचवान घ. इनमें से कोई नहीं

2. गृणान् निष्पन्न है-

क. ग्री धातु से ख. गिर् धातु से

ग. गृ धातु से घ. ग्रि धातु से

3. नूनं सा ते प्रति वरं................................विदथे सुवीराः इस मंत्र का देवता और छन्द है-

क. इन्द्र, पंक्ति ख इन्द्र, भुरिक्पंक्ति

ग. इन्द्र, अनुष्टुप ग. इन्द्र, त्रिष्टुप

4. अंगिरा आदि ऋषियों की स्तुति पर इन्द्र ने किस दैत्य का वध किया?

क. बाल ख. बल

ग. दैत्यारि घ. बालासुर

5. आविर्भवन् की व्याकरणिक व्याख्या है-

क. अविर्√भू धातु शतृ प्रत्यय

ख. आवीर्√भू धातु शतृ प्रत्यय

ग. आवीर√भू धातु शतृ प्रत्यय

घ. आविर्√भू धातु शतृ प्रत्यय

6. इन्द्र ने किन आततायियों को चिर् निद्रा में सुलाया ?

क. चुमुरि और बल को, ख. चुमुरि और धुनि को

ग. चुमुरि और दैत्यादि को घ. धुनि और बालासुर को

ख. निम्नलिखित वाक्यों का सत्यासत्य निर्धारण करे -

1. चुमुरि और धुनि से इन्द्र ने दभीति की रक्षा की।

2. मघोनी का अर्थ इन्द्र होता है।

3. सुवीरजस्, सुवीराः की व्याकरणिक व्याख्या है ।

4. इन्द्र नें पुरावृक ऋषि को सोम रस के मद में नेत्र युक्त कर दिया

5. इन्द्र ने अपने महान् बल से नदी को दक्षिणोत्तर की ओर बढाया।

6. चकार शब्द की निष्पत्ति √ कृ धातु लिट् लकार प्रथम पुरूष एक वचन से हुयी है।

1.5 सारांश

इन्द्र नें तीन पात्रों में सोम रस का पान किया इसी रस के मद में आकर उसने वृत्रासुर का वध किया।वह सत्य स्वरूप वाला है।अकारण ही इन्द्र ने द्युलोक को अन्तरिक्ष में स्थित कर दिया था।इन्द्र ने नदियों को गृह तथा यज्ञ की भॉंति पूर्व की ओर गतिशील बनाया,नदियों को सहज मार्ग प्रदान प्रदान किया। सारे कर्मों को इन्द्र ने मद में किया,वह जल का नेता है।इन्द्र ने दभीति के अपहर्ताओं को घेरकर उनके अस्त्र-शस्त्रों को प्रज्वलित अग्नि में जला दिया।दभीति नामक राजर्षि को गो, अश्व और रथों से सुसज्जित कर दिया। नदी पार करने मे असमर्थ लोगो को सकुशल पार कर दिया। इन्द्र ने महान बल के द्वारा नदी को उत्तर की ओर बढाया तथा उषा के शकट को अपने वज्र द्वारा नष्ट कर दिया।अड्गिरा आदि ऋषियों से प्रशंसित होकर इन्द्र ने बल नामक दैत्य को तोड़ दिया तथा गायों के अवरोधक पर्वत के सुदृढ़ द्वारों को खोल दिया। इन पर्वतों के द्वारा कृत्रिम रूप से निर्मित अवरोधक द्वारों को दूर किया। स्तुति करने वालों को श्रेष्ठ ज्ञान प्रदान कीजिए। धन, ऐश्वर्य आदि के प्रदान करनेके समय हमें न छोड़े और हम लोगों को ऐश्वर्य प्रदान करें। यज्ञ के समय स्तोता गण लोग महान् का पाठ करें ।

1.6 पारिभाषिक शब्दावली

1. करणानि-सायण के अनुसार कर्माणि होता है।

2. प्रवोचम्- √ वच् परिभाषणे धातु से 'छन्दसिलुड्लिटः' सूत्र से वर्तमान के अर्थ में लुड् लकार का प्रयोग हुआ है।

3. अस्ना तृन्-पार जाने में असमर्थ लोगों को।

1.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

क.	1-ख.	2-क	3-ग	4-ग	5-घ
ख.	1 सही	2-सही	3-गलत	4-सही	5- गलत

1.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. संस्कृत वेद भारती, डॉ शिवबालक द्विवेदी,

2. ग्रन्थम् प्रकाशन, कानपुर

1.9 निबन्धात्मक प्रश्न

- इन्द्र के स्वरूप एवं कार्यों का विवेचन करें।
- मन्त्र संख्या 3 और 6 की संस्कृत अर्थ सहित व्याख्या करें।
- इन्द्र नें ऋषियों एवं पृथ्वी वासियों के कष्ट को दूर किया प्रस्तुत सूक्त के आधार पर सिद्ध करें।
- इन्द्र के सोम-रस पान के महत्व का वर्णन करें।

इकाई.2 उषःसूक्त- मूलपाठ, सायणभाष्य, अर्थ - व्याख्या

इकाई की रूपारेखा

2.1 प्रस्तावना

2.2 उद्देश्य

2.3 उषस् सूक्त

2.4 सारांश

2.5 शब्दावली

2.6 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

2.7 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

2.8 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री

2.9 निबन्धात्मक प्रश्न

2.1.प्रस्तावना

स्नात्तकोत्तर संस्कृत प्रथम वर्ष के प्रथम प्रश्न पत्र के प्रथम खण्ड (वैदिक सूक्तों से सम्बन्धित) की यह द्वितीय इकाई है। इसके पूर्व की इकाई में आपने इन्द्र सूक्त के माध्यम से वैदिक देवता इन्द्र की समस्त विशेषताओं का अध्ययन किया है। इस इकाई के अन्तर्गत आप उषा के स्वरूप एवं उसके कार्यो का अध्ययन करेगें।

उषस् सूक्त ऋग्वेद के तृतीय मण्डल का इकसठवॅां सूक्त है। इसके ऋषि विश्वामित्र तथा देवता उषस् हैं । सम्पूर्ण सूक्त में त्रिष्टुप् छन्द का प्रयोग किया गया है। प्रस्तुत सूक्त में वर्णित उषस् को सत्य एवं असत्य का उच्चारण करने वाली तथा विशेष रूप से शोभायमान बताया गया है। सूर्य को उषा का प्रेरयिता बताया गया है। रात्रि तथा उषा को दो बहनों के रूप में चित्रित किया गया है।

प्रस्तुत इकाई के अध्ययन से आप उषा के विभिन्न स्वरूपों एवं उसके पराक्रम को बतायेगें।

2.2.उद्देश्य

उषस् सूक्त में वर्णित देवी की महत्ता के परिज्ञान से आप बता सकेंगे कि -

1. ऋग्वेद में वर्णित उषा का स्वरूप क्या है ?
2. उषस् के विभिन्न रूपों की महत्ता क्या है ?
3. उषस् सूक्त में उषा की स्तुतियाँ कितने मंत्रों के माध्यम से की गयी ?
4. उषस् का स्वरूप तथा अन्य देवताओं के स्वरूप एवं महत्व में अन्तर क्या है ?
5. उषा के विशिष्ट कार्य कौन-कौन से हैं ?

2.3.उषस् सूक्त

ऋषि-विश्वामित्र ,देवता-उषस् छन्द- त्रिष्टुप् ,मण्डल-3,सूक्त - 69,

मूलपाठ

उषो वाजेन। वाजिनि प्रचेतः स्तोमं जुषस्व गृणतो मघोनि।
पुराणी देवि युवतिः पुरंधिरनु व्रतं चरसि विश्ववारे ।।1।।

पदपाठः

उषः। वाजेन वाजिनि ।प्रऽचेताः।
स्तोमम् जुषस्व। गृणतः। मघोनिः।
पुराणी। देवि। युवतिः। पुरंऽधिः। अनु। व्रतम्। चरसि। विश्वऽवारे ।।1।।

अन्वय- वाजेन वाजिनि मघोनि उषः। प्रचेताः गृणतः स्तोमम् जुषस्व । विश्ववारे देवि । पुराणी युवतिः पुरन्धिः व्रतम् अनुचरसि ।

सायण- वाजेन वाजिनि अन्नेन अन्नवति । मघोनि धनवति हे उषः। प्रचेताः प्रकृष्ट ज्ञानवती सती गृणतः तव सतोत्रं कुर्वतः स्तोतु: स्तोमं स्तोत्रं जुषस्व सेवस्व । यद्वा वाजेन हविर्लक्षणेनान्नेन सह स्तोमं जुषस्वेति सम्बन्धः । विश्ववारे सर्वैर्वरणीये हे उषो देवि पुराणी पुरातनी युवति तरणीत्युपमा । तद्वच्छोभना । सुसंकाशा मातृमृष्टेच योषेतिवत् । (ऋग् 01/123/2) पुरन्धिः पुरू बहु धी स्तोत्रलक्षणं कर्म यस्याः सा । बहुस्तोत्रवती पुरूधिर्बहुधीरिति यास्कः। पुरन्धि शोभमाना वा । एवंविघगुणोपेता त्वमनुप्व्रतं यज्ञकर्माभिलक्ष्य चरसि यष्टव्यतया वर्तते ।

अर्थ - अन्न से अन्नवती तथा धन से सम्पन्न हे उषा देवी । तुम प्रकृष्ट ज्ञान वाली होती हुई स्तुति करने वाले के स्तोत्र को ग्रहण करो । सम्पूर्ण विश्व के द्वारा वरणीय, दिव्य गुणों से सम्पन्न हे उष देवी तुम पुरातनी युवती के समान हो अथवा सनातन काल से युवती ही बनी हुई हो, बहुत अधिक बुद्धिशालिनी हो और तुम हमारे यज्ञ आदि नियम व्रत को लक्ष्य करके विचरण करती हो अर्थात उनका पालन करती हो ।

व्याख्या- उषा को सदा नवीन रहने के कारण " पुराणी युवतिः'' भी कहा जाता है । वाज शब्द के अनेक अर्थ है- Swiftness, Race, Prize of Race gain, treasure, food, oblation, strength, strife, contest, booty आदि । मैक्समूलर ने तो वाजेन वाजिनि का अर्थ ' Wealthy by wealth or booty ' किया है । यहाँ पर 'वार' का अर्थ सब वरणीय धनों से सम्पन्न हो सकता है । वार का मतलब दिन से भी होता है अतः विश्ववारे का अर्थ प्रतिदिन भी हो सकता है । व्याकरणीय दृष्टि से हम उषा सूक्त के इस मन्त्र के एक-2 शब्दों को इस पर समझ सकते हैं -

व्याकरण- जुषस्व - जुष् धातु, लोट लकार, मध्यम पुरूष एक वचन वजिनि-वाजः अस्य अस्ति अर्थ में वाज + इनि + ङीप । सम्बोधन एकवचन । गृणत:- गृ+ श्ना + शतृ । षष्ठी विभक्ति एक वचन । मघोनि-'मघ' शब्द से 'मतुप्' के अर्थ में वैदिक, 'वनिन् प्रत्यय । व को 'उ' सम्प्रसारण और 'ऋन्नेभ्यो ङीप्' से ङीप्- मघोनी । सम्बोधन का एकवचन । युवतिः- युवन् ति = युवतिः। न का लोप । विश्ववारे- विश्व नृण (अ) टाप् । सम्बोधन का एकवचन । चरसि-विचरण करती हो । स्तोमम्-स्तोत्र को । प्रचेताः-प्रकृष्ट ज्ञान वाली । पुरंधिः-पुरम् धी यस्या अर्थ में 'पृषोदरा-दिव्वात् नियम से पुरू को पुरम् आदेश हुआ तो पुरंधि शब्द बना ।

मूलपाठ

2. उषो देव्यमर्त्या विभाहि चन्द्ररथा सूनृता ईरयन्ती। आ त्वा वहन्तु सुयभासो अश्वा हिरण्यवर्णा पृथुयाजसो ये ।।

पदपाठ -

उषः । देवि । अमर्त्या । वि । भाहि ।

चन्द्रऽरथा । सूनृताः । ईरयन्ती ।

आ। त्वा। वहन्तु। सुऽयमासः। अश्वाः।
हिरण्यवर्णा पृथुऽपाजसः। ये ॥2 ॥

अन्वय- उषः देवि । अमर्त्या चन्द्ररथा सूनृताः ईरयन्ती विभाहि । पृथुपाजसः सुयमासः ये अश्वाः हिरण्यवर्णाम् त्वा आवहन्तु।

सायण- हे उषो देवि अमर्त्या मरणधर्मरहिता चन्द्ररथा सुवर्णमयारथो-पेता सूनृताः प्रियसत्यरूपा वा च ईरयन्ती उच्चारण-पृथुपाजसः प्रभूत बलयुक्ता अरूणवर्णा येऽश विद्यन्ते सुयमासः सुष्णु नियन्तु शक्या रथे योजितास्तेऽश्वा हिरव्यवर्णा त्वा त्वामावहन्तु सुयमासः यमेरकृच्छ्रार्थे रवल्।

अर्थ- हे उषा देवी! दिव्य गुणों वाली तुम मरण धर्म से रहित होती हुई, सुवर्णमय रथ पर आरूढ होती हुई, प्रिय और सत्य वाणियों का उच्चारण करती हुई, सूर्य किरणों के सम्बन्ध में विशेष रूप से शोभायमान बनो। अत्यधिक बलशाली और अच्छी प्रकार से नियन्त्रित जो तुम्हारे अरूण वर्ण घोड़े हैं, वे स्वर्ण के समान दीप्तिमान तुमको हमारे सम्मुख लायें।

व्याख्या- दिव्यगुणवाली मरणधर्म से रहित आदि जो भी विशेषणयुक्त बातें बतलायी गयी है, ये उषा के विभिन्न गुणों को रेखांकित करती है। घोड़ो की विशेषता बतलाते हुए यह कहा गया हे कि ये प्रतिभाशाली और अच्छी प्रकार से नियंत्रित है और ये घोड़े स्वर्ण के समान दीप्तिमान है ये ही तुमको हमारे सम्मुख लायें। उषा की प्रशंसा करते हुए विश्वामित्र ऋषि कहते है कि हे उषा देवी तुम मरण धर्म से रहित हो तथा तुम विशेष रूप से सुशोभित हो जाओ मेरी यही कामना है। तुम्हारी वाणी प्रिय है तथा तुम सत्य वाणी का उच्चारण करती हो । सूर्य की-किरणों के सम्बन्ध को रेखांकित कर ऋषि विश्वामित्र कहते है कि तुम इनके सम्बन्ध से विशेष प्रकार से शोभायमान हो जाओं। घोड़ो की विशेषता बतलाते हुए कहते हैं कि ये तुम्हारे अरूण वर्ण के घोड़े सब तरह से नियंत्रण में हैं।

व्याकरण- भाहि -भा धातु, लोट लकार, मध्यम पुरूष एकवचन। ईरयन्ती-ईरणिच्शतृङीप्। सुनृता-सुऋतटाप् (यहाँ पर नुत् का आगम तथा दीर्घ हुआ) सुयमासः -सुयमखल् = सुयम। प्रथमा विभक्ति के बहुवचन का वैदिक रूप । पृथुयाजसः-पुथुपाजः येषां ते । याजुत् (ज्) असुन् (अस्) याजस् । पीटर्सन ने 'पृथुयाजसः 'का अर्थ 'अत्यधिक चमक वाला' बताया है। यहाँ पर सुयमासः का अर्थ 'सुख पूर्वक जोते जा सकने वाला' भी हो सकता है।

मूलपाठ

3. उषः प्रतीची भुवनानि विश्वोर्ध्वा तिष्ठस्यमृतस्य केतुः।
समान्मर्थ चरणीयमाना चक्रर्मिक नण्यस्या ववृत्स्व।।

पदपाठ-

उषं। प्रतीची। भुवनानि विश्वा।
उर्ध्वा। निष्टसि। अमृतस्य। केतुः।
समानम् अर्थम्। चरणीयमाना।
चक्रमिक नण्यसि। आ। ववृत्स्व ॥3॥

अन्वय- उषः। विश्वा भुवनानि प्रतीची अगृतस्य केतुः उर्ध्वा निष्टसि। नण्यसि। समानम् अर्थम् चरणीयमाना चक्रम् इव आंनृवत्स्व।

सायण- हे उषो देवी! थ्वश्वा भुवनानि सर्वाणि प्रतीची। प्रति आभिमुचयेन अञ्चति प्राप्नोती प्रतीची। अमृतस्य मरणधर्म रहितस्य सूर्यत्य केतुः प्रज्ञाययित्रीति त्वमूर्ध्वा नभस्युन्नता तिष्ठसि। नण्यसि पुनः पुनर्जायमानतया नवतरे हे उषो देवी! अर्थम् अर्थते गम्यतेऽस्मिन्नित्यर्थो मार्गः समानमेकं मार्गमुदयात्प्राचीनकाललक्षणं चरणीयमाना चरितुमिच्छन्ती, त्वमस्यावनृत्सव पुनस्तस्मिन्मार्गम् आवृता भाव। तत्र दृष्टान्तः। चक्रमिव यथा नभसि चरितृः सूर्यस्थ रथाऽङ्ग पुनः पुनरावर्तते तद्वत्।
अर्थ-हे उषा देवी! तुम सम्पूर्ण लोकों के तरफ जाती हुई मरण धर्म से रहित सूर्य की ध्वजा अर्थात उसका बोधन कराने वाली उपर आकाश में स्थित होती हो। सदा नवीन रहने वाली हे उषा। तुम एक ही मार्ग पर विचरण करती हुई सूर्य के पहिये के चक्र के समान पुनः पुनः घूमती रहो।

व्याख्या- उषा देवी के बारे में यशगान करते हुए विश्वामित्र ऋषि का कहना है कि हे उषा देवी! सम्पूर्ण या जितने भी लोक है इस सृष्टि में आप उन सभी के सम्मुख अर्थात् सामने जाती है। आप सूर्य के ध्वजा अर्थात् उनकी सत्ता का बोध कराती है और आप आकाश में स्थित हैं। आप कभी प्राचीन नही हो सकती है। आप सर्वथा चिरस्थायी रहेगी। सूर्य का पहिया जिस प्रकार घूमता रहता है आप उसी प्रकार पुनः पुनः अर्थात बार-बार घूमती रहे।

व्याकरण-प्रतीची-प्रतिअञ्चुकिवन्। " अञ्चतेश्चोपसंख्यानम्'' से ड़ीप्। 'अञ्च्' के अं औरञ् तथा प्रति के इ को दीर्ध ई हुआ है। यहाँ पर विश्वा भुवनानि प्रतीची का अर्थ है-''In the Face of all Creatures''**चरणीयमाना**-'चरणम् इच्छति' अर्थ मे चरण क्यच्शानच्टाप्। **केतु**ः- 'चाय् पूजायाम्' धातु से चाय् तुन्। 'चाय' को ही 'की' आदेश हुआ और गुण होकर केतु बना।
ववृत्स्व- यङ् लुगन्त वृत् धातु, लोट्लकार, मध्यमपुरूष एकवचन।
नण्यसि- नवईयसुनड़ीप्। नव के 'अ' और प्रत्यय के ई का वैदिक लोप = नण्यसि। सम्बोधन एकवचन यहाँ पर समानम् अर्थ चरणीयमाना का अर्थ है- ''Pressing Forward to the Same Mark'' **अर्थात्** As in Former days। आप के सामने एक मंत्र प्रस्तुत है जिसकी तुलना ऋग्वेद से करनी चाहिए -
समानो अध्वा स्वत्रोरनन्तस्यमन्यान्या चरतोदेव शिष्टे।
न मेथेते न तस्थतुः सुमेके नक्तोषासा समनसा विस्पे॥
रात्रि और उषा को दो बहनें माना जाता है। ये न कभी रूकने वाली है न कभी ठहरने वाली हैं बल्कि अबाध गति से घूमती रहती हैं। इनके विचार एक दूसरे के प्रति सहानुभूतिपूर्ण रहते हैं और एक दूसरे से मिलता जुलते हैं परन्तु इनके स्वरूप परस्पर भिन्न हैं। यहाँ पर छन्द के अनुरोध से ' विश्वोर्ध्वा ' को ' विश्वा 'उर्ध्वा' 'तिष्ठत्यमृतस्य' को 'तिष्टसि अमृतस्य तथा' नण्यस्या' को 'नण्यसि आ' पढ़ना चाहिए।

मूलपाठ

4. अव् स्युमैव चिन्वती मघोन्युषा याति स्वसरस्य पत्नी स्वर्जनन्ती सुभमा सुदंसा आन्तादिदवः प्रपथ आपृथिव्या

पदपाठ

अव। स्यूमऽइव । चिन्वती मघोनी ।
उषाः। याति। स्वसरस्य। पत्नी ।
स्वः। जनन्ती । सुऽभागा । सुडदंसाः ।
आ । अन्तात् । दिवः। पप्रथे । आ । पृथिव्या **।।4।।**

अन्वय- मघोनी स्वसरस्य पत्नी उषाः स्यूम इव अवचिन्वती याति। स्वः जनन्ती सुभगा सुदंसाः दिवः आ अन्तात् पृथिव्याः आ पप्रथे ।

सायण-येयभुषाः वस्त्रमिव विस्तृतं नमः अवचिन्वती अवचयमपक्षयं प्रापयन्ती माघोनी धनवती। स्वसरस्य सुष्ठु अस्यति सिपति तम इति स्वसरः सूर्यो वासरो वा तस्य। पत्नी सती याति गच्छति। स्वः स्वकीयं तेजः जनन्ती जनयन्ती सुभागा सुघना सौभाग्ययुक्ता वा सुदंसाः शोभनाग्निहोत्रकर्म सेयमुषा दिवः द्युलोकस्य आ अन्तात् पृधिव्याश्च आ अन्तात् अवसानात्प्रपथे प्रकाशत इत्यर्थः।

अर्थ- धनसम्पत्ति से परिपूर्ण सूर्य की या दिन की पत्नी होती हुई यह उषा देवी वस्त्र के समान आच्छादित करने वाले अन्धकार का विनाश करती हुई अथवा अपने वस्त्र के अहंकार को फैकती हुई चली जाती है । अपने तेज को उत्पन्न करती हुई अथवा स्वर्ग को सजीव करती हुई, सुन्दर यज्ञरूपकर्म वाली यह उषा द्युलोक के अन्तिम किनारे से लेकर पृथ्वी के अन्तिम किनारे तक फैल जाती है।

व्याख्या-प्रस्तुत मंत्र में पीटर्सन नें'स्यूम' का अर्थ वस्त्र बताया है और 'स्यूमेव चिन्वती' का अर्थ है- asting aside as it were, her garment उषा के विषय में वस्त्र का उदाहरण देकर बताया गया है कि जिस प्रकार शरीर को वस्त्र ढकते हैं उसी पर प्रकार उषा देवी अन्धकार का विनाश करती है । ये धन-सम्पत्ति से परिपूर्ण है । ये सुन्दर यज्ञ रूपी कर्मो वाली है जो द्युलोक से लेकर पृथ्वी के अन्तिम किनारे तक फैली हुई है । रॉथ ने ऋग्वेद के 1/113/7 वें मंत्र में 'स्यूमन' को Hymen नामक ग्रीक देवता के समानार्थक माना है। 'स्यूम' का अर्थ है- The mistress o the house bestirs herself, drawing back the Strap that closes the doo r। ग्रासमान के अनुसार 'अवस्यूमेव चिन्वती' का अर्थ है- 'Unloosening her girdle। लुडविग ने इस प्रकार बताया है- 'Shaking reins in order to urge on her horses, or throwing reins away alto-gather in order to alight. सायण ने 'स्वरस्य पत्नी' का अर्थ बताया है उसे पीटर्सन ने अशुद्ध माना है और कहा है कि- 'Queen of all World' होना चाहिए । पीटर्सन के अनुसार 'स्वर्जनन्ती ' का अर्थ 'Bringing heaven to life' जव सपमिष् होना चाहिए और 'सुदंसाः' का अर्थ Doing wonderful and glorious deed होना चाहिए । इसका अर्थ सुन्दर रूपवाली भी हो सकता है ।

व्याकरण- चिन्वती- चि (सु) शतृड़ीप = चिन्वती मघोनी- मघवनिन् ङीप् = मघोनी स्यूम- 'षिवुतन्तुसन्ताने' धातु से मन् प्रत्यय। सिवम। सिव् के 'व' को 'च्छवोः शूडनुनासिके च से 'उठ' और 'इ' को यण आदेश हुआ तो स्यूम बना। द्वितीया विभिक्त एकवचन वैदिक रूप।

स्वसरस्य- 'सुष्ठु अस्यति सिपति तमः' अर्थ में 'सु अस् से अरक्' प्रत्यय = स्वसर। षष्ठी विभक्ति एकवचन। जनन्ती- णिजन्त 'जन' धातु से शतृ। 'छन्दस्यु- भयथा'' से णिच् का लोप होकर जनन्ती बना।

अभ्यास प्रश्न-1

1. उषस् सूक्त के ऋषि हैं-

(i) वशिष्ट (ii) कपिल

(iii) विश्वामित्र (iv) भर्तृहरि

2. उषस् सूक्त में छनद का प्रयोग किया गया है-

(i) त्रिष्टुप् (ii) वंशस्थ

(iii) मालिनी (iv) बसन्ततिलका

3. उषस् सूक्त-61 ऋग्वेद के किस मण्डल से गृहीत है-

(i) चतुर्थ (ii) तृतीय

(iii) प्रथम (iv) षष्ट

4. " गृणतः'' शब्द किस विभक्ति एवं किस वचन का रूप है-

(i) षष्टी एकवचन (ii) सप्तमी बहुवचन

(iii) चतुर्थी द्विवचन (iv) तृतीया एकवचन

5. "नण्यसि'' शब्द किस विभक्ति एवं किस बचन का रूप है-

(i) सम्बोधन द्विवचन (ii) सप्तमी बहुवचन

(iii) सम्बोधन बहुवचन (iv) सम्बोधन एकवचन

6. रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए-

क.उषो वाजेन वाजिनि प्रचेतः...गृणतो मघोनि।

ख. आत्वा नहन्तु सुयमासो..पृथुयाजसो ये।

ग. समानमर्थ चरणीयमाना...नण्यस्या ववृत्स्व।

घ. पीटर्सन ने..का अर्थ अत्यधिक चमक वाला बताया है।

ङ. सदा नवीन रहने के कारण उषा को

....की कहा जाता है।

च. उषा और ....को

दो बहने माना जाता है।

छ. पीटर्सन ने स्यूम का

अर्थ..बताया है।

ज. रॉथ ने स्यूम का अर्थ ....नामक ग्रीन

देवता के समानार्थक माना है।

मूलपाठ

5. अच्छा वो देवी युषसं विभाती प्र वो भरध्वं नमसा सुवृक्तिन् । ऊर्ध्व मधुधा दिवि पाजो अश्रेत प्ररोचना रूरूचे रण्वसंदृक् ।।5।।

पदपाठ

अच्छा । व देवीम् । उषसम्। विडभातीम ।

प्र। वः भरध्वम। नमसा । सुडवृक्तिम्।

ऊर्ध्वम । मधुधा । दिवि । पाजः। अश्रेत ।

प्र। रोचना। रूरूचे। रण्वसंदृक् ।।

अन्वय-वः अच्छ विभातीम् देवीय् उष्सम वः नमसा सुवृक्त्म् प्रभरध्वम् गधुधा दिवि ऊर्ध्वम् पाजः अश्रेत् रण्वसंध्क् रोचना प्ररूरूचे।

सायण- हे स्तोतारो व युष्माननश्च अभिलक्ष्य विभाती शोभमान मुषसं देवी प्रति यो युष्माकं सम्बन्धिनान मसा नमस्कारेण सह सुवृक्ति शोभनां स्तुति प्र भरध्व यूयं कुरूत। मधुआ मधुराणि स्तुति लक्षणानि वाकयानि दधातीति मधु सोमः तं धारयतीति वा। यद्धा मधुधा आदित्यधात्री। यद्धा अवग्राहा-भावादन्ययुन्त्पन्नावयवमरखण्डभिदमुषो नाम। सेयमुषाः दिविनभसि ऊर्ध्व उर्ध्वाभिमुखं पाजः तेजः अश्रेत् श्रयति। तथा रोचना रोनशीला रण्वसंध्य रमणीयदशना उषा प्र रूरूचे प्रकर्षेण दीप्यते। यद्धा रोचनालोकान्प्ररूरूचे प्रकर्वेण स्वतेजसा दीप्यति।

अर्थ- हे स्तुति करने वालो ! अपने सामने स्वच्छ रूप् से प्रकाशित होती हुई देवी उषा के प्रति तुम सब नमस्कार के साथ उत्तम सुन्दर स्तुति करो। मधु अर्थात् स्तुतियों को या सम को अथवा आदित्य को धारण करेने वाली यह उषा देवी द्युलोक में उर्ध्वाभिमुख होकर तेज या बल का आश्रय लेती है और रमणीय दर्शन वाली होती हुई प्रकाशित होने वाले लोको को अपने तेज से अतिशय रूप से प्रकाशित करती है।

व्याख्या- प्रस्तुत मंत्र में विश्वामित्र ऋषि सभी स्तुति करने वालों से यह कहते है कि हे स्तुति करने वालों आपके सामने जो स्वच्छ रूप् से भली-भाँति अच्छी प्रकार से प्रकाशित होती हुई उषा देवी को

तुम सभी नमस्कार करो तथा तुम सभी उत्तम तरीके से इनकी स्तुती करो। उषा देवी मधु तथा आदित्य को धारण करने वाली है। ये लोक को प्रकाशित करने वाली देवी है। द्युलोक में उर्ध्वाभिमुख तेज या बल का आश्रय (सहारा) लेती हो।

प्रस्तुत मंत्र में वः का दो बार प्रयोग हुआ है। यहाँ पर पहले व को द्वितीयान्त मानकर इसका सम्बन्ध देवी उषस् के साथ जोड़ा गया है। द्वितीय 'वः' में षष्ठी विभक्ति मानकर इसका सम्बन्ध 'नमसा' के साथ जोड़ा गया है। ग्रासमान, लुडविग और कोलबुक ने इसका सम्बन्ध 'सुवृक्तिम्' के साथ किया है। 'सुवृक्तिम्' का व्युत्पत्तिमूलक अर्थ साफ करना या काटना(Cleaning of Trimming) पीटर्सन ने माना है। इस प्रकार यहाँ अर्थ होगा- Cleaning and trimming of grass on which as on a small altar, the oblation, is offered |"अपने प्रकाश को फैलाती है'' ऐसा माना है।

व्याकरण-1. विभातीम्- विभाशतृङीप। द्वितीया विभक्ति एकवचन। यहाँ पर लोक में विभान्तीम् रूप भी बल सकता है।

2. भरध्वम्- भृ धातु (आत्मनेपद) लोट् लकार, मध्यम् पुरूष एकवचन

3. श्रोचना- रचपुन (अन) टाप्।

4. स्वृक्तिम्-सु पूर्वक 'वृजी वजर्ने धातु' धातु से 'किन' प्रत्यय।

5. अश्रेत- 'श्रिञ्' धातु, वर्तमान के अर्थ में लङ् लकार, प्रथम पुरूष, एकवचन (वैदिक रूप)

6. रूरूचे- रूच् धातु (आत्मनेपद) लिट् लकार, प्रथम पुरूष, एकवचन। लट् के अर्थ में लिट्

7. मधुधा- मधु दधाति अर्थ में मधु+ध+क्विप्।

8. रण्वसध्क्- रवि (एव्) $अच् =एवं। समध्श क्विय्=संहक् एवं संहक् यस्याः सा=एवसंहक्।

मूलपाठ

6. ऋतावरो दिनो अर्कैरबोध्या रेवती रोद्सी चित्रमस्थात्।
आयतीमग्न उषसं विभाति वाममेषि द्रविणं भिसमाणः।।

पदपाठ

ऋत्यडवरी। दिवः।अर्कै। अबोधि। आ।
रवती। रोदसी इति। चित्रम्। अस्थात।
आडयतीम्। अग्ने। उषसम्। विडभातीम्।
वामम् एषि। द्रविणम्। भिसमाणः।।6।।

अन्वय-ऋतावरी दिवः अर्कैः अबोधि रेवती रोदसी चित्रम् आ अस्थात्। अग्ने। आयतीम् विभातीम् उषसम् भिसमाणः वामम् द्रविणम् एषि।

सायण- ऋतावरी सत्यवती मेयमुषा दिवः द्यालोकादर्कैस्तेजोभिस्बोधि सर्वैर्ज्ञायते। ततो रेवती धनवती सेयं रोदसी द्यावापृथिव्यों चित्रं नानाविधरूपयुक्तं यथा आ$अस्थात् सर्वतो व्याप्य तिष्टति। हे अम्ने। आयती त्वदभिमुखमागच्छन्ती विभाती भासमानामुषसमुषोदेवी मिसमाणो हवींषि याच मानस्टवं वामं वननीयं प्रविणमग्निहोत्रादिलसणं धनमेषि प्राप्नोषि।

अर्थ-सत्य से युक्त अथवा सत्य नियमों का पालन कराने वाली उषा देवी द्युलोक से आने वाले अपने तेज पञ्ज से जानी जाती है। धन से युक्त होती हुई यह उषा द्युलोक और पृथिवी लोक को नाना प्रकार के रूपों से युक्त होकर व्याप्त करके स्थित होती है। हे अग्नि देवता अपनी ओर आती प्रकाश मान उषा देवी से हवि की याचना करते हुए तुम अभीष्ट या बॅाटने योग्य धन को प्राप्त करते हो।

व्याख्या-उषा देवी सत्य से परिपूर्ण है तथा इन्हे सत्य नियमों का पालन कराने वाली के रूप में जाना जाता है। नाना प्रकार रूपों से युक्त तथा धन से युक्त उषा द्युलोक और पृथ्वी लोक व्याप्त करके स्थित होती है। उषा की प्रशंसा करते हुए विश्वामित्र ऋषि अग्नि देव से कहते है कि हे अग्नि देव तुम अपनी ओर आती हुई प्रकाशमान देवी से हवि की याचना करते हुए तुम अभीष्ट या बॅाटने योग्य धन को प्रापत करते हो।

प्रस्तुत मंत्र में पीटर्सन ने इस मंत्र का अर्थ भिन्न प्रकार से बताया है- पवित्र उषा देवी आकाश से आने वाले गानों द्वारा जगाई गयी है। उसकी महिमा आकाश के ऊपर फैल रही है। हे अग्ने! चमकती हुई उषा आ रहीं है। तुम उसके पास जाओ और उससे वह धन माँगो जो अभीष्ट है। यहाँ पर छनद के आग्रह से 'अबोध्या' को 'अबोधि आ' पढ़ना चाहिये।

व्याकरण- 1. ऋतावरी -ऋतवृज (अ) टाप। 'त' के 'अ' को वैदिक दीर्ध अथवा ऋत्वनिन्ड़ीप्। ''वनो र च'' से 'न' को 'र' आदेश।

2. अबोधि, अस्थत्-बुध और स्था धातु, लुङ लकार, प्रथम पुरूष, एकवचन।

3. रेवती-रयि मतुप्ङीप् 'रयेर्मतौ छन्दसि ''सूत्र से 'य' को सम्प्रसारण पूर्वरूप और गुण होते है। 'मतुप्' के 'म्' को 'व' आदेश 'छन्दसीरः'' (पा0 8/2/15) से हुआ।

4. आयतीम्-आइण् गतौशतृङीप् 'इ' को 'य' आदेश।

5. विभातीय- विभाशतृङीप् = विभाति। द्वितीया का एकवचन

6. भिस्माणः-भिस् (शप्) (मुक्) शानच् (आन) = भिसमाण

मूलपाठ

7. ऋतस्य बुध्न उषसामिषण्यन्वृषा मही रोदसी आ विवेश।
मही मित्रस्य वरूणस्य माया चन्द्रेव भानु विदधे पुरूत्रा।।7।।

पदपाठ

ऋतस्य। बुहने। उषसाम्। इबण्यन।
वृषा। महीइति। रोदसी इति। आ। विवेश।
मही। मित्रस्य। वरूणस्य। माया।
चन्द्राऽइव। भानुम्। विदधे। पुरूत्रा ।।7।।

अन्वय-वृषा ऋतस्य बुध्ने उषसाम् इषण्यन मही रोदसी आ विवेश। मित्रस्य वरूणस्य मही माया चन्द्रा इव भानुम् पुस्त्रा विदधे।

सायण- वृषा वृष्टिद्वारा प्रेरक आदित्यः ऋतस्य अग्निहोत्रादिकर्मकरणसत्यभूतस्य अह्नः बुध्ने मूले

उषसाभिषण्यन प्रेरणं कुर्वन् मही महत्यौ रोदसी धावपृपिण्यौ आवा विवेष सर्वतः प्रविष्टवान। यद्धा वृषा वर्षिता इषण्यन सर्वतो गच्छन्नुषसां सम्बन्धी रश्मिसमूहः रोदसी धावपृथिव्यौ विष्टवानिति योजनीयम् ततः उषाः मही महती मित्रस्य वरूणस्य मित्रवरूणयोर्माया प्रभारूपा सती चनद्रेव सुवर्णानीव भानुं स्वप्रभां पुरात्रा बहुषु देशेषु विदधे विदधति सर्वत्र प्रसारयति।

अर्थ- वर्षा करने वाला सूर्य प्राकृतिक नियमों के अथवा अग्नि होत्र आदि नित्य नियमों के ज्ञापक सत्यभूत दिन के मूल में उषा को प्रेरित करता हुआ या उसको चाहता हुआ महान द्युलोक और पृथ्वी लोक में सब ओर से प्रविष्ट हो गया। मित्र देवता और वरूण देवता की महती माया अर्थात विचित्र शक्ति रूपा उषा देवी सुनहली कान्ति के समान स्वर्णिम सूर्य को अधिक स्थानो से प्रसारित करती है।

व्याख्या-प्रस्तुत मंत्र में 'ऋतस्य बुध्ने' की व्याख्या अनेक प्रकार से की गई है। इस विषय में सायण ने अर्थ किया है कि- अग्नि होत्र आदि कर्मो को करने में सत्यभूत दिन के मूल में। 'वृषा' को अर्थ वर्षा करने वाला सूर्य किया है किन्तु ऋतस्य बुध्न उषसा-मिषण्यन् वृषा का मैक्समूलर ने अर्थ किया है-

The hero in the depth of Heaven, yearning for the dawns, has entered the great sky and the earth.

प्रासमान ने 'रोदसी' का अर्थ पवित्र भूमि (Holy ground) और लुडविक ने यज्ञ भूमि की पवित्र भूमि (the ground of the haiy rite) किया है राध ने ऋग्वेद के 9/10/999 मंत्र में 'बुहन' का अर्थ 'मध्य और अन्त' किया है।

सूर्य जो वर्षा करने वाला है तथा प्राकृमिक नियमों के, दिन के मूल में उषा को प्रेरित करता है। यह विभिन्न शक्ति रूपा उषा ही सुनहली कान्ति वाले सूर्य को बहुत स्थानों पर प्रसारित करती है।

लुडविग ने 'उषसाम्' को प्राचीन और अप्रयुक्त कहकर इसमें तृतीया विभक्ति मानी है तथा विशेल ने इसे ,द्वतीयान्त माना है।

सायण के अनुसार 'महि मित्रस्य वरूणस्य माया' में उषा का वर्णन है, परन्तु ग्रासमान ने इसको सूर्य का विशेषण माना है।

व्याकरण-

1. ऋतस्य- ऋक्त = ऋत। षष्ठी एकवचन।
2. बुध्ने -बुधनङ्=बुध्न। सप्तमी विभक्ति का एकवचन
3. इषण्यन-इच्छति इति एषन । इषन्तमात्मानम् इच्छति अर्थ में निर्यातित 'इषण्य' धातु से शतृ प्रत्यय।
4 . वृषा वृष् कनिन् (अन्) = वृषन्।
5. विवेश- विश् धातु, लिटलकार, प्रथम पुरूष एकवचन।
6. दधे-धा धातु (आत्मनेपद), लिट्लकार, प्रथम पुरूष, एकवचन।
7. मही- महत् ङीप् ('अत' का वैदिक लोप)।

8. पुरूत्रा- 'पुर' शब्द से "देवमनुस्य पुरूष'' सूत्र से 'वा' प्रत्यय।

अभ्यास प्रश्न-2

1. सुवृक्तिम् का व्युत्तपत्तिमूलक अर्थ पीटर्सन ने माना है-

(i) साफ करना (ii) फेंकना

(iii) नमस्कार करना (iv) उपयुक्त सभी

2. "विभातीय'' की व्युत्पत्ति है-

(i) वि भा शतृ (ii) वि भा शतृ ङीप्

(iii) वी भा ङीप् (vi) वि शतृ भा

3. "विभातीय' किस विभक्ति एवं वचन का रूप है-

(i) प्रथमा एकवचन (ii) पंचमी बहुवचन

(iii) तृतीया एकवचन (iv) द्वितीया विभक्ति एकवचन

4. 'अश्रेत्' किस लकार एवं किस विभक्ति का रूप है-

(i) लङ् लकार प्रथम पुरूष एकवचन (ii) लोट्लकार मध्यमपुरूष एकवचन

(iii) लृट् लकार मध्यमपुरूष एकवचन (iv) उपर्युक्त में से कोई नही

5. ''विवेश'' शब्द किस लकार में बनता है-

(i) लिट् लकार (ii) लोट् लकार

(iii) लृट् लकार (iv) लड़् लकार

6. रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए -

क. अच्छा वो देवी मुषसं विभाती....................नमसा सुवृक्तिम्

ख. ऋतावरो दिवो अर्कैरबोध्या.....................................चित्रमस्थात्।

ग. यहीं मित्रस्य वरूणस्य ....भानुं विदधे पुरूत्रा

घ. पवित्र उषा देवी आकाश से आने वाले ....जगाई गयी है।

ड. उषा देवी ....विनाश करती है।

2.4. सारांश

वैदिक सूक्त से सम्बन्धित यह दूसरी इकाई है। इसके पूर्व की इकाई में आपने वैदिक देवता इन्द्र की विशेषताओ का अध्ययन किया है। प्रस्तुत इकाई में उषस् की स्तुति दृषि विश्वामित्र द्वारा की गयी है जिसमें उषा को अन्नधन से सम्पन्न सम्पूर्ण विश्व के द्वारा वरणीय एवं मरणधर्म से रहित सूर्य के ध्वज का बोध कराने वाली आकाश में स्थित बताया गया है। उषा सूर्य की पत्नी है। वह अपने तेज से स्वर्ग को सजीव बनाती है। द्युलोक से पृथ्वी तक इसका अन्तिम विस्तार है। रात्रि एवं उषा दो बहने है जो सम्पूर्ण कालावधि में कभी रूकने वाली नहीं होती। ये दोनो अबाध गति से चलती रहती है। अग्नि भी अपनी ओर आती हुयी उषा देवी से हवि की याचना करता है जो सबको व्याप्त कर स्थित रहती हैं। सूर्य भी जो प्राकृतिक नियमों के पालन के मूल में उषा को प्रेरित करता है। उषा मित्र और

वरूण की विचित्र शक्ति रूपा देवी है। इस इकाई के अध्ययन से आप उषस् की समस्त विशेषताओं का ज्ञान पाकर उसके स्वरूप का उल्लेख कर सकेगें।

2.5. पारिभाषिक शब्दावली

1. वाजेन वाजिनि- मैक्समूलर ने इसका अर्थ ''wealthy wealth are boaty '' माना है।
2. पुरंधि- बहुत अधिक शक्तिशाली
3. विभाहि- विशेष रूप से शोभायमान
4. सुयमासः- सुखपूर्वक रथ में जोते जा सकने वाले अथवा अच्छी प्रकार से नियंत्रित।
5. प्रतीची- सम्मुख जाती हुई।
6. चरपीयमाना- विचरण करती हुई।
7. अववृत्स्व- पुनः-पुनः घूमती रहो।
8. नण्यसि- सदा नवीन रहने वाली।
9. अवचिन्वती- आच्छादित करने वाले अन्धकार का विनाश करती हुई।
10. सुभगा- सुन्दर धनों वाली
11. अन्तात- द्युलोक लोक के अन्तिम किनारे से
12. अपप्रथे- फैल जाता है।
13. स्युमैव- वस्त्र के समान।

14 स्वसरस्य- सूर्य की अथवा दिन की।

15. विभातीम्- प्रकाशित करती हुई

16 प्रभरध्वम्- करो

17. प्रस्रूपे- अतिशय रूप प्रकाशित करती है।
18. रेवती- छन्दासि'' सूत्र से''य' को सम्प्रसारण, पूर्वरूप और गुण होते है। यहाँ पर 'मतुप्' के 'म्' 'व' आदेश 'छन्दसीरा' सूत्र से हुआ। रेवती का अर्थ धन से मुक्त होता है।
19. इषण्यन्- प्रेरित करता हुआ, चाहता हुआ।
20. आविवेश- सभी ओर से प्रविष्ट हो गया है।

2.6. अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

अभ्यास प्रश्न-1

1.(iii) विश्वामित्र 2. (i) त्रिष्टुप्

3. (iii) तृतीय 4. (iv) षष्ठी एक वचन

5. (iv) सम्बोधन एक वचन

6. (क) स्तोमं जषस्व (ख) अश्वा हिरण्यवर्गो

(ग) चक्रमिव (घ) पृथुपाजसः

(ड़) पुराणी भवतिः (च) रात्रि

(छ) वस्त्र (ज) HYMEN

अभ्यास प्रश्न-2

1. (i) साफ करना 2. (ii) वि भा शतृ ड़ीप्

3. (iv) द्वितीया विभक्ति एकवचन

4. (i) लड़्लकार मध्यम् पुरूष एकवचन

5. (i) लिट्लकार

6. (क) प्र वो भरध्वं (ख) रेवती रोदसी

(ग) माया चन्द्रेव (घ) गानों द्वारा

(ङ) उषा देवी अन्धकार का विनाश करती है

2.7. सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. डॉ0 हरिदत्त शास्त्री, डॉ0 कृष्ण कुमार-ऋक्सूक्त् संग्रह साहित्य भण्डार, शिक्षा साहित्य प्रकाशन सुभाष बाजार, मेरठ

2. वेदचयनम्- डॉ0 विश्वम्भर नाथ त्रिपाठी प्रयाग पब्लिकेशन, इलाहाबाद

2.8. सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री

1 वैदिक सूक्त संकलन-डॉ0 उमेश चन्द्र पाण्डेय प्राच्य भारती प्रकशन गोरखपुर

2. वेदचयनम्-डॉ0 विश्वम्भर नाथ त्रिपाठी प्रयाग पब्लिकेश्न, इलाहाबाद

2.9. निबन्धात्मक प्रश्न

- उषस् के स्वरूप् का वर्णन कीजिए?
  अधोलिखित मंत्रो की ससन्दर्भ व्याख्या कीजिए ?
- उषो वाजेन वाजिनिप्रचेतः स्तोमं जुषस्व गृणतो मघोनि ।
- पुराणी देवि युवतिः पुरंधिरनु व्रतं चरसि विश्ववारे ।।
- उषः प्रतीची भुवनानि विश्वोर्ध्वा तिष्ठस्यमृतस्य केतुः ।
- समानमर्थं चरणीयमाना चक्रमिव नव्यस्या ववृत्स्य ।।
- उषस् सूक्त का सारांश अपने शब्दों में लिखिए?
- उषा की विशेषताओं का उदाहरण सहित वर्णन कीजिए?

इकाई. 3 नासदीय सूक्त

इकाई की रूप रेखा

3.1 प्रस्तावना
3.2 उद्देश्य
3.3 मन्त्र संख्या 1 - 4 तक संहिता पाठ, पद पाठ (अन्वय व्याख्या)
3.4 मंत्र संख्या 5 -7 तक संहिता पाठ पद पाठ व्याख्या
3.5 सारांश
3.6 शब्दा वली
3.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
3.8 संदर्भ ग्रन्थ सूची
3.9 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री
3.10 निबन्धात्मक प्रश्न

3.1 प्रस्तावना

वैदिक सूक्तों के अध्ययन से सम्बन्धित इकाई है। इसके पूर्व की इकाइयों में आपने इन्द्र तथा उषस् के स्वरूप एवं कार्यो का विस्तृत अध्ययन किया है। प्रस्तुत इकाई में नासदीय सूक्त का वर्णन आपके अध्ययनार्थ प्रस्तुत है।

नासदीय सूक्त के अन्तर्गत देवता सृष्टि, सृष्टि के कर्ता, स्थिति एवं प्रलय के विषय में अत्यन्त गूढ़ विवेचन किया गया है । इस सूक्त के ऋषि परमेष्ठी प्रजापति तथा देवता परमात्मा हैं। नासदीय सूक्त की अपनी एक अलग दार्शनिक महत्ता है ।

प्रस्तुत इकाई के अध्ययन से आप सृष्टि की प्रलयावस्था में जगत की स्थिति आदि की जानकारी प्राप्त कर यह बता सकेंगे कि विविध प्रकार की सृष्टि कैसे हुई ।

3.2 उद्देश्य

प्र्रलय की अवस्था में संसार की क्या स्थिति होती है? कौन सबसे पहले उत्पन्न हुआ? काम की उत्पत्ति किस प्रकार हुयी आदि-आदि तथ्यों का बोध कराना ही इस इकाई का उद्देश्य है। प्रस्तुत इकाई के अध्ययन से आप बता सकेंगे कि-

- सृष्टि के पूर्व के की स्थिति क्या थी ?
- रात्रि तथा दिन की स्थिति क्या थी ?
- सम्पूर्ण जगत् जलमय रूप में किस प्रकार था ?
- काम की उत्पत्ति सर्वप्रथम कैसे हुयी ?
- विविध प्रकार की सृष्टि का उपादान कारण क्या है ?
- विभिन्न रूपों वाली सृष्टि का निमित्त कारण क्या है ?

3.3 मन्त्र संख्या 1-4 तक संहिता पाठ, पद पाठ (अन्वय व्याख्या)

सूक्त - 129 मण्डल-10, ऋषि-परमेष्ठी प्रजापति देवता-सृष्टि-स्थिति-प्रलय-कर्ता परमात्मा छनद-त्रिष्टुप्

संहिता पाठ

। । ।

नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं नासीद्रजो नो व्योमा परोंयत्

। । । ।

किमावरीव: कुह कस्य शर्मन्नम्भ: किमासीद्गहनं गभीरम् ।।1।।

पद पाठ

| |
न । असत् । आसीत । नो इति । सत् ।
| | | |
आसीत । तदानीम् । ना । आसीत् । रजः । नो इति । विऽओम । पुरः । यत् । किम् ।
| | | | | |
आ अवरीवरिति कुह । कस्य। शर्मन्। अम्भः। किम् । आसीत् । गहनम् । गभीरम् ।।1।।

अन्वय-तदानीम् असत् न आसीत् सत् नो आसीत् राजः न आसीत् व्योम नो यत् परः। किम् आवरीवः कुछ कस्य शर्मन् गहनम् गभीरम् अम्भः किम् आसीत् **।।1।।**

व्याख्या- सृष्टि से पूर्व प्रलय के समय असत् अर्थात् अभावात्मक तत्व नहीं था सत् तत्व भी नहीं था। पृथ्वी से लेकर पाताल पर्यन्त रजः तत्व भी नहीं था । पृथ्वी से लेकर पाताल पर्यन्त रजः तत्व भी नहीं थे अन्तरिक्ष नहीं था और उस अन्तरिक्ष से परे भी कुछ नहीं था । पुनः आवरण करने वाला तत्व क्या था? वह आवरण कहाँ और किसकी सुरक्षा में था ? वह आवरण कहाँ और किसकी सुरक्षा में था? उस समय दुष्प्रवेश और अत्यधिक गहरा जल क्या था ? अर्थात् ये सब नहीं थे **।।1।।**

शब्दार्थ- तदानीं- उस समय, असत्- अभावात्मक तत्व आसीत- नहीं था, सत्-सत्तात्मक, नो नहीं था, रज-पृथ्वी से लेकर पाताल पर्यन्त लोक न आसीत् नहीं था व्योम नो-अन्तरिक्ष नहीं था, रज- यत् परः-उससे भी परे, किम् आवरीव-आवरण करने वाला तत्व क्या था, कुछ कस्य कहाँ किसकी, शर्मन्-सुरक्षा में, गहनम्-दुष्प्रवेश से, गम्भीरम्-अत्यधिक गहरा, अम्भः जल, किम् आसीत्-क्या था ।

संस्कृत- प्रलयकाले अभावात्मंक तत्वं नाभूत् भावात्मकं पृथिव्यन्ता लोकाः न आसीत् अंतरिक्षं नासीत् । तत्परं किमपि नासीत् आवरणीयं तत्वम् कृत्र कस्य जीवस्य शर्माणि दुष्प्रवेशं अत्यगाधम् - सलिलं किम् आसीत्

व्याकरणगत टिप्पणी- असत्-नसत् सत्-अस्तीति सत्-अस शतृ यहाँ अकार का लोप हो जाता है। कुछ-किमह किम् को कु आदेश । आवरीवः- आवृणोति इति आवरणों व आवरीः। औणादिक ई प्रत्यय, आवृई-आवरी, मतुप् के अर्थ में व प्रत्यय होकर आवरीव बनता है । अथवा आ$वृ (यड़्लृगन्त) लङ् प्र0पु0 एक वचन का वैदिक रूप । मैक्डानल आवरीवः का अर्थ अपने अन्दर किसे रखता था । (What did it contain) अर्थ करते हैं, जबकि सायण आवरण करने वाला तत्व यह अर्थ करते हैं । यहां त्रिष्टुप छन्द है।

संहितापाठ

। ।

न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि न रात्र्या अह्न आसीत्प्रकेतः।

। ।

आनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद्धान्यन्नपरः किं च नास ।।2।।

पद पाठ

। । ।

न । मृत्युः । आसीत् । अमृतम् । न । तर्हि । न । रात्र्यः।

। ।

अह्नः। असीत् । प्रडकेतः। आनीत्। अवातम् । स्वधया ।

। ।

तत् । एकम् । तस्मात् । ह । अन्यत् । न । परः।

किम् । चन् । आस् **।।2।।**

अन्वय- तर्हि मृत्युः न आसीत् न अमृतम् रात्र्याः अह्नः प्रकेतः न आसीत् तत् आनीत् अवातम् स्वधया एकम्। ह तस्मात् अन्यत् किन्चन् न आस न परः ।।2।।

व्याख्या- उस समय, अर्थात् प्रलय काल में मृत्यु नहीं, अभाव नहीं था, रात्रि और दिन का ज्ञान भी नहीं था। वह ब्रह्मतत्व प्राण से युक्त क्रिया से शून्य और माया के साथ अविभक्त अर्थात् बिना अलग हुए, एक रूप से विद्यमान था। उससे भिन्न कुछ थी नहीं था और उससे परे भी कुछ नहीं था ।।2।।

शब्दार्थ -तर्हि- उस समय, मृतयु न आसीत् मृत्यु नहीं थी न अमृतम नहीं था रात्र्याः रात्रि का अह्नः - दिन का प्रकेतः ज्ञान, न आसीत् नहीं था आनीत्- प्राण से युक्त अवातम्- क्रिया से शून्य स्वधया- माया से, एकम्-एक रूप में था,

ह-निश्चय ही, अस्मात्-उससे, अन्यतः भिन्न किन्चन-कुछ, न आस नहीं था, न परः-न उससे परे कुछ था।

संस्कृत- तदानीं मरणं न। भूत्, न अमरणमपि निशायाः दिवसस्य ज्ञानं नाभूत् ब्रह्मतत्वमेव प्राणिवत् क्रियाशून्यं मायाया ब्रह्म एकमेव ब्रह्म आसीत्, निश्चयेन् ब्रह्मतत्वात् भिन्नं किन्चन न बभूव, न तस्मात् परस्तात् किमपि आसीह् ।।

व्याकरणगत टिप्पणी- मृत्यु- मृव्युक् प्रत्यय प्रकेतः -प्रकित् ज्ञाने घञ् प्रत्यय। आनीत्-अन्लृड़ प्र0 पु0 एक वचन मैक्डानल आनीत् का अर्थ श्वास लेने वाला (one breathed) अवात् का अर्थ वायु से रहित (windless),स्वधया का अर्थ अपनी शक्ति से (By its awon power)अर्थ करते हैं जबकि सायण इनका अर्थ क्रमशः प्राण से युक्त, क्रिया से शून्य और माया से करते हैं।

संहिता पाठ

। । । ।

तम आसत्तिमसा गूढमग्रेडप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम् ।

। । ।

तुच्छयेनाभ्वपिहितं यदासीत्तपसस्तन्महिनाजायतैकम् ।।3।।

पदपाठ

। । ।

तमः आसीत् तमसा । गूलहम् । अग्रे । अप्रऽकेतम् ।

। ।

सलिलम् सर्वम् । आः। इदम् । तुच्छयेन । भु ।

। । ।

अपिंऽहितम् । यत् । आसीत् । तपसः । तत्।

महिना । अजायत् । एकम् ।।3।।

अन्वय- अग्रे तमसा गूढ़म् तमः आसीत्। अप्रकेतम् इदम् सर्वम् सलिलम् आः। यत् आभु तुच्छयेन अपिहितम् आसीत् तत् एकम् तपसः महिना अजायत् ।।3 ।।

व्याख्या- सृष्टि से पूर्व प्रलयावस्या में यह जगत् अंधकार से आच्छादित अपने तमस् रूप मूलकारण में विद्यमान था । अज्ञायमान यह सम्पूर्ण जगत् सलिल रूप में था, उस समय कार्य और कारण दोनों एक रूप में थे । जो यह जगत् व्यापक एवं तुच्छ अभाव रूप अज्ञान से आच्छादित था तो वह कारण के साथ एकीभूत हुआ । जगत् ईश्वर के संकल्प रूप तप की महिमा के द्वारा उत्पन्न हुआ ।

शब्दार्थ- अग्रे-सृष्टि से पूर्व, तमसा- अंकार से गूढ़म् आच्छादित, तमः-तमस रूप, अप्रकेतम्-आज्ञायमान, इदं-यह, सर्वमं सब सलिलं -जल रूप में आः था, यत् जो आभु- व्यापक, तुच्छादित, एकम् एकीभूत हुआ (एक रूप हुआ), तपसः- तप की महिना- महिमा से, अजायत-उत्पन्न हुआ ।
संस्कृत-सृष्टेः प्राक्, अन्धकारेण समावृतं भाव-रूपाज्ञनम् अभूत् अप्रज्ञायमानम् एतत् सर्वम् जलम आसीत् तत् एकीकृतं संकल्प-यपतपसः महिना उत्पन्नभूत ।।3।।

व्याकरणगतटिप्पणी- गूढ़म्- गुहक्त प्रत्यय अप्रकेतम्- न प्रकेतम् । **प्रकेत**- प्रकित्द्यय् प्रत्यय सलिलम् । सल् गतौ धातु से इलच् प्रत्यय । अविहितम्-अपि उपसर्ग पूर्वक धा धातु क्त प्रत्यय । अजायत्- जन् धातु लड़् लकार प्र0 पु0 एक वचन। मैक्डानल- आः इदम् का अर्थ अस्तित्व में आने वाला (coming into being),तपसः महिना का अर्थ गर्मी की शक्ति से (Through the power of heat) करते हैं । जबकि सायण इसका अर्थ संकल्प रूप की महिमा से' करते हैं ।

संहिता पाठ

काम । तत् । अग्रे । सम् । अवर्तत। अधि । मनसः । रेतः । प्रथमम् । यत् । आसीत् ।

सतः । बन्धुम् असति । निः । अविन्दन् । हृदि । प्रतिडइष्य । कवयः । मनीषा । ।।4।।

अन्वय- अग्रे तत् कामः सम् अवर्तत यत् मनसः अधि प्रथमम् रेतः आसीत्। सतः बन्धुम् कवयः मनीषा हृदि आसति निरविन्दन् ।।

व्याख्या- सृष्टि के समय सर्वप्रथम वह काम उत्पन्न हुआ, अर्थात् सृष्टि उत्पन्न करने की इच्छा, उत्पन्न हुई । जो परमेश्वर के मन में सबसे पहला सृष्टि का बीज रूप् कारण हुआ । स्तित्व रूप से स्थित जगत् के बन्धन के कारण को क्रांतदर्शी ऋषियों ने अपनी बुद्धि से हृदय में विचार कर अभाव (अर्थात् भाव से विलक्षण) में उसे प्राप्त किया ।

शब्दार्थ- अग्रे सृष्टि के समय, कामः -काम सम् अवर्तत-उत्पन्न हुआ, मनसः अधिमन में प्रथमम् सबसे पहला, रेतः- सृष्टि का बीज रूप धारण, सतः अस्तित्व रूप से विद्यमान् जगत के , बन्धुम-बन्धन के कारण को कवयः -क्रान्तदर्शी ऋषियों ने, मनीषा-बुद्धि से हृदि -हृदय में, प्रतीष्य-विचार कर, असीत-अभाव में निरविन्दन् खोज कर पाया।

संस्कृत - प्राक् तत् इच्छा समजायत यत् अंतः करण सम्बन्धि अधि प्रथमं बीजभूतम् अभूत् सत्तव जगतः बंधनहेतुकं क्रान्तदर्शिनः धिया विचार्य अभावे अलभन्त।

व्याकरण टिप्पणी- कामः- कमघञ् प्रत्यय, प्रथमा, एक वचन अवर्तत-√वृत् धातु लड़्लकार प्र0 पु0 एक वचन रेतः रीअसुन तृट् आगम। प्रतीष्य-प्रतिइष् क्त्वाल्यप्। निरविंदन-निर् विदलृ धातु लड़्लकार प्र0 पु0 बहुवचन मैक्डानल -रेतस् का अर्थ से साम्य रखता है।

अभ्यास प्रश्न-1

निम्नलिखित बहुविकल्पीय प्रश्नों के उत्तर दीजिए।

1. सृष्टि के समय सर्वप्रथम क्या उत्पन्न हुआ।
   - क. सृष्टि करने वाला
   - ख. सृष्टि उत्पन्न करने की इच्छा
   - ग. जल
   - घ. इनमें से कोई नहीं।
2. 'प्रतीष्य' की व्याकरणिक व्याख्या है-
   - क. प्रतिइष्क्त्वतयप्
   - ख. प्रतिइष्कत्वातयप
   - ग. प्रतिइषक्त्वाजपय
   - घ. प्रतिइष्क्त्वात्यप
3. नासदीय सूक्त के ऋषि हैं-
   - क. गृत्दसमद
   - ख. विश्वामित्र
   - ग. प्रजापति
   - घ. परमेष्ठी प्रजापति

4. 'आवरीव' का अर्थ है-

क. आवरण ख. आवरण करने वाला तत्व

ग. आवरण से युक्त घ. आवरण से विमुक्त

5. 'तपसः महिना' का अर्थ 'संकल्प रूप की महिमा' किसने किया?

क. मैक्सम्ल ख. मैक्डानल

ग. सायण घ. शंकराचार्य

ख. निम्नलिखित रिक्त स्थानों की पूर्ति करें

1. हृदि प्रतीष्या......................मनीष। (कवयो)

2. अपि............................क्त। (धा)

3. मैक्डानल रेतस का अर्थ.......................करते हैं (बीज)

4. 'अवातम्' का अर्थ वायु से रहित.................................ने किया। (मैक्डानल)

5. बुद्धि से...................में विचार कर...........................में उसे प्राप्त किया। (हृदय, अभाव)

3.4 मन्त्र सं0 5-7 तक (संहितपाठ,पदपाठ ,व्याख्या)

संहिता पाठ

। । । ।

तिरश्चीनो विततो रश्मिरेषामधः स्विदासी ३दुपरि स्विदासी ३त्।

। । ।

रेतोधा आसन्महिमान आसन्त्स्वधा अवस्तात्प्रयतिः परस्तात्।।5।।

। । ।

पदपाठ

। ।

तिरश्चीनः। विडततः । रश्मिः । एषाम्

।

अधः । स्तित् । आसीत ३त् । उपरि । स्वित् ।

।

आसीत3त् । रेतःऽधा । आसन् । महिमानः

। । ।

आसन् । स्वधा । अवस्तात् । प्रऽयतिः। परस्तात् ।

अन्वय- एषाम् रश्मिः विततः तिरश्चीनः अधः स्त् आसीत् उपरि स्वित् आसीत? रेतोधाः आसन् महिमानः आसन् स्वन्धा अवस्तात् प्रयतिः परस्तात् ।।5।।

व्याख्या-अविधा, संकल्प तथा सृष्टि का बीज रूप ये तीनों कारण सूर्य की किरणों के तुल्य अत्यधिक व्यापकता युक्त अतिविस्तृत थे। क्या यह सब पहले तिरछा था ? क्या नीचे विद्यमान था ? अथवा क्या ऊपर विद्यमान था अर्थात् वह सब स्थानों पर समान भाव से उत्पन्न हुआ था। इस उत्पन्न जगत् में कुछ पदार्थ बीज रूप कर्म कों धारण करने वाले जीवरूप में प्रकृति रूप में थें। इस नियमित करने वाले भोग्य सृष्टि में भोग्य पदार्थ समझे जाते है, और नियमित करने वाले भोक्ता पदार्थ उत्कृष्ट माने जाते हैं **।।5।।**

शब्दार्थ- एषाम् इन तीनों कारणों का रश्मिः सूर्य की किरणों के समान व्यापकता रूप कार्य वर्ग, विततः-विस्तृत- तिरश्चीनः तिरछा था अधः स्वित्- क्या वह नीचे, उपरि स्वित्-क्या वह उपर, रेतोधाःबीजरूप कर्म को धारण करने वाले, आसन थें, महिमानः-आकाशादि महान् रूप में प्रकृति रूप, स्वधा भोग्य पदार्थ, अद्यसतात्-निकृष्ट, प्रयतिः-भोक्ता, परस्तान-उत्कृष्ट।

संस्कृत-अविधा कामकर्मणं व्यापकता रूप् कार्य वगः विस्तृतः तिरश्चां किं वा अधस्तात् किमु आसीत् उपरिष्टात् किं वा आसीत् बीजरूपकर्मविधातारः आसन् आकाशादयो महान्तः आसन् भोग्यपदार्थाः निकृष्टः भोक्ता च उत्कृष्टः आसीत् !!5!!

व्याकरणगत टिप्पणी- तिरश्चीनः-तिरस्अन्चख (ईन) विततः-वितन्क्त प्रयति-प्रयम्क्तिन्। रेतोधाः-रेतस्क्विय्। महिमानः-महत् इमनिच् प्र0ब0व0 स्वधा - स्व - धा अ टाप्। मैक्डानल तिरश्चीनः का अर्थ 'आर पार (across) करते हैं जबकि सायण 'तिरछा' अर्थ करते हैं। इसी प्रकार मैक्डानल विततः का अर्थ 'फैला हुआ था' (was extended) करते हैं सायण भी विस्तृत अर्थ करते हैं। मैक्डानल इस मन्त्र का अर्थ इस प्रकार करते है There cord was there above? There was impregnators there was powers there was energy below, There was impulse above.

संहिता पाठ

। । । । ।

को अद्धा वेद क इह प्रवोचत्कुत आजाता कुतं इयं विसृष्टिः।

। ।। ।

अर्वाग्देवा अस्य विसर्जनेनाथा को वेद यत आबभूव ।।6।।

पदपाठ

कः। अद्धा। वेद। कः। इह। प्र। वोचत्।

। ।। ।

कुतः। आऽजाता। कुतः। इयम्। विऽसृष्टिः।

। ।

अर्वाक्। देवाः। अस्य। विऽसर्जनेन।

। । ।

अथ। कः। वेद। यतः। आऽबभूव **।।6।।**

अन्वय-कः अद्धा वेद, कः इह प्र वोचत् इयम् विसृष्टिः कुतः कुतः आ जाता। देवाः अस्य विसर्जनेन अर्वाक्। अथ कः वेद यतः आ बभूव ।।6 ।।

व्याख्या- कौन इस विषय को वास्तविक रूप से जानता है, और कौन लोक में यह बतला सकता है, कि यह विविध प्रकार की सृष्टि किस उपादान कारण से और किस निमित्त कारण से सब ओर उत्पन्न हुई है। देवता भी इस विविध प्रकार की सृष्टि के उत्पन्न होने के बाद के हैं, अतः वे भी नहीं बतला सकते। इस लिए कौन जानता है, जिस कारण से यह समस्त संसार उत्पन्न हुआ है।

शब्दार्थ- कः कौन, अद्धा, वास्तविक रूप से वेद-जानता है, कः कौन इह-इसलोक में प्रवोचत्-बतला सकता है, विसृष्टि-विविध प्रकार की सृष्टि कुतः-किस उपादान कारण से कुतः किस निमित्त कारण से आ जाता- उत्पन्न हुई देवाः देवता भी, विसर्जनेन-सृष्टि के उत्पन्न होने से, आबभूव-उत्पन्न हुआ है।

संस्कृत -पुरूषः वास्तविक रूपेण जामति कः अस्मिन् लोके प्रवक्तुं शक्नुयात् दृश्यमाना विविधा सृष्टि कस्मादुपादान, कस्मान्नि कारणाच्च समन्तात् प्रादुर्भूता। देवताः सृष्टेः विविधपृष्ट्या अर्वाचीनाः कृताः एवं सति कः जानाति यस्मात् समाजायत ।। 6 ।।

व्याकरणगत टिप्पणी- वेद √विद् लट् प्र0 पु0 एकवचन, विसृष्टिः विसृज् क्तिन्। जाता-जन्क्तटाप। दिवाः दिवअच् प्रथमा बहुवचन विसर्जनेन विसृजल्युट् तृतीया एकवचन। प्रस्तुत मंत्र में यह बतलाया गया है कि देवताओं की उत्पत्ति भी बाद की है, अतः इस सृष्टि के विषय में कोई भी मनुष्य बतलाने में असमर्थ है।

संहिता पाठ

| | |

इयं विसृष्टिर्यत आबभूव यदि वा दधे यदि वा न। यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमन् सो आड़ग वेद यदि वा न वेदे ।।7।।

पदपाठ

| | |

इयम्। विऽसृष्टि। यतः आऽबभूव।

| |

यदि। वा। दधे। यदि। वा। न।

| |

यः। अस्य। अधिऽयक्षः। परमे। विऽओमन्।

|

सः। अङग। वेद। यदि। वा। न। । वेद **।।7।।**

अन्वय- इयम् विसृष्टिः यतः आबभूव यदि वा दधे यदि वा न। अस्य यः अध्यक्षः परमे व्योमन् अड़्ग

सः वेद यदि वा न वेद।

व्याख्या- यह विविध प्रकार की सृष्टि जिस उपादान और निमित्त कारणों से उत्पन्न हुई है। वह कारण ही इस सृष्टि को धारण किए हुए है, अर्थात् ईश्वर ही सृष्टि को धारण किस हुए है उसके अतिरिक्त अन्य कोई धारण नहीं हुए है। इस सृष्टि का स्वामी उत्कृष्ट सत्य रूप आकाश के समान अपने प्रकाश या आनन्द स्वरूप् में प्रतिष्ठित है, हे प्रिय श्रोताओं। वह परमात्मा ही उसको जानता है, उसके अतिरिक्त इसे कोई नहीं जानता है ।।7।।

शब्दार्थ- इयम्-यह विसृष्टि-विविधि प्रकार की सृष्टि, यतः जिससे आबभूव उत्पन्न हुई यदि वा-अथवा दधे-धारण किए हुए है, यदि वा न-अथवा नहीं अध्यक्षः स्वामी परमे व्योमन्-उत्कृष्ट सत्यरूप आकाश के समान अपने प्रकाश में या स्वरूप में, अङ्ग-प्रिय श्रोताओं, सः वह, वेद-जानता है, वा न वेद-अथवा नहीं जानता है।

संस्कृत-एषाः विविधा सृष्टिः यस्मात् संजाता यदि वा चारयति यदि वा न। जगतः प्रसिद्ध ईश्वरः उत्कृष्टे सत्यरूपे आकाशवत् स्वप्रकाशे। प्रियश्रोतारः सः जानाति अथवा न जानाति। सर्वज्ञः सर्वासाक्षी परमेश्वरः एव तां जानाति।

व्याकरणगत टिप्पणी- विसृष्टिः विसृजक्तिन् आबभूव-आ उपसर्ग पूर्वक √भू-धातु लिट्लकार प्र0पु0 एक वचन। दधे √धा धातु लिट्लकार प्र0पु0 एकवचन। मैक्डानल ’दधे’ का अर्थ निर्मित किया था (Founded) करते हैं जबकि सायण इसका अर्थ ’धारयति’ करते है। ’परमेव्योमन का अर्थ मैक्डानल’ उच्चतम अन्तरिक्ष में करते है, (in the highest heaven) जबकि सायण ’उत्कृष्ट-सत्यरूप आकाश के सदृश अपने प्रकाश में या स्वरूप में यह अर्थ करते है। मैक्डानल 'अध्यक्षः का अर्थ ’ खोजने वाला ; (Surveyor) करते है जबकि सायण इसका अर्थ ’अध्यक्ष’ करते है।

अभ्यास प्रश्न -2

क. निम्नलिखित बहुविकल्पीय प्रश्नों के उत्तर दीजिए।

1. विसृजक्तिन् यह किस की व्याकरणिक व्याख्या है?

क. विसृजन ख. विश्रुत

ग. विसृष्टि घ. विश्रवण

2. प्रस्तुत नासदीय सूक्त गृहीत है-

क. ऋग्वेद 10 मण्डल ख. ऋग्वेद 02 मण्डल

ग. ऋग्वेद 03 मण्डल घ. ऋग्वेद 04 मण्डल

3. महिमानः की व्याकरणिक व्याख्या होगी-

क. महत्क्तिन् ख. महत् इमनीच्

ग. महत्इ मनिच घ. महत् इमनिच्

4. विततः का अर्थ 'फैला हुआ था' किसने किया है?

क. सायण ख. मैक्डानल

ग. मैक्समूलर घ. कीथ

5. इस सूक्त का देवता है-

क. नासद ख. सृष्टि-स्थिति-प्रलय-कर्ता

ग. नारद घ. विष्णु

ख. निम्नलिखित रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए।

1. वह कारण ही इस............................को किए हुए है। (सृष्टि)

2. एषाम् रश्मिः ....तिरश्चनि........................स्वित् आसीत। (विततः, अधड़)

3. मैक्डानल तिरश्चीन का अर्थ...................करते हैं। (आर-पार)

4. सायण देधे का अर्थ ....करते हैं। (धारयति)

5. देवता भी इस सृष्टि के ....के हैं। (वाद)

3.5. सारांश

इस इकाई के अध्ययन से आप ने जाना की प्रलय की स्थिति में असत् और सत् तत्व नहीं थे। रज और अन्तरिक्ष से परे भी कुछ नहीं था । अतः समग्र जलमय था । प्रलय काल में मृत्यु भी नहीं थी दिन और रात का ज्ञान नहीं था एक रूपता से ब्रह्म तत्व ही विद्यमान था । सृष्टि के पूर्व यह जगत् अंधकार से आच्छादित होकर मूल कारण तमस् में विद्यमान था । जगत् की उत्पत्ति ईश्वर के संकल्प मात्र से हुयी । सर्वप्रथम सृष्टि उत्पन्न करने की इच्छा से उत्पन्न हुआ जो परमेश्वर के मन में सबसे पहला कारण था । विविध प्रकार की सृष्टि का उपादान और निमित्त कारण क्या है, इसे कोई नहीं बता सकता । नासदीय सूक्त की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसके अनुसार देवताओं की उत्पत्ति भी बाद में हुयी । अतः इस इकाई के अध्ययन से आप नासदीय सूक्त की दार्शनकिता से पूर्ण परिचित हो सकेंगे ।

3.6 पारिभाषिक शब्दावली

1. -तिरश्चीनः-तिरस्अन्चख (ईन) विततः-वितन्क्त प्रयति-प्रयम्क्तिन्। रेतोधाः-रेतस्क्विय्।

2. विसृष्टि-विविध प्रकार की सृष्टि कुतः-किस उपादान कारण से कुतः किस निमित्त कारण से आ जाता- उत्पन्न हुई देवाः देवता भी, विसर्जनेन-सृष्टि के उत्पन्न होने से, आबभूव-उत्पन्न हुआ है ।

3.7. अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

क. 1-ख, 2-क, 3-घ, 4-ख, 5-ग

ख. 1-कवयो, 2-धा, 3-बीज (Seed)

अभ्यास प्रश्न-2

क. 1-ग, 2-क, 3-घ, 4-ख, 5-ख

ख. 1-सृष्टि, 2-विततः, अधः, 3-आरपार, 4- धारयति, 5-बाद।

3.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. डॉ0 हरिदत्त शास्त्री, डॉ0 कृष्ण कुमार-ऋक् सूक्त संग्रह साहित्य भण्डार, शिक्षा साहित्य प्रकाशन सुभाष बाजार, मेरठ

2. वेदचयनम्- डॉ0 विश्वम्भर नाथ त्रिपाठी प्रयाग पब्लिकेशन, इलाहाबाद

3.9 सहायक / उपयोगी पुस्तकें

1. वैदिक सूक्त संकलन- डॉ0 उमेश चन्द्र पाण्डेय प्राच्य भारती प्रकाशन गोरखपुर

2. वेदचयनम्- डॉ0 विश्वम्भर नाथ त्रिपाठी प्रयाग पब्लिकेशन, इलाहाबाद

3.10 निबन्धात्मक प्रश्न

1. नासदीय सूक्त का सारांश अपने शब्दों में लिखिए।
2. नासदीय सूक्त का महत्व लिखिए।
3. नासदीय सूक्त पर एक निबन्ध लिखिए।

इकाई : 4 सामनस्य सूक्त की व्याख्या 3/30

इकाई की रूपरेखा

4.1 प्रस्तावना
4.2 उद्देश्य
4.3 सामनस्य सूक्त की व्याख्या
4.4 सारांश
4.5 शब्दावली
4.6 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
4.7 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
4.8 उपयोगी पुस्तकें
4.9 निबन्धात्मक प्रश्न

4.1 प्रस्तावना

वैदिक साहित्य में सामनस्य सूक्त से सम्बन्धित यह चौथी इकाई है इस इकाई में मनुष्य के व्यवहार के बारे में सम्यग् रूप से चर्चा की गयी है। जिस प्रकार गाय अपने बछडे से निःस्वार्थ भाव से प्रेम करती है तथा समय आने पर उसकी रक्षा के लिए अपना प्राण भी त्याग देती है इसी प्रकार मनुष्य को भी निःस्वार्थ भाव से परस्पर में प्रेम करना चाहिए।

वेद शास्त्र में यह भी बताया गया है कि मनुष्य को आपस में छुआछूत की भावना नहीं रखना चाहिए। आपस में मिलकर भोजन आदि करना चाहिए।

ज्ञानी पुरूष कभी आपस में वैर नहीं करते। इसी प्रकार मनुष्य को भी आपस में प्रेम करना चाहिए। इस इकाई को पढ़ने के बाद आप, व्यवहार क्या होता है? उसके बारे में सम्यग् रूप से समझ सकेंगे।

4.2 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद वैदिक सूक्तों में सामजस्यम् सक्त के बारे में सम्यग् रूप से अध्ययन करेंगे।

- प्रथम सूक्त में क्या पढ़ा गया है इसके बारे में आप समझा सकेंगें
- द्वितीय सूक्त के विषय में आप भली-भाँति परिचित होंगे।
- तृतीय सूक्त के प्रसंग को बताएंगे।
- चतुर्थ सूक्त से परिचित होकर उसका महत्व भी लिखेंगे।
- पंचम सूक्त व पष्ठ सूक्त की विशेषताएं बताएंगें ।

4.3 सामनस्यम् सूक्त

१ - सूक्त

भाव- इस सूक्त का भाव यह है कि हमें आपस में किस प्रकार प्रेम करना चाहिए।

सहृदयं सामनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः ।

अन्यो अन्यमभि हर्यत वत्सं जातमिवाघ्न्याः ¬१-

अन्वय- (अहम्) वः सहृदयं सांमनस्यम् अविद्वेषं कृणोमि।अध्न्या जातं वत्समिव अन्यो अन्यम् अभि हर्यत।

शब्दार्थ- हे मनुष्यों मैं, वः = तुम्हारे लिए, सहृदयम् = समान हृदयो से युक्त, सामनस्यम् = परस्पर म से युक्त, अविद्वेषम् = द्वेष से रहित को, कृणोमि = करता हूँ। तुम लोग, जातम् = उत्पन्न हुए, वत्सम् = नवजात वछड़े को , अघ्न्या वधन करने योग्य गाय की रव = समान, अन्यो अन्यम् = एक दूसरे को आपस में प्रेम करना चाहिए।

व्याख्या- इस सूक्त में निम्नलिखित बातें मुख्य रूप से कहीं गयी है।

१- हमें परस्पर अविरोधी भावों तथा द्वेष भाव को त्यागकर हृदय और मन की समानता का व्यवहार करना चाहिए द्वेष भाव न रहने पर ही आपस में प्रेम उत्पन्न हो सकता है, अन्यथा परस्पर में अविरोधी भाव तथा द्वेषता रहने पर प्रेम नहीं हो सकता है।

२- जिस प्रकार गाय अपने नवजात बछडे से निःस्वार्थ भाव से प्रेम करती है तथा समय आने पर अपने प्राण देकर भी उसकी रक्षा करती है। इसी प्रकार हमें आपस में निःस्वार्थ भाव से प्रेम करना चाहिए। गाय के लिए अध्न्या पर जो सूक्त में दिया गया है उस पर ज्ञात होता है कि गाय सर्वथा अवध्य अर्थात वध करने योग्य नहीं हैं जो लोग वेदों में गोवध का प्रतिपादन करते हैं यह सर्वथा उनकी मिथ्या धारणा है।

२ - सूक्त

अनुव्रतः पितुः पुत्रो माता भवतु संमनाः।
जाया पत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शन्तिवाम्॥

भाव- इस सूक्त में कलह कहाँ होता है कहाँ नहीं होता है, इसके विषय में बताया गया है।

अन्वय - **पुत्रः पितुः अनुव्रतः मात्रा संमनाः भवतु।**
जाया पत्ये मधुमतीं शान्तिवां वाचं वदतु॥

शब्दार्थ-पुत्रः = पुत्र, पितुः = पिता के, अनुव्रत = अनुकूल कर्म करने वाला हो, मात्रा = माता के साथ, संमना = समान मनवाला, भवतुः = हो। जाया= पत्नी, पत्ये = पति के लिए, मधुमतींम् = माधुर्म युक्त, शान्तिवाम् = शान्ति को देने वाला, वाचम् = वाणी को, वदतु = बोले।

व्याख्या-अनुव्रत के दो भाव हैं-

1-पुत्र अपने पिता के आज्ञा का अनुसरण करने वाला हो, उसके विरूद्ध न चले। प्रत्येक परिवार के कुछ व्रत नियम होते हैं। यथा सत्य, दान, परोपकार यज्ञ, इश्वर भक्ति आदि। पुत्र को भी पिता के इन कार्यों का पालन करना चाहिए।

2-पुत्र स्वयं पिता के विरूद्ध कोई कार्य न करें। पत्नी के वाणी में दो गुण होनी चाहिए

1- माधुर्य 2- शान्ति वाणी केवल माधुर्म युक्त न हो अपि त शान्ति दायक भी हो जहाँ वाणी में दोनों गुण होंगे, वहाँ कलह नहीं हो सकता, कलह वहीं होता है जहाँ ये दोनों निय नहीं हैं।

३-सूक्त

मा भ्राता भ्रातंरं द्विक्षन्मा स्वसारमुत स्वसा।
सम्यञ्चः सव्रताः भूत्वा वाचं वदत भद्रया॥

भाव- इस सूक्त का भाव यह है कि परिवार में एक दूसरे के साथ विरूद्ध कार्य न करें।

अन्वय- भ्राता भ्रातरं मा द्विक्षत् इत स्वसारं स्वसा मा द्विक्षत् सम्यन्यः सव्रता भूत्वा भद्रया वाचं वदतु।

शब्दार्थ- भ्राता = भाई, भ्रातरम् = भाई सक , मा = मत, स्वसा = बहिन से मा= मत, द्विक्षत् = द्वेष

करें। सम्यचः = समान गति वाले, सव्रता = समान कर्म वाले, वाणी को, वदतु = बोले।

व्याख्या- इस सूक्त में समान गति वाले तथा समान कर्म वाले होने की बात कहीं गयी है। इसका अर्थ यह नहीं हुआ कि व्यक्ति एक ही कार्यक को करेंगे। समान का अर्थ है उस जैसा, उससे विपरीत नहीं। परिवार का कोई व्यक्ति परिश्रम से कोई भी कार्य करके धनार्जन करता है तो दूसरे व्यक्ति भी ऐसा ही करें। वे अन्याय से चोरी इत्यादि करके धन न कमाएँ उसी से आपस में प्रेम रहेगा। समान गति का भी यही अर्थ है कि एक दूसरे से विरूद्ध आचरण न करें। भद्रवाणी का अर्थ है कल्याणकारिणी। हम एक दूसरे की सहायता अन्य किसी प्रकार से न कर सकें, तो भी इतना तो किया ही जा सकता है कि वाणी के द्वारा हितकारिणी बात ही कहे, अहित कारिणी नहीं।

४-सूक्त

येन देवा न वियन्ति नो च विद्विषते मिथ: ।
तत्कृण्मो ब्रह्मं वो गृहे संज्ञानं पुरूषेभ्य: ।।

भाव - वेद के ज्ञान से वैर विरोध नहीं होता इस सूक्त का यह भाव है।

अन्यव- येन देवा न वियन्ति मिथः विद्विषते न च। ततः संज्ञानं वः गृहे पुरूषेभ्यः कृष्मः।।

शब्दार्थ-देवा = विद्वान जन, येन= जिस उपाय से, न = नहीं, वियन्ति = अलग होते, न च = नहीं और, विद्विषते = विद्वेष करते हैं। वः = तुम्हारे, गृहे = घर में, पुरूषेभ्यः = मनुष्यों के लिए, तत् = वह, संज्ञानम् = समान ज्ञान का निमित्त, ब्रह्म = वदे ज्ञज्ञन, कृष्मः = करते हैं।

व्याख्या- विरूद्ध जाना, प्रथक् होना। विरूद्ध जायेंगे तो परस्पर द्वेष होगा ही , अथवा द्वेष होने पर परस्पर विरूद्ध हो जायेंगे। इस द्वेष तथा विरोध को दूर करने का साधन ब्रह्म हैं। ब्रह्म = ज्ञान, वेद, ईश्वर हैं। ज्ञानी जनों में वैर विरोध नहीं होता। वेद को पढ़ने से तथा इश्वर की भक्ति से भी वैर-विरोध नहीं होता। इस प्रकार यहाँ ब्रह्म के द्वारा तीनों साधन अभिप्रेत है।

५ - सूक्त

ज्यायस्वन्तश्चित्तिनो मा वि यौष्ट संराधयन्तः सधुराश्चरन्त: ।
अन्यो अन्यस्मै वल्गु वदन्त एत सध्रीचीनान् व: समनस्कृणोमि ।।

भाव- इस सूक्त का भाव यह है कि परिवार में तथा समाज में बड़े व्यक्ति के साथ संयुक्त होकर कार्य को सिद्ध करना चाहिए।

अन्वय -(अहं) ज्यायस्वन्तः, संराधयन्तः, सधुराः, चरन्तः, आ इत अन्यः अन्यस्मै बल्गु वदन्तः मा वि यौष्टम् वः सध्रीचीनान् संमनसः कृणोमि।

शब्दार्थ - हे मुनष्यों। मैं, ज्यायस्वन्त = बडो़ से युक्त, = सचेष्ट सावधान मन वाले, संराधयन्तः = मिलकर संसिद्धि करते हुए, सधुराः = मिलकर कार्य को करते हुए, चरन्तः = गतिशील होकर, वि यौष्टम् = वियुक्त मत होओ। अन्यः अन्यस्मै = एक दूसरे के लिए, वल्गु = प्रियवाणी, वन्तः = बोलते हुए तुम, आइत = एक दूसरे निकट आओ। सध्रीचीनान् साथ साथ चलते हुए, वः = तुम्हे,

संमनसः = समान मनवाले, कृणोमि = करता हूँ।

व्याख्या -यहाँ पर परिवार के लिए निम्न गुण कहे गये हैं - बड़े व्यक्ति ही मार्ग दर्शक होते हैं। मन तो सबके पास होता है, किन्तु सभी व्यक्ति सावधान मन वाले नहीं होते। जिस प्रकार धुरे के चारों ओर लगे हुए अरे धुरे के आश्रय से ही आगे बढ़ते हैं इसी प्रकार परिवार में तथा समाज में भी बड़े व्यक्ति के साथ संयुक्त होकर किसी न किसी प्रकार की कार्य सिद्धि करते रहना चाहिए। हम एक दूसरे से अलग न जाय, कल्याणकारी वाणी बोलते हुए एक दूसरे से निकट आँए, यह तभी सम्भव है जबकि हमारी गति तथा मन के भावा समान हों, इसके लिए ही मन्त्र से सध्रीचीन तथा समनस शब्द आये हैं।

६- सूक्त

समानी प्रपा सह वोऽन्नभागः समाने योक्त्रे सह वो युनज्मि।

सम्यञ्चोऽग्निं सपर्यतारा नाभिमिवाभितः ॥

भाव - इस सूक्त का भाव यह है कि किसी भी आधार पर किसी भी व्यक्ति के साथ खान-पान रहन-सहन आदि में समान व्यवहार होना चाहिए।

अन्वय- वः समानी प्रथा वः सह अन्नभागः। वः सह सामने योक्ते युनज्मि सम्यचः अग्निं सपर्यत नाभिमभित अरा इव।

शब्दार्थ- वः = तुम्हारी, प्रपा = पानी का स्थान, समानी = एक ही हो, अन्नभागः = अन्न का सेवन भी सह = साथ - साथ हो, वः = तुम्हें, समाने योक्ते = समान बन्धन में, स्नेह पास में, सह = साथ साथ, युनज्मि = नियुक्त करता हूँ। सम्यंचः = परस्पर मिलकर , अग्नि = अग्नि को समर्पयत = पूजा करो, नामिम् = जिस प्रकार रथ की नाभि के, अभितः = चारों ओर, अरा इव = अरे लगे रहते हैं, इसी के समान।

व्याख्या -समाज में खान पान के आधार पर भेद नहीं होना चाहिए। इसके दो अर्थ हैं

1- सभी को सभी स्थानों पर समान रूप में खाने पीने का अधिकार होना चाहिए। छुआछूत या जाति आदि के आधार पर अलग न हो

2- समाज के सभी व्यक्ति मिलकर खाएँ। ऐसा न हो कि कुद लोगों के पास तो विपुल खाद्य सामग्री हो, किन्तु समाज का एक वर्ग भूखा-प्यासा ही रहे इसके लिए मन्त्र मे कहा गया है कि मे तुम्हें एक ही बन्धन में बाधता हूँ। यह बन्धन राष्ट्रियता तथा सामाजिकता का है। प्रत्येक व्यक्ति समाज एवं राष्ट्र के अन्य व्यक्तियों को भी अपना ही भाई समझे, तभी ऐसा होना सम्भव है। इसलिए सायणाचार्य ने योन्त्र का अर्थ स्नेह बन्धन माना है। सभी लोग मिलकर याज्ञादि में भौतिक अग्नि की तथा आध्यात्मिक पक्ष में परमेश्वराग्नि की पूजा उपासना करें। हमारे उपास्य पृथक्- पृथक न हो अग्रणी नेता के साथ समाज उसी प्रकार संयुक्त रहे जैसे रथ के नाभी के चारों ओर अरे संयुक्त रहते हैं।

७ - सूक्त

सध्रीचीनान् वः संमनसस्कृणोम्येकश्रुष्टीन्त्संवनेन सर्वान्।

देवा इवामृतं रक्षमाणाः सायंप्रातः सौमनसो वो अस्तु ।।

भाव इस सूक्त में कहा गया है कि कल्याणकारी वाणी का प्रयोग करने से परस्पर में मैत्री भाव उत्पन्न है।

अन्वय -(अहम्) वः सर्वान् संवनेन सध्रीचीनान् संमनसः एकरनुष्टीन् कृणोमि । देवाः इव अमृतं रक्षमाणः सायंप्रातः वः सौमनसः अस्तु।

शब्दार्थ-अहम् = मैं, वः = तुम, सर्वान् = सभी लोगों को, संवनेन = परस्पर सहमति के द्वारा, सध्रीचीनान् = साथ-साथ गति करने वाले, समनसः =समान मन वाले तथा एक श्रुष्टीन = साथ-साथ भोजन करने वाले, कृणोमि = करता हूँ। अमृतं रक्षमाणाः = दीर्घ जीवन की रक्षा करते हुए, देवाः = विद्वान अथवा दानादि गुण युक्त जन जिस प्रकार सांमनस्य से युक्त होते हैं, उसी प्रकार सायंप्रातः = सर्वदा, व: = तुम्हारा, सौमनसः सौमनस्य, अस्तु = होवे।

व्याख्या- सायणाचार्य संवनने का अर्थ व शीकरवेन अनेन समनस्य कर्मणा लिखा है। सम्भवतः इसी आधार पर सह समझा जाने लगा कि यह वशीकरण युक्त है इसका पाठ करक किसी को वश में किया जा सकता है। यह सम्भव नहीं है यदि ऐसा होता शत्रु को भी वश में कर लिया जाता। वस्तुतः इसका अभिप्राय यही है कि इस सूक्त मे जिन कर्तव्यों का उपदेश दिया गया है उनका पालन करने से परस्पर मैत्री भाव उत्पन्न होगा । इन उपयों के लिए कल्याणकारी वाणी का प्रयोग करना अत्यन्त आवश्यक है। यही वशीकरण मन्त्र है। कहा भी है- वशीकरण एक मन्त्र है तज के वचन कठोर।

अभ्यासार्थ प्रश्न

क- लघु उत्तरीय प्रश्न

1. सामनस्यम् का अर्थ क्या है?
2. सामनस्यम् सूक्त किस वेद में पढा़ गया है?
3. पहले सूक्त का भाव क्या है?
4. दूसरे सूक्त का भाव क्या है?
5. प्रथम सूक्त प्रेम का उदाहरण किसके समान कहा है?
6. ज्ञानी जनों में वैर विरोध नहीं होता कि सूक्त में पढा गया है?
7. चौथे सूक्त में ब्रह्म का अर्थ क्या माना गया है?
8. बड़े व्यक्ति मार्ग दर्शक होते हैं यह किस सूक्त में पढा़ गया है।
9. समाज के सभी व्यक्ति मिलकर खाए यह किस सूक्त में पढा़ गया है?
10. मन्त्र के द्वारा वश में नहीं किया जा सकता है यह किस सूक्त में पढा़ गया है?

ख- बहुविकल्पात्मक प्रश्न

1- सामनस्यम् सूक्त में कितने सूक्त हैं-

क- सात ख- तीन

ग- चार घ- पाँच

2- सामनस्य सूक्त अथर्ववेद के किस काण्ड में पढ़ा गया है।

क- पचीसवे ख- दशवे

ग- तीसरे घ- दूसरे

3- सामनस्यम् शब्द किस सूक्त में पढा़ गया है।

क- तीसरे में ख- चौथे में

ग- पहले में घ- दूसरे में

4- माभ्राता भ्रातरम् किस सूक्त में पढा़ गया है-

क - पहले ख- दूसरे

ग-चौथे ध- तीसरे

4.4 सारांश

इस इकाई के पढ़ने के बाद आप जान चुके हैं कि वैदिक सूक्त में व्यवहार क्या है? मनुष्य को आपस में व्यवहार किस प्रकार करनी चाहिए इस विषय में भली - भाँति बताया गया है। सामनज्ययम सक्त में सात सूक्त पढ़े गये हैं। इन सातों सूक्तों के विषय में सम्यग् रूप से विवेचन किया गया है। यह सूक्त अथर्ववेद का तीसरे काण्ड का तीसवाँ मन्त्र है। इन सूक्तों में मनुष्य को आपस में व्यवहार किस प्रकार करनी चाहिए इन सबका वर्णन इन सूक्तों में दिया गया है।

4.5 शब्दावली

शब्द	अर्थ
सहृदयम्	समान हृदयो से युक्त
समानस्यम्	परस्पर प्रेम युक्त
अनुव्रतः	अनुकूल कर्म करने वाला
जाया	पत्नी
वदतु	बोले
सव्रताः	समान कर्म वाले
भूत्वा	होकर
सम्यम्चः	समान गति वाले
पुरूषेभ्यः	मनुष्यों के लिए
कृण्मः	करते हैं।
ज्यायस्वन्त	बडो़ से युक्त
संराधयन्त	मिलकर संसिद्धि करते हुए
वदन्तः	वोलते हुए
चरन्तः	गतिशील होकर

कृणोमि	करता हूँ
वः	तुम्हारी
पप्रा	पानी पीने का स्थान
सम्यचः	परस्पर मिलकर
नाभिम्	नाभि को
अभितः	चारों ओर
सर्वान्	सभी को
संमनसः	समान मन वाले
एकश्नुष्टीन्	साथ-साथ भोजन करने वाला
अमृतम्	दीर्घ जीवन
रक्षमाणाः	रक्षा करते हुए
सायं प्रातः	सर्वदा

4.6 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

क- लघु उत्तरीय प्रश्नों के उत्तर

1. परस्पर प्रेम युक्त
2. अर्थर्ववेद वेद
3. आपस में प्रेम करना चाहिए
4. कलह का कारण क्या
5. गाय और वछड़े के समान
6. चौथे सूक्त
7. वेद, ज्ञान ईश्वर
8. पाँचवें सूक्त में
9. छठवें सूक्त में
10. सातवें सूक्त में

ख - बहुविकल्पात्मक प्रश्नों का उत्तर

1- क
2- ग
3- ग
4- घ

4.8 सहायक ग्रन्थ सूची

लेखक सम्पादक ग्रन्थनाम प्रकाशक

गयाचरण त्रिपाठी, गयाचरण त्रिपाठी, वैदिक देवता राष्ट्रीय सं0सं0 मा0 विश्वविद्यालय नई दिल्ली रघुवीर वेदालकार रघुवीर वेदालकार वैदिक सूक्त मंजरी चौखम्भा ओरियन्तालिया नई दिल्ली

4.9 उपयोगी पुस्तकें

लेखक सम्पादक ग्रन्थनाम प्रकाशक

रघुवीर वेदालकार रघुवीर वेदालकार वैदिक सूक्त मंजरी चौखम्भा ओरियन्तालिया नई दिल्ली

4.10 निबन्धात्मक प्रश्न

1- सप्तम सूक्त की अन्वय सहित व्याख्या कीजिये।

2- सामनस्य सूक्त का सारांश लिखिए।

खण्ड 2 - निरूक्त

इकाई 1: निरूक्त का महत्व

इकाई की रूपरेखा

1.1 प्रस्तावना
1.2 उद्देश्य
1.3 निरूक्त का महत्व
1.3.1 वेदांगों मे निरूक्त
1.3.2 निरूक्त की उपयोगिता
1.3.3 निरूक्त तथा निघण्टु
1.3.4 मन्त्रों की सार्थकता का उपपादन
1.3.5 कौत्स की अन्य युक्ति का खण्डन
1.3.6 ज्ञानरूपी प्रशंसा के विषय में अन्यवचन
1.4 सारांश
1.5 शब्दावली
1.6 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
1.7 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
1.8 उपयोगी पुस्तकें
1.9 निबन्धात्मक प्रश्न

1.1 प्रस्तावना

वैदिक साहित्य से सम्बन्धित यह प्रथम इकाई है। इस इकाई के अध्ययन से आप बता सकते हैं कि निरूक्त किसे कहते हैं ? निरूक्त की रचना क्यों ? इसकी आवश्यकता क्या है ? मूल रूप से इनके बारे में बताया गया है। तथा इनके महत्त्व के बारे में विशेष प्रकार में बताया गया है।

यास्काचार्य द्वारा रचित निरूक्त में वेद के मन्त्रों के अर्थ का महत्त्व विशेष रूप से बताया गया है। वेद के मन्त्रों के उच्चारण मात्र में फल होता है या उच्चारण के साथ अर्थ का भी महत्त्व होता है इन सबके बारे में भली भाति बताया गया है किन्तु वेद मन्त्रों के उच्चारण के साथ साथ अर्थो को भी जानना आवश्यक है। उदाहरण सहित प्रयोजनो को बताया गया है।

इस इकाई के अध्ययन से आप कुछ वैदिक शब्दों के साथ वेदार्थ के महत्त्व के बारे में भी भली भाति परिचित होंगे।

1.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् यास्काचार्य रचित निरूक्त के महत्त्व के बारे में आप भली भाँति परिचित होंगे।

- निरूक्त किसे कहते है इनका परिचय प्राप्त कर सकेंगे
- निरूक्त का महत्त्व क्या है ? इनके बारे मे आप परिचित होंगे।
- निरूक्त तथा निघण्टु में क्या अन्तर है इसके बारें में आप समझ सकेंगे।
- कौत्स के मत में मन्त्रार्थ की आवश्यकता है कि नहीं इसके बारे में आप समझ सकेंगे।
- यास्काचार्य के मत में मन्त्रार्थ की आवश्यकता है कि नही इसके बारे मे समझ सकेंगे।
- वेदार्थ को न जानने से हानि क्या है ? इसके बारे में आप परिचित होंगे

1.3 निरूक्त का महत्व

किसी शब्द के अर्थ ज्ञान में दूसरे व्याकरणादि की अपेक्षा के बिना स्वयं जिससे अर्थ प्रगट होता हो, उसे निरूक्त कहते हैं जैसा की निरूक्त ग्रन्थ में गौः ,ग्मा, क्ष्मा, क्षा, क्षमा, इत्यादि पदो से लेकर वसवः देवपत्न्यः , इन पदो तक का समाम्नाय (निघण्टु) जो कहा गया है उसके अर्थ ज्ञान के लिए दूसरे व्याकरणादि कीअपेक्षा नही है, क्योकि पृथिवी के इतने नाम और सुवर्ण के इतने नाम इस प्रकार स्पष्ट रूप से कहा गया है।

1.3.1 वेदांगों मे निरूक्त

अभी तक अनेक ग्रन्थ पूर्णतया उपलब्ध नहीं हैं। तथापि इस विपुलकाय साहित्य को देखकर हम

लोगो को उस समय के ज्ञान एवं परिश्रम पर आश्चर्य करना पड़ता है इन सबों को ठीक ठाक समझने एवं तदनुसार कार्य-कलाप का सन्चालन कराने के लिए वेदांग ग्रन्थों की आवश्यकता होती है जो शरीर के अंगों के समान ही वेद के अनिवार्य भाग है वेद के अंग है। शिक्षा, कल्प, व्याकरण, छन्द, ज्योतिष, और निरूक्त इन सबों का विभाजन पाणिनि शिक्षा मे इस प्रकार कहा गया हैं।

छन्द: पादौ तु वेदस्य हस्तौ कल्पोऽथ पठयते।
ज्योतिषामयनं चक्षुर्निरूक्तं श्रोत्रमुच्यते ।।
शिक्षा घ्राणं त वेदस्य मुखं व्याकरणं स्मृतम् ।
तस्मात्सागंमधीत्यैव ब्रह्म लोके महीयते ।।

इस प्राकर वेद के छः अंग बताये गये हैं। इन छः अंगों में भी निरूक्त अपनी कई विशेषतायें रखता है। इनमें मुख्यतया वैदिक शब्दों के अर्थ जानने के प्रक्रिया बतायी जाती है। जैसा कि सायणाचार्य ने इसका लक्षण अपने ऋग्वेद भाष्य भूमिका में किया है। अर्थ जानने के लिए स्वतन्त्र रूप से जहाँ पदों समूह कहा गया है वही निरूक्त है। निरूक्त प्रत्येक वैदिक शाखा के अलग-अलग हैं।

वेद के अर्थ ज्ञान के लिये यास्क द्वारा रचित निरूक्त का महत्त्वपूर्ण स्थान हैं। निरूक्त के सिवा कोई ऐसा शास्त्र नहीं है ,जो तात्पर्यानुसार सभी वेद के शब्दों का ज्ञान करा सके। जैसे शास्त्रों में शब्द ज्ञान व्याकरण शास्त्र से होता है, उसी प्रकार वेद के शब्दों के अर्थ का निर्वचन निरूक्त से ही होता है। अर्थ परिज्ञान में कारणीभूत होने के कारण निरूक्त वेद का सर्वप्रधान अंग है।

1.3.2 निरूक्त की उपयोगिता

निरूक्त के प्रथम अध्याय में केवल उसकी उपयोगिता के बारे में बताया गया है। श्री यास्काचार्य के अनुसार निरूक्त की उपयोगिता कई विषयों के लिए है-

(1) निरूक्त के प्रथम अध्याय प्रथम पाद में 'समाम्नायः समाम्नातः, स व्याख्यातव्यः लिखा है इस का अर्थ यह है कि निघण्टु के शब्दों की व्याख्या करना निरूक्त का काम है, अर्थात निरूक्त भाष्य है। दुर्गाचार्य भी निरूक्त को भाष्य कहते हैं। विन्टरनित्ज! यास्काचार्य को प्रथम भाष्यकार मानते हैं तथा पतन्जलि को वे अपली अलंकृत शैली में भाष्यकारों का राजकुमार कहते हैं। इस प्रकार शब्दों का अर्थ बोध कराना निरूक्त का प्रथम कार्य है। इस लिए निरूक्त को निघण्टु का व्याख्या ग्रन्थ माना गया है। मूल ग्रन्थ निघण्टु कहलाता है। वह मुख्यतः ऋग्वेद के शब्दों का संग्रह रूप वैदिक शब्दकोश है।

(2) 'इदमन्तरेण मन्तुषु अर्थप्रत्ययो न विद्यते' निरूक्त शब्दों के अर्थ का निर्णय करता है और यास्काचार्य उनका प्रयोग दिखलाने के लिये वैदिक मन्त्रों का उदाहरण देकर उनकी व्याख्या करते हैं

(3) प्राचीन काल के चौदह विद्यास्थानों में निरूक्त की गणना है यह व्याकरण शास्त्र का पूरक भी है क्योंकि व्याकरण शब्दों की रचना (बहिरंगं) की व्याख्या करता है तो निरूक्त उनके अर्थ अन्तरंग की खोज करता है इसके लिये वह शब्दों की प्रकृति का पता लगाकर उसके अर्थ से संगति दिखाते हुए

पुरे शब्द के अर्थ का अनुसन्धान करता है। किन्तु व्याकरण शास्त्र में सर्वस्व अर्पण नही कर देता, क्योंकि व्याकरण की बनावट शब्द सस्कार या वृत्तिया अपवाद (वियष) से भरी होती है फिर भी व्याकरण शास्त्र और निरूक्त में अविच्छिन्न सम्बन्ध है

(4) यज्ञ में भी निरूक्त से काफी सहायता मिलती है। क्योंकि इसके द्वारा ही किस मन्त्र में कौन देवता है - इसका निर्णय किया जा सकता है और तभी किसी देवता को हविष देने के लिए किसी विशेष मन्त्र का उच्चारण सम्भव है। कभी-कभी किसी विशेष मन्त्र में कई देवता रहते है जिसका पता निरूक्त ही लगाता है कि किसे प्रधानता दी गई। इस गुण के कारण निरूक्त कर्मकाण्ड और पूर्वमींमासा का भी पूरक कहा जा सकता है

(5) ' इदमन्तरेण विभागो न विद्यते (ज्ञायते) ' - निरूक्त के द्वारा ही किसी पद को उसके विभिन्न खण्ड़ो मे बाटा जा सकता है क्योंकि अर्थ न जानने वाला यह नही समझ सकता है कि किसी पद में एक ही शब्द है या दो शब्द, जैसे अवसाय पद्वते = पैर वाले भोजन के लिए,अवस् = भोजन - इसमे

पुराण न्यायमीमांसा धर्मशास्त्राअगंमिश्रिता:

वेदा, स्थानानि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दश। (या 0 स्मृति)

अर्थात् पुराण, न्याय, मीमांसा धर्मशास्त्र, ६ वेदांग , ४. वेद = १४ विद्यास्थान है।अर्थात रक्षा करना, जाना, इच्छा करना और अस् प्रत्यय है दोनो मिलकर ही पद बना है इसलिये अवस एकपद है जिसका चतुर्थी एकवचन में रुप अवसाय होता है जिसका अर्थ होता है भोजन के लिए। किन्तु अवसाय का भिन्न अर्थ होता है अश्वान्त्र घोड़ो को खोलकर यहाँ अव उपसर्ग है, तथा स्यो (खोलना) धातु से ल्ययप् प्रत्यय होकर बना है, इसलिए दो पद होने को कारण इसमे पद विभाग करना पड़ता है तथा पद पाठकार 'अवऽसाय' ऐसा इसका पद पाठ करते हैं। एक ही तरह के पद में, कभी एक शब्द, कभी दो शब्द हो जाते हैं, इसे निरूक्त को नही समझने वाले नहीं समझ सकते हैं।

(६) अर्थ ज्ञान का महत्त्व भी निरूक्त के द्वारा जाना जा सकता है क्योंकि जिसके पास ज्ञान है उसकी प्रशंसा तथा जिसके पास ज्ञान नहीं है उनकी निन्दा होती है वेदों का अर्थ बिना जाने हुए उन्हें रट जाना निष्फल है। कहा भी है-

यदधीमविज्ञातं निगदेनैव शब्दते।
अनग्नाविव शुष्कैधो न तन्नवति कर्हिचित।

अर्थात् गुरू से पढ़ा गया जिस वेद वाक्य को अर्थज्ञान से रहित होकर पाठ के रूप में बार बार उच्चारण करते हैं , कभी प्रकाशन नहीं काता, जिस प्रकार अग्नि रहित प्रदेश में सूखा घास या काठ प्रज्वलित नहीं होता। अर्थात वेदार्थ सहित पाठ करना चाहिए वेदार्थ रहित पाठ करने से कोई फल नही होता है। इसलिए निरूक्त का अध्ययन करना अवश्यक है।

(७) अन्त में हम आधुनिक भाषा विज्ञान की दृष्टि से निरूक्त की उपयोगिता पर विचार कर सकते है भाषा विज्ञान की एक शाखा है - अर्थ विज्ञान जिसकी ओर लोग का ध्यान विगत-शली के अन्त में ही आकृष्ट हुआ जबकि ब्रील ने सन् १८९८ ई में अपना ग्रन्थ एसे दसिमन्तिक फ्रेन्च में लिखा।

यास्काचार्य ने इस विज्ञान की नींव विक्रम के कई सौ पूर्व दे चुके थे। अर्थ में किस प्रकार का परिवर्तन होता है इसका निर्देश वे स्पष्ट रूप से करते है लक्ष्मण सरूप निरूक्त की 'व्युत्पत्तिविज्ञान, भाषा-विज्ञान का सबसे प्राचीन भारतीय ग्रन्थ मे कहते हैं। फिर भी व्युत्पत्तिविज्ञान में तो निरूक्त की तुलना ही नहीं है।

मन्त्रों के अर्थ के विषय में यास्काचार्य द्वारा उठायें गये एक और विवाद पर विचार कर लेना उपयुक्त न होगा। मन्त्रों के अर्थ के विषय में बहुत प्राचीन काल से ही शअंकाये उठायी गयी थी। लोकायतमत के लोग तो मन्त्रों को इसलिए अर्थहीन कहते थे कि इनमें उलजलूल बाते भरी पड़ी है वेदो की कोई सत्ता नही है, इन्हे मानना व्यर्थ है दूसरी और कर्मकाण्डियों का कहना था कि वेदों का कोई वाच्यार्थ नहीं किन्तु उनका पाठ अनिवार्य है, पाठ करने में अर्थ का ज्ञान नहीं रहता। हम निष्ठा से पाठ करते है, क्योंकि यही हमारा धर्म है इनके पक्ष की विशेषता सायणाचार्य ने अपनी ऋग्वेदभाष्यभूमिका के स्वाध्याय प्रकरण में की है, जिसमे 'पुरूषार्थानुशासन (एकअप्रतिमग्रन्थ) से सूत्रों का उद्धरण देकर उन्होंने निष्कर्ष निकाला है। आज के कर्मकाण्डी भी पाठ-मात्र में ही वेद की सत्ता समझते हैं किन्तु ऐसा नहीं कहा जा सकता कि वेदों के अर्थ में उनका विश्वास नहीं है।

1.3.3 निरूक्त तथा निघण्टु

निरूक्त ,निघण्टु का व्याख्या ग्रन्थ है मूल ग्रन्थ निघण्टु ही है, इसमें पाँच अध्याय हैं। पहले तीन अध्यायों में एक एक अर्थ के वाचक अनेक शब्दों का संग्रह किया गया है। 'इत्येक विंशतिः पृथिवीनामधेयानि' अर्थात् गौः इत्यादिरापृथिवी वाचक शब्दों का संग्रह एक सथान पर कर दिया गया है। इसी प्रकार 'इति पच्चविशतिर्मनुष्यानामधेयानि' के द्वारा मनुष्य अर्थ के वाचक पचीस शब्दों का संग्रह कर दिया गया है निघण्टु के भी पहिने के तीन अध्यायों का संग्रह कर दिया गया है इसीलिए निघण्टु का पहिले के तीन अध्याय वाला भाग एक भाग माना गया है और उसे नैधन्त का यह भाग नैगम काण्ड नाम से कहा जाता है। 'निरुक्त' के चतुर्थ अध्याय के प्रारम्भ में **'एकार्थमनेकार्थमित्युक्तम' अथमान्यनेकार्यानिएकशब्दानि तान्यतोऽनुक्रमिण्यामोऽनवगतसंस्कारांश्च निगमान। तदैकपदिकमित्याचक्षते'**

इस प्रकार लिखकर भास्कराचार्य निघण्टु काण्ड तथा नैगम काण्ड का यही शैली-भेद प्रदर्शित करते हैं। इसका अर्थ यह है कि 'नैघन्टुकाण्ड''एकार्थमनेक शब्दम्' अर्थात एकार्थवाचक अनेक शब्दों का संग्रह रूप है और दूसरा 'नैगमकाण्ड' अनेकार्थानि एक शब्दानि अर्थात् अनेकार्थ एक एक पदों का संग्रह रूप है।

'निघन्टु' का तीसरा अध्याय उसका पंचम अध्याय है। इस अध्याय में ऋग्वेंद के देवताओं का संग्रह किया गया है। इसलिए यह भाग दैवतकाण्ड कहा गया। निरूक्त के तीन अध्याय 'नैघन्टुक काण्ड ४-६ तक, अगले तीन अध्याय 'नैगमकाण्ड' और अन्तिम ६ अध्याय 'दैवतकाण्ड' के नाम से कहे जाते हैं। इस प्रकार निरूक्त को तीन काण्डों के रूप में तीन मुख्य विभागों में विभक्त किया गया

है। निरूक्त के प्रारम्भिक तीन अध्याय यद्यपि 'नैघन्टुकाण्ड' नाम से कहे जाते हैं, किन्तु उसमें निघन्टु पठित पदों की व्याख्या द्वितीय अध्याय के चतुर्थपाद से प्रारम्भिक हुई है वही पर भास्कराचार्य ने '**अथातोऽनुक्रमिण्याम**:' लिखकर अनुक्रम से निघन्टु के पदों की व्याख्या की प्रतिज्ञा की है इसके पूर्व प्रथम अध्याय के चार पाद तथा द्वितीय अध्याय के तीन पादों में यास्काचार्य ने निरूक्त के सम्बद्ध विषयों का विवेचन किया है। श्री यास्काचार्य का यह 'निरूक्त' ग्रन्थ वस्तुतः मौलिक नहीं अपितु एक व्याख्या ग्रन्थ है पर उसका सम्मान एवं महत्व मूल ग्रन्थ से भी अधिक है निरूक्त का आधारभूत मूल ग्रन्थ निघन्टु है वह एक प्रकार का वैदिक शब्दकोश है उनमें वेदों के और विशेष रूप से ऋग्वेंद के महत्वपूर्ण एवं क्लिष्ट शब्दों का उच्चारण किया गया है इन शब्दों के अर्थो का परिज्ञान हो जाने पर वेदार्थ का समझना अत्यन्त सरल हो जाता है। इन शब्दों का संग्रह इस प्रकार से किया गया है कि उनके अर्थ का ज्ञान सरलता से हो सके। जैसे कि वेदों मे पृथिवी अर्थ के बोधन के लिए जितने शब्द होते है उन सबका संग्रह एक साथ कर दिया गया है और उनकी गणना भी (इति एकविशतिः पृथिवीनामधेयानि) इस प्रकार निर्देश उनके अन्त में कर दिया गया है। इसीलिये इन सब शब्दों का अर्थ स्पष्ट हो जाता है। इसलिये ग्रन्थ के आरम्भ में 'स व्याख्यातव्यः लिखकर भास्काचार्य ने अपने ग्रन्थ के विषय तथा प्रयोजन रूप दो अनुबन्धी का निर्देश किया है वैदिक शब्द कोश की व्याख्या करना इस ग्रन्थ का मूल प्रयोजन है। इस ग्रन्थ के द्वारा वेदार्थ का परिज्ञान और वेदाध्ययन को सुकर बनाना प्रयोजन है। वेदार्थ के जिज्ञासु उस ग्रन्थ के अध्ययन अध्यापन के अधिकारी हैं। विषय के साथ ग्रन्थ का प्रतिपाद्य प्रतिपादकभाव तथा अधिकारी के साथ उसका बोध्य - बोधक भाव सम्बन्ध है। इस प्रकार इस प्रथम पंक्ति के द्वारा ग्रन्थ के अध्ययन में प्रवृति के चार कारणों का निरूपण भी हो जाता है।

निघण्टु की रचना शैली से यद्यपि उन वैदिक शब्दों के अर्थ का सामान्य रूप से ज्ञान हो जाता हैं, परन्तु उनका विश्लेषण करके उनके अवयवार्थ की विवेचना उसमें नही की गयी है, इसलिए इन शब्दों का विशेष रहस्य उसमें नही खुलता है। इसी कमी की पूर्ति रने के लिए यास्काचार्य ने इस व्याख्या ग्रन्थ निरूक्त की रचना की है। यह प्रक्रिया केवल इस वैदिक - कोश के विषय में ही नही अपितु 'अमर कोश' लौकिक शब्द कोशो के सम्बन्ध में भी पायी जाती है। 'अमर कोश' के उपर भट्टोजिदीक्षित के पुत्र भानुजी दीक्षित ने इसी प्रकार से व्याख्या की रचना की है। निघण्टु जैसे महत्वपूर्ण वैदिक शब्दकोश के उपर तो इस प्रकार की व्याख्या की और भी अधिक आवश्यकता थी। यास्काचार्य ने इसी आवश्यकता की पूर्ति के लिए इस निरूक्त ग्रन्थ की रचना कर वेदाध्ययन मार्ग को अत्यन्त प्रशस्त कर दिया है।

मंत्रों की अनर्थकता

यास्काचार्य ने मंत्रों के अर्थ बोध करना निरूक्त का दूसरा मुख्य प्रयोजन बतलाया है इस पर 'कौत्स' आदि कुछ लोगों का कहना है कि मंत्रों का कोई अर्थ नही होता है। उनका जो कुछ भी फल

हैं। इसलिए मंत्रों के अर्थो का बोध निरूक्त का प्रयोजन है तब तो निरूक्त व्यर्थ ही है इसी पूर्वपक्ष को युक्तियों द्वारा पुष्ट करते हैं- इसका अभिप्राय यह है कि लौकिक वाक्य जो सार्थक होते है उनमें न तो शब्द ही निश्चित होते हैं और न उनमें क्रम ही निश्चित होता है। हम उदकम् आनय भी कह सकते हैं और उसके स्थान पर 'जलमाहर' 'तोयमानय' आदि वाक्य भी बोल सकते है। इसलिये सार्थक वाक्य में पदो के निश्चित होने का नियम नही होता है। इस प्रकार 'जलम् आनय' के स्थान पर क्रम को बदल कर 'आनय जलम्' भी बोला जा सकता है।

पर 'आग्निमीले पुरोहितम्' आदि वैदिक मंत्रों में न तो अग्निमीले शब्दों को बदलकर 'वह्निस्तौमि' बोला जा सकता है और न उनके क्रम को बदलकर 'इले अग्निम्' ही बोला जा सकता है। 'अग्निमीले पुरोहितम्' इन्हीं शब्दों को इसी क्रम से बालना अनिवार्य है। इससे यह प्रतीत होता है कि इन शब्दों का कोई अर्थ नही होता हैं अपितु केवल उनके उच्चारण मात्र से कुछ अपूर्व फल उत्पन्न होता है यह मंत्रों के आनर्थक्य की सिद्धि के लिए प्रथम मुक्ति कौत्स की ओर से दी गयी है। अन्य युक्तियाँ आगे देते हैं। इसका अभिप्राय यह है कि 'उरू प्रथस्व' इत्यादि उरूप्रथा उरूप्रथस्वोरूते यज्ञपतिः प्रथनाम् इत्यादि (यजुर्वेद १-२२) मंत्र से यह टुकड़ा लिया गया है।

(यजुर्वेद १-२२) मंत्र का विनियोग शतपथ ब्राह्मण ने पुरोडोश के फैलाने के कार्य में करते हुवे 'उरू प्रथस्व इति प्रथयति' यह लिखा है। यदि यह मंत्र सार्थक होता तो उसके 'उरूप्रथस्व' पदों का पढ़ते ही यह विदित हो जाना चाहिए था कि इसको पढ़कर पुरोडाश का प्रश्न करना-फैलाना-है उस दशा में ब्राह्मण में 'इति प्रथयति' यह लिखा गया है। इसमें यह प्रतीत होता है कि ब्राह्मण ग्रन्थ की दृष्टि में मंत्र मे इस अर्थ का बोध कराने की सामर्थ्य नहीं हैं। क्योकि मंत्र अनर्थक है इसीलिए ब्राह्मण ने उसको 'रूप सम्पन्न्' किया है, उसका विनियोग किया है। अतः मंत्र अनर्थक ही है। मंत्रों को अनर्थक सिद्ध करने के लिए कौत्स की अन्य युक्ति भी निम्न प्रकार से है।

यज्ञ में स्थापित किये जाने वाले यूप के निर्माणार्थ वृक्ष को काटने की क्रिया में इन (यजु0 ४-१/६-१५) मंत्रों को विनियोग किया गया है वृक्ष के उपर कुश को रखकर कुठार द्वारा इसको काटा जाता है। उस समय कुश को सम्बोधन करके 'ओषधे त्रायस्व' इस प्रकार वृक्ष की रक्षा की प्रार्थना की जाती है। और कुठार से काटते समय स्वधिते मैनं हिंसीः' इस प्रकार हिंसा न करने अर्थात् वृक्ष को न काटने की प्रार्थना की जाती है। और कुठार से काटते समय स्वधिते मैनं हिसी:' इस प्रकार हिंसा न करने अर्थात् वृक्ष को न काटने की प्रार्थना की जाती है यदि इन मन्त्रों की सार्थक माना जाय तो जब इन को पढ़कर, वृक्ष को काटा जा रहा है उस समय 'ओषधे त्रायस्व' और 'स्वधितेमैनंहिंसी: इस प्रकार की प्रार्थनाएँ विल्कुल असंगत हो जाती है। इसलिये यह सिद्ध होता है कि मन्त्रों का वास्तव में कोई अर्थ नही है। उस समय इन मन्त्रों के पाठ अथवा उच्चारणमात्र से ही फल होता है उसके साथ अर्थ का कोई सम्बन्ध नहीं है।

यदि मन्त्रों को सार्थक माना जाय तो इन परस्पर विपरीत बातों की कोई सगंति नही लगती है अत एव मन्त्रों मो अनर्थक मानना ही उचित है यह केवल कौत्स का अभिप्राय है।

अभ्यासार्थ प्रश्न

लघु - उत्तरीय प्रश्न

1. निरूक्त किसे कहते हैं ?
2. वेद के कितने अंग होते हैं ?
3. विधा कितने प्रकार के होते हैं ?
4. व्याकरण तथा निरूक्त में कौन सा संबंध है ?
5. निरूक्त निघण्टु का कौन सा ग्रन्थ है ?
6. निरूक्त में कितने अध्याय है ?
7. यास्काचार्य के द्वारा लिखित निरूक्त कौन सा ग्रन्थ है ?
8. निरूक्त का मूल प्रयोजन क्या है ?
9. किसके मत में मंत्रो के अर्थ की आवश्यकता नही है ?
10. वेदांगों में निरूक्त कौन सा अंग है ?

बहुविकल्पीय प्रश्न

1. निरूक्त का लेखक कौन है-

(क) सायणाचार्य (ख) भास्कराचार्य

(ग) यास्काचार्य (घ) पाणिनि

2. प्रथम अध्याय में कितने पाद है-

(क) चार (ख) तीन

(ग) छः (घ) एक

3. वेदांगो मे निरूक्त को क्या कहा गया है-

(क) आँख (ख) नाक

(ग) कान (घ) श्रोत्र

4. निरूक्त में मनुष्य अर्थ वाचक कितने शब्दों का संग्रह किया का गया है-

(क) पचीस (ख) दश

(ग) पचास (घ) साठ

5. मंत्रो की सार्थकता का उपपादन किसने किया है-

(क) सायणाचार्य (ख) यास्काचार्य

(ग) शाकटायन (घ) भास्कराचार्य

6. सहिता पाठ के साथ किस पाठ का ज्ञान आवश्यक है-

(क) पद पाठ (ख) जटा पाठ

(ग) धन पाठ (घ) संहिता पाठ

कौत्स का अन्य मत

मन्त्रों के विप्रतिसिद्धार्थ अर्थात् परस्सपर विपरीत अर्थो के प्रतिपादक होने का एक उदाहरण है- एक ही वस्तु माता भी माना जाय पिता भी बन जाय यह नहीं हो सकता है । अदिति को ही द्यौ और अन्तरिक्ष दोनों बतलाना इसी प्रकार का विरूद्ध कथन है । यदि इन मन्त्रों को सार्थक माना जाय तो उनमें विरूद्ध अर्थ का प्रतिपादन भी मानना होगा , जो कि उचित नहीं है इसलिए मन्त्र अनर्थक मानने चाहिए यह कौत्स का अभिप्राय है ।

1.3.4 मन्त्रों की सार्थकता का उपपादन

इसके पहले कौत्स ने अनर्थक सिद्ध करने का यत्न किया हैं । अब उसके मत का निराकरण करके ग्रन्थकार मन्त्रों की सार्थकता वाले सिद्धान्त पक्ष की स्थापना करेंगे । इस प्रयोजन के लिए वे पहले सिद्धान्त पक्ष की स्थापना करते हुए लिखते हैं - 'अर्थवन्तः शब्दसामान्यात्' अर्थात् शब्दों की समानता के कारण मन्त्र अर्थवान हैं ।

जिस प्रकार सन्तानोत्पादन रूप कार्य के लिए विवाह किया जाता है उसी प्रकार का वर्णन ऋ0 १0-८५-४२ मन्त्र में किया गया है । इससे मन्त्रों की सार्थकता सिद्ध होती है । इसलिए मन्त्रों को अनर्थक नही सार्थक मानना चाहिए ।

इस प्रकार अपने सिद्धान्त पक्ष की स्थापना के लिए ग्रन्थकार ने 'शब्द सामान्यात्' रूप एक युक्ति और एक ब्राह्मण वाक्य प्रमाण के रूप में उपस्थित किया है । युक्ति का आशय यह है कि जैसे लोक में अग्नि आदि शब्द वेद में भी प्रयोग होते हैं । तब वे लोक में तो सार्थक हो औेर वेद में अनर्थक हो जाय यह तो नही हो सकता है जैसे लोक में अग्नि आदि शब्द सार्थक है इसी प्रकार उनको वेद में भी सार्थक मानना होगा । इसलिए मंत्र भी लौकिक वाक्यों के समान सार्थक ही हैं । युक्ति के द्वारा मंत्रों की सार्थकता को सिद्ध करके उसके समर्थन के लिए ऐतरेय ब्राह्मण (¬१४,१-

१३,१-१६,१-१७) तथा गोपथ ब्राह्मण(२-६,४-२) आदि अनेक स्थानों पर आये हुए प्रबल एवं असन्दिग्ध रूप से मंत्रो की सार्थकता को सिद्ध करने वाले ब्राह्मण वचन उद्धृत किये हैं। इस प्रकार की युक्ति और प्रमाणों के द्वारा अपने सिद्धान्त पक्ष की स्थापना के बाद पूर्व पक्षी कौत्स ने मंत्रों की अनर्थकता सिद्ध करने के बाद जो युक्तियाँ प्रस्तुत की थी उन सबका आगे खण्डन कर रहे हैं।

लौकिक शब्दों में भी द्वन्द समास में अनेक स्थानों पर पूर्वनिपात या पर निपात का नियम पाया जाता है , और शब्दों को भी नियम पाया जाता है कि अमुक शब्दों का द्वन्द समास होने पर अमुक शब्द नियम से पहिले आयेगा और अमुक शब्द बाद मे आयेगा। अजाद्य (अष्टा0 २.२.३३) इस सूत्र में अजादि और अदन्त पद के पूर्व प्रयोग का नियम किया गया है। इस नियम के अनुसार 'ईश -कृष्णौ' यह प्रयोग ही होता है कृष्ण इशौ नही हो सकता है। इसी प्रकार इसी सूत्र के अर्न्तगत 'ध्यन्तादजाधन्त विप्रति षेधेन' इस वार्तिक द्वारा 'ईन्द्राग्नी' यह पद नियन्त्रित होता है। इसलिए क्रम या पदों के नियत होने से जैसे ये लौकिक प्रयोग अनर्थक नही होते है। इसी तरह वैदिकमंत्र भी अनर्थक नही होते हैं।

इसी तरह कौत्स के अन्य मतो का उत्तर देते हुए यास्काचार्य जी कहते है अथो एतत्' इत्यादि इसका अभिप्राय यह हुआ कि जब वेदमंत्र काटे जाने वाले वृक्ष के लिए यह कहतें है कि 'औषधे त्रायस्व' स्वधिते मैनं हिसीः तो इस वेद वचन से यह प्रतीत होता है कि वृक्ष के काटे जाने पर भी यह उसकी हिंसा नही है इससे उसका अपकर्ष नही उत्कर्ष ही होता है। बहुजन हिताय - बहु न सुखाय किये जाने वाले किसी महान कार्य में व्यक्ति का आत्मोत्सर्ग भी उसके उत्कर्ष का हेतु मानकर ही उस छेदन को भी रक्षा रूप मानकर वेद ने 'ओषधे त्रायस्व' आदि कहा है। उसी प्रकार 'स्वधिते मैनं हिसीः' हिंसा का अभाव अर्थात् जीवन की सार्थकता सूचित होती है। इसीलिए इस उदाहरण के द्वारा कौत्स ने जो मंत्रो का विरोध दिखाकर उनको अनर्थक सिद्ध करना चाहते हैं, वह उचित नहीं है।

1.3.5 कौत्स की अन्य युक्ति का खण्डन

प्राचीन काल में शिष्टाचार व्यवस्था में जब गुरू आदि को शिष्य प्रणाम करते थे तो उसके साथ सदा अपना नाम लेकर ही प्रणाम करते थे। इसका कारण यह है कि शिष्य के अधिक होने के कारण कदाचित गुरू को शिष्य का नाम विस्मृत हो गया हो, इसलिए शिष्य अभिवादन के समय अपना नाम लेकर ही प्रणाम करते थे। इसी प्रकार जिसको मधुपर्क कर दिया जाता है वह जानता है कि मधुपर्क दिया जा रहा है फिर भी विधान के अनुसार **'मधुपर्को मधुपर्को मधुपर्कः प्रतिगृहयताम्'** तीन बार मधुपर्क पद का उच्चारण कर के मधुपर्क दिया जाता है यह उसकी ओर विशेष रूप से ध्यान आकृष्ट दिया जाता है इसी प्रकार अपने कर्तव्य को जानने वाला 'होता' को जो '**अग्नये सामिध्यमानायानुब्रूहि**' आदि प्रेरणा की जाती है उसका आशय यह है यदि मन को किसी

अन्य ओर चले जाने से उसको अपने का ध्यान न रहे तो उसी ओर उसका ध्यान दिलाया जाय। इस आधार पर मंत्रों को अनर्थक नही माना जा सकता है।

वेद मंत्र में 'निऋत्या ' इस प्रकार का संहिता पाठ पाया जाता है, परन्तु पदपाठकार ने उसका पदच्छेद भिन्न भिन्न प्रकार से किया है। यह भेद निरूक्त के ज्ञान के बिना नही किया जा सकता है। निरूक्त के ज्ञान के बिना मंत्रो के अर्थ का ज्ञान नही हो सकता है, इसलिए पहले से ही वेद के दो प्रकार के पाठ पाये जाते है एक संहिता पाठ है और दूसरा पद पाठ। मंत्रो के पद पाठ के कर्ता शाकटायन माने जाते है। पदों को अत्यन्त मिला देने से संहिता बनती है। इसलिए संहिता पाठ के साथ पदपाठ का ज्ञान भी आवश्यक है और सारे वैदिक शाखाओं के पार्षद अर्थात प्रतिशाख्य जो कि उन शाखाओं के व्याकरण रूप है पदो के आधार पर ही चलते है इसलिए पद पाठ का ज्ञान आवश्यक है। वेद को पढ़ने के बाद वेद के अर्थ का ज्ञान अत्यन्त आवश्यक बताया गया है अर्थ ज्ञान के बिना केवल वेद मंत्रो को कण्ठस्थ कर लेने, मात्र से कल्याण नही हो सकता है। अर्थ न जानकर केवल वेद को घोट लेने वाला व्यक्ति भारवाही गर्दभ के समान है इस प्रकार इसमें मंत्रार्थ को न जानने वाले अत्यन्त निन्दित बताया गया है और ज्ञान की प्रशंसा की गयी है। वेद के अर्थ का ज्ञान निरूक्त के बिना नही हो सकता है, इसलिए निरूक्त का पढ़ना अत्यन्त आवश्यक है। निरूक्त को पढ़कर और वेद के अर्थो को जानकर प्रशंसा प्राप्त करना अत्यंत आवश्यक है। वेद के अर्थ को न जानने वाले की निंदा निम्न श्लोक की गयी है-

यद धीतमविज्ञातं निगदेनैव शब्द्यते।
अनग्नाविव शुष्कैधो न तज्वलति कर्ह्चित्।।

इस श्लोक में वेद के अर्थ को न जानने की निंदा की गयी है। बिना अर्थ को समझे केवल वेद को कण्ठस्थ कर लेना व्यर्थ है। जैसे बिना अग्नि के सूखी से सूखी लकड़ी प्रज्वलित नही हो सकती हैं उसी प्रकार अर्थ ज्ञान के बिना वेद जैसी महत्वपूर्ण विद्या भी विफल व्यर्थ हो जाती है अतः वेदार्थ का ज्ञान अत्यन्त आवश्यक है। अतः अज्ञानी होने की निंदा से बचकर वेदों के अर्थ ज्ञान की प्राप्ति करना निरूक्त शास्त्र का महत्वपूर्ण प्रयोजन है।

1.3.6 ज्ञान की प्रशंसा के विषय में अन्यवचन

अज्ञान की निन्दा एवं ज्ञान की प्रशंसा के विषय में जो उपर प्रमाण उद्धृत किये गये है। वे प्रमाण वेद मन्त्र न होकर कही अन्यत्र के श्लोक है। इसलिए अब वेइ के अर्थ के प्रशंसा के विषय में वे मन्त्र भी प्रस्तुत करते है। उनमे से पहला मन्त्र है -

उतत्त्व: पश्यन् न ददर्श वाचमुतत्वः श्रृण्वन् न श्रृणोत्येनाम्।

उतोत्वस्मै तन्वं विसस्रे जायेव पत्ये उशती सुवासाः ।।(ऋ0 १0-७१-४)

हाथ, पैर, कान, और आँख आदि अंगो वाले सभी व्यक्ति समान रूप् से ही अध्ययन करते हैं परंतु अन्य एक व्यक्ति वाणी को देखता हुआ भी नही देखता है और अन्य (दूसरा) सुनता हुआ भी नही सुनता है सुन्दर वस्त्र धारण करने वाली पति अभिलाषिणी पत्नी के समान यह वाणी इस (वेदार्थ को जानने वाले) के लिए अपने शरीर को अनावृत कर देती है अगोपनीय बना देती है, खोल देती है।

एक (वेदार्थ को न जानने) (इस वाणी का) देखता हुआ भी नही देखता है और एक (वेदार्थ को न जानने वाला व्यक्ति) इस वाणी को सुनता हुआ भी नही सुनता है अर्थात् उसका स्वंय अपनी आँखो से देखकर पढ़ना या गुरू मुख से याद करना सब व्यर्थ है। और जो अर्थ को समझने वाला है उसके लिए वाणी अपने स्वरूप को इस प्रकार से खोलकर रख देती है जैसे (ऋतुकाल में) कामयमान और सुन्दर वस्त्रों से सजी हुई पत्नी अपने पति के लिए सम्पूर्ण स्वरूप (शरीर को) प्रकाशित कर देती है खोल देती है वस्त्र रहित हो जाती है। आधा पद्य कहता है।

1.4 सारांश

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप जान चुके हैं कि निरूक्त किसे कहते हैं तथा निरूक्त की आवश्यकता क्या है ? वेदांगों में निरूक्त का महत्वपूर्ण स्थान है। वेदों के अर्थ के ज्ञान के लिए निरूक्त को पढ़ना महत्वपूर्ण माना गया है। कौत्स ने वेदार्थ का खण्डन करते हुए कहा है कि वेद के मंत्रो के उच्चारण करने मात्र से फल की प्राप्ति होती है। वेदों के अर्थ ज्ञान की कोई आवश्यकता नही है किन्तु निरूक्त के रचनाकार यास्काचार्य ने कहा है कि वेद मंत्रो के उच्चारण के साथ अर्थ ज्ञान अत्यन्त आवश्यकता है। निरूक्त तथा अर्थज्ञान की आवश्यकता है। निघण्टु में क्या अंतर इसे आप बता सकते हैं।

1.5 शब्दावली

इदमन्तरेण मंत्रेषु अर्थ प्रत्ययो न विद्यते = मन्त्रों का अर्थ का ज्ञान निरूक्त के द्वारा होता है। इदमन्तरेण विभागो न विद्यते (ज्ञायते) = निरूक्त के द्वारा ही किसी पद को विभिन्न खण्डों में बाटा जा सकता है।

शब्द	**अर्थ**
यद्धीतम्	जो पढा गया
अविज्ञातम्	न जाना गया
अवसाय	भोजन के लिए
अनग्नाविव	अग्नि रहित
न तज्ज्वलति	सूखी लकड़ी नही जलती है
जलं	जल

आनय	लाओ
कुठार	कुदाल (मिट्टी खोदने वाला)
ओषधें	हे ओषधि
त्रायस्व	रक्षा करो
यूप	यज्ञ के खम्भा के लिए लकड़ी
पुरोडाश	हवन सामग्री
चक्षु	नेत्र
घ्राण	नाक
श्रोत्र	कान
पश्यन्न्	देखते हुए भी
न ददर्श	देखा नही
वाचम्	वाणी के
तन्वं विसस्रे	शरीर को
सुवासा	सुन्दर वस्त्र धारण की हुई

1.6 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

इस इकाई में वर्णित तथ्यों के अध्ययन के पश्चात् आप सभी अभ्यास प्रश्नों के उत्तर देनें का स्वयं प्रयास करें।

1.7 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. उमाशंकर शर्मा 'ऋषि' निरूक्तम् (यास्क प्रणीतम्) चौखम्भा विद्याभवन चौक (बनारस स्टेट बैकं के पीछे) पो. वा. नं. 1069 वाराणसी 221001

2. गोपाल दत्त पाण्डेय वैयाकरण सिद्धान्त कौमुदी भट्टोजिदीक्षित विरचित चौखम्भा सुर भारती प्रकाशन के 06/117 गोपाल मन्दिर लेनपो. वा0 नं. 1129 वाराणसी 221001

1.8 उपयोगी पुस्तकें

आचार्य विश्वेश्वर निरूक्तम् (श्री यास्काचार्य विरचित) ज्ञान मण्डल लिमिटेड वाराणसी 221001

1.9 निबन्धात्मक प्रश्न

1 वेदार्थ की आवश्यकता एवं उसका फल बताएं।

2. निरूक्त का महत्व बताइये।

3. निरूक्त सम्बन्धित आचार्यो के मतो की विवेचना कीजिए।

इकाई 2 : शब्द का नित्यत्व एवं भाव विकारों का विवेचन

इकाई की रूपरेखा

2.1 प्रस्तावना

2.2 उद्देश्य

2.3 निरूक्तकार एवं वैयाकरणादि के अनुसार शब्द का नित्यत्व एवं भावविकारों का विवेचन

2.3.1 शब्द का प्रतिपादन

2.3.2 शब्द की रचना एवं प्रकार

2.3.2.1 रूढ़ शब्द

2.3.2.2 यौगिक शब्द

2.3.2.3 मूल शब्द

2.3.2.4 उपसर्ग

2.3.2.5 प्रत्यय

2 .3.3 शब्द का नित्यत्वानित्यत्व विचार

2.4 सारांश

2.5 शब्दावली

2.6 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

2.7 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

2.8 उपयोगी पुस्तकें

2.9 निबन्धात्मक प्रश्न

2.1 प्रस्तावना

वैदिक साहित्य से सम्बन्धित यह द्वितीय इकाई है। इस इकाई के अध्ययन से आप बता सकते हैं कि शब्द किसे कहते हैं ? शब्द की रचना किस प्रकार होती है तथा शब्द की आवश्यकता क्या है ? यास्काचार्य द्वारा रचित निरूक्त में शब्द नित्य हैं या अनित्य हैं, इस विषय में मन्थन किया गया है। तथा इनके महत्त्व के बारे में विशेष प्रकार से बताया गया है।

यास्काचार्य द्वारा रचित निरूक्त में वेद के मन्त्रों के अर्थ व महत्त्वपर विशेष रूप से चर्चा की गयी है। भाव विकारों का भी विशेष रूप से विवेचन किया गया है। तथा वैयाकरणा आदि के अनुसार शब्द नित्य है या अनित्य इनके बारे में भी भली भाति विशेष रूप से चर्चा की गयी है। इस इकाई के अध्ययन से शब्द के नित्यत्वा नित्यत्व के बारे में आप भली भाति परिचित होंगे।

2.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् निरूक्त एवं वैयाकररण आदि के अनुसार शब्द के नित्यत्व एवं भावविकारों से परिचित होगें।

- शब्द किसे कहते है ,इसका प्रतिपादन कर सकेंगे।
- शब्द की रचना एवं प्रकार के बारे में आप परिचित होंगे।
- यास्काचार्य के मत में शब्द अनित्य है इसके बारे में आप परिचित होंगे।
- शब्द को अनित्य मानने में तीन दोष उपस्थित होते हैं, इसके बारे तें आप परिचित होंगे।
- वैयाकरण आदि के मत में शब्द नित्य हैं, इसके बारे में आप परिचित होंगे।
- षड्भाव विकारों के विषय में आप परिचित होंगे।

2.3 निरूक्त एवं व्याकरण के अनुसार शब्द का नित्यत्व तथा भावविकारों का विवेचन

2.3.1 शब्द का प्रतिपादन

वर्णों के समुदाय को 'शब्द' कहते हैं शब्द अकेले या दूसरे शब्दों के साथ मिलकर अपना अर्थ प्रगट करते हैं। उनको हम दो रूपों में देखते है - एक तो अपना बिना मिला हुआ है जिसको हम संस्कृत में प्रातिपदिक कहते हैं। और दूसरा जो रूप हैं। वह कारक, लिगं, वचन, पुरूष और काल बताने वाले अंश को आगे - पीछे लगाकर बनाया जाता है जिसको हम पद कहते हैं। शब्दों की रचना ध्वनि और अर्थ के मेल से होती है। एक या अधिक वर्णो के मेल से बनी अर्थवान ध्वनि को शब्द कहते हैं

लड़का, आ, वह, वे लोग इत्यादि। शब्द मूलतः दो प्रकार के होते हैं ध्वन्यात्मक और वर्णात्मक। किन्तु व्याकरण शास्त्र में ध्वन्यात्मक की अपेक्षा वर्णात्मक शब्दों का महत्व है। वर्णात्मक शब्दों में भी उन्हीं शब्दों का महत्व है जो अर्थवान है, जिनका अर्थ स्पष्ट और सुनिश्चित है। व्याकरण शास्त्र में अनर्थक शब्दों पर विचार नहीं किया जाता है। सामान्यतः शब्द दो प्रकार के होते हैं - 1. सार्थक 2. निरर्थक सार्थक शब्द अर्थवान होते हैं तथा निरर्थक शब्द अर्थवान नहीं होते हैं। जैसे फल शब्द अर्थवान है किन्तु 'लफ' शब्द अनर्थक है। क्योंकि इसका कोई अर्थ नहीं होता है।

2.3.2 शब्द की रचना एवं प्रकार

शब्दों अथवा वर्णों के मेल से नये शब्द निर्माण की प्रक्रिया को रचना कहते हैं। अनेक वर्णो के मेल से शब्द बनता हैं। जैसे - राम शब्द में दो खण्ड हैं - राम' और 'म' इन दोनों अलग अलग वर्णो का कोई अर्थ नहीं है इसलिए यह अर्थवान नहीं है किन्तु राम शब्द अर्थवान है। इसके विपरीत कुछ ऐसे भी शब्द है जिनके दोनो खण्ड सार्थक होते हैं।

जैसे - गणेश इस शब्द के दो अंश है - गण और ईश ये दोनो अलग अलग अर्थवान हैं। इस प्रकार बनावट के विचार से शब्द के तीन प्रकार हैं - 1. रूढ़ 2. यौगिक 3. योगरूढ़।

2.3.2 .1 रूढ़ शब्द

जिन शब्दों के खण्ड सार्थक न हो उसे रूढ़ कहते है ; जैसे - नाक, हाथ, पैर, कान। यहाँ प्रत्येक शब्द के खण्ड - जैसे 'ना' और 'क' 'हा' और 'थ' ये सभी शब्द अनर्थक होते हैं।

2.3.2.2 यौगिक शब्द

ऐसे शब्द जो दो या दो से अधिक शब्दों के मेल से बनते हैं उन्हें यौगिक कहते हैं जिनका दोनों शब्द या खण्ड सार्थक होते हैं जैसें - आग-बबूला, मीठा-पान, खट्टा-पन, गाय-वाला इत्यादि यहाँ प्रत्येक शब्द के दो खण्ड है दोनों खण्ड सार्थक है।

योग रूढ़ -ऐसे शब्द जो यौगिक होते हुए भी अर्थ की दृष्टि से अपने सामान्य अर्थ को छोड़कर किसी परम्परा से विशेष अर्थ के परिचायक हों योग रूढ़ कहते हैं। अर्थात् यह यौगिक शब्द सामान्य अर्थ को छोड़कर किसी विशेष अर्थ को बताने लगते हैं उसे योग रूढ़ कहतें हैं ;। जैसें - लम्बोदर, गंगाधर, पंकज, पाणिपाद, चक्रपाणि इत्यादि पंक जायते इति पंकजः अर्थात् 'पकंज' अर्थ होता है कीचड़ मे उत्पन्न पर इससे केवल कमल ही अर्थ लिया जाता है। अतः पंकज योग रूढ़ है। इसी प्रकार अन्य उदाहरण भी समझना चाहिए।

2.3.2.3 मूल शब्द

मूल या रूढ़ शब्द दूसरे शब्दों के मेल से नहीं बनते है; जैसे - हाथ, पैर, नाक, गला, कान, मुहँ, पेट इत्यादि। इन शब्दों के खण्ड सार्थक नही होते हैं। अतः ये मूल शब्द हैं।

2.3.2.4 उपसर्ग

'उपसर्ग' उस शब्दांश को कहते हैं जो किसी शब्द के पहले आकर उसका विशेष अर्थ प्रगट करता है उपसर्ग दो शब्दों (उपसर्ग) के मेल से बनता है। 'उप' का अर्थ होता है 'समीप' 'पास' या निकट में है। सर्ग का अर्थ होता है सृष्टि करना। उपसर्ग का अर्थ होता है। पास में बैठकर नये अर्थवाले शब्द का निर्माण करना। 'हार' के पहले प्र उपसर्ग लगा दियर जाय, तो एक नया शब्द प्रहार का निर्माण होता है जिसका नया अर्थ होता है मारना। अपने अर्थों को छोड़कर किसी दूसरे अर्थो का प्रगट कराने लगता है उसे उपसर्ग कहते हैं।

2.3.2.5 प्रत्यय

शब्दों के बाद जो अक्षर या अक्षर समुदाय लगाया जाता है उसे प्रत्यय कहते हैं। प्रत्यय दो शब्दों के मेल से बना है - प्रति अय। प्रति का 'अर्थ साथ में' और अय का अर्थ 'चलने वाला ' है। अर्थात् प्रत्यय का अर्थ है शब्दों के साथ चलने वाला या लगने वाला। प्रत्यय उपसर्गों के समान अविकारी शब्दांश हैं, जो शब्दों के बाद जोड़े जाते हैं। पाणिनि ने भी सूत्रों मे कहा है प्रत्ययः परश्च' अर्थात् प्रत्यय पर में होते हैं।

2.3.3 शब्द का नित्यत्वानित्यत्व विचार

शब्द के सम्बन्ध में यास्काचार्य ने एक विवाद पैदा करते है कि शब्द नित्य है या अनित्य। यह विवाद केवल यास्काचार्य रचित केवल निरूक्त में ही नहीं, व्याकरण शास्त्र, न्याय शास्त्र तथा पूर्वमीमांसा शास्त्र में भी उठाया गया है।

यास्काचार्य ने निरूक्त में कहा है कि ' इन्द्रियमनित्यं वचनामौ दुम्बरायणः' औदुम्बरायण के मत में शब्द अनित्य हैं क्योंकि ये वचन (शब्द) इन्द्रिय में नियत है (अर्थात् जब तक बक्ता बोलता है तब तक वागिन्द्रिय में विद्यमान रहता है और उसी प्रकार श्रोता जब तक सुनता है तब तक श्रवणेन्द्रिय में विद्यमान रहता है। न उसके पहले था और न बाद को रहता हैं। चूंकि सभी दार्शनिक इन्द्रियों को अनित्य मानते हैं इसलिए उनपर आश्रित शब्द भी अनित्य ही माने जायेंगे। और शब्द को अनित्य मानने वाले पक्ष में तीन दोष उपस्थित होते हैं प्रथम दोष यह है कि पदों का जो चार प्रकार का विभाग किया गया है।

1. नाम 2. आख्यात 3. उपसर्ग 4. निपात ये चार प्रकार का विभाग नही बन सकता क्योंकि वर्णो का समुदाय पद ही नहीं बन सकता है तो चार प्रकार का पद इकट्ठे करना और उनका चार प्रकार का विभाग किया जाना सर्वथा असम्भव है यह पहला दोष था। अब दूसरा दोष दे रहे हैं - शब्द क्रमशः उत्पन्न होने वाले हैं अर्थात् क्षणिक एवं अनित्य हैं। वर्णो के क्रमशः नष्ट हो जाने के कारण शब्दों का एक दूसरे के साथ उपदेश अर्थात् सम्बन्ध भी नहीं बन सकता। तीसरा दोष यह आता है कि

शास्त्र के द्वारा किया गया प्रकृति प्रत्यय का सम्बन्ध भी अनित्य है इसलिए व्याकरण शास़्त्र में लिखा हुआ इनका संयोग भी नहीं होगा। इस प्रकार शब्दों के अनित्यत्व पक्ष में तीन दोष माने गये हैं। इस प्रकार शब्द को इन्द्रिय में नियत अर्थात् अनित्य मानने में तीन दोष आ जाते है ऐसा कहा गया है। आगे इन तीनों दोषों का क्रमशः निवारण कर रहे हैं । इन तीनों दोषों के निवारण के लि 'व्याप्तिमत्वात्तुशब्दस्य' इस पंक्ति से शब्द की नित्यता के सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हैं। तु शब्द पूर्व पक्ष की व्यावृत्ति के लिए है। शब्द व्यापक है क्योंकि कालिक व्याप्ति से युक्त होकर सभी कालों में व्याप्त या विद्यमान अर्थात् शब्दों और अर्थो की पृथक सत्ता वक्ता और श्रोता दोनों के मन में रहती है। शब्द को सुनने पर जो सुनता है वही अर्थ जागृत हो जाता है। भले ही उस समय तक शब्द की सत्ता न रहे। यही सिद्धान्त स्फोट कहलाता है जिसके अनुसार शब्द को नित्य माना गया है। शब्दों के नित्य होने से -

1. पदों के चार विभागों की अनुपपत्ति 2. गुण प्रधान-भाव की अनुपपत्ति तथा 3. प्रत्यय विभाग की अनुपपत्ति रूप जो तीन दोष दिये थे उन सबका निवारण हो जाता है। इस प्रकार निरूक्तकार तथा औदुम्बरायण के मत में शब्द अनित्य होते हैं। वैयाकरणों के मत में शब्द नित्य है।
कुछ विद्वान शब्द को नित्य मानते हैं और कुछ विद्वान शब्द को अनित्य मानते हैं। इसके विषय में पाणिन्यादि का क्या मत है ? इस गम्भीर प्रश्न का उत्तर भाष्यकार पतन्जलि ने स्वयं न देकर अपने समय के एक महान और प्रामाणिक 'सग्रंह नामक' ग्रन्थ के लिए छोड़ दिया है। उसी ग्रन्थ में नित्यत्व पक्ष को गुण और दोष तथा अंनित्यत्व पक्ष के गुण और दोष दोनों का सम्यक् परीक्षण किया गया है। वहाँ का निष्कर्ष यही है कि शब्द नित्य हो चाहे अनित्य, व्याकरणं शास्त्र का मुख्य प्रयोजन यह है कि शब्द के साधुत्व और असाधुत्व का ज्ञान करना है। वैयाकरण और मीमॉसक शब्द को नित्य मानते है।

वैयाकरण प्रारम्भ से ही शब्द को नित्य मानते रहे हैं। आचार्य व्याडि ने एक लाख श्लोकों वाले 'संग्रह' नामक ग्रन्थ में इस विषय की पर्याप्त समीक्षा कर के गुण दोष प्रदर्शित किये है। उसके अनुसार साधुत्व शब्द ज्ञान के लिए व्याकरण शब्द की उपयोगिता दोनों ही पक्षों में मान्य है।आचार्य पाणिनि भी शब्दों को नित्य मानते हैं।इनके अनुसार तो केवल शब्द ही नही अपितु शब्द, अर्थ और सम्बन्ध ये तीनों नित्य मानते है। कार्य शब्द वादी नैयायिकों को भी प्रवाह- नित्यता शब्द नित्य मानना चाहिए। अर्थ भी जाति रूप् होने से अथवा प्रवाह की नित्यता से नित्य ही होता है। जब शब्द और अर्थ ये दोनो सम्बन्धी नित्य ही होता है। तो इनका सम्बन्ध भी स्वतः नित्य है।

अतः पाणिनि शब्दार्थ संबन्ध के स्रष्टा नही है अपि तु सिद्ध शब्द के स्मारक आचार्य है। इसी बात को कात्यायन ने सबसे पहले अपने वार्तिक में लिखा है-शब्द भी सिद्ध हैं, अर्थ भी सिद्ध है और इनका सम्बन्ध भी सिद्ध है- ऐसा मानते हुए भगवान पाणिनि ने अपने व्याकरण शास्त्र की रचना की है। भर्तृहरि रचित वाक्यपदीय ब्रह्मकाण्ड में भी शब्द की नित्यता के विषय में लिखा है-

नित्या शब्दार्थ सम्बन्धास्तत्राम्नाता महर्षिभिः ।
सूत्राणामनु तन्त्राणां भाष्याणाम्च प्रणेतृभिः ।। 2।।

सूत्र के निर्माण कर्ता (पाणिनि) अनुतन्त्र (वार्तिक) का निर्माण करने वाले कात्यायन और भाष्य का निर्माण करने वाले (पतन्जलि) आदि महर्षियों ने शब्द अर्थ और उनके सम्बन्ध को नित्य स्वीकार किया है।

सूत्रकार पाणिनि ने - **'पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम्'** इस सूत्र की रचना करके यह सिद्ध कर दिया है कि शब्दों की साधुता तथा लिंग और वचन के सम्बन्ध में जैसा लोक व्यवहार हो वैसा ही मानना चाहिए ।व्याकरण शास्त्र की रचना करने की प्रवृति से भी सिद्ध हो जाता है कि शब्द स्वभावतः साधु होते हैं।

वार्तिककार कात्यायन ने **'सिद्धे शब्दार्थ सम्बन्धे; सिद्धं तु नित्य शब्दत्वात्**, इन वार्तिकों के द्वारा शब्द, अर्थ और उनके सम्बन्ध को नित्य स्वीकार किया है।

भाष्यकार पतन्जलि ने भी - **संग्रहे एतत्प्राधान्येन परीक्षितम्, नित्यः शब्दः सर्वे सर्वपदादेशा दाक्षिपुत्रस्य पाणिनेः,** एकादेश विकारे ही नित्यत्वं नोपपद्यते ।' इत्यादि वचनों के द्वारा शब्दों की नित्यता को स्वीकार किया है।

किसी वैयाकरण ने यह कह दिया कि शब्द नित्य हैं इससे शब्द नित्य नही माना जायेगा। अतः बिना किसी युक्ति या प्रमाण के द्वारा शब्द को नित्य नही माना जा सकता है। क्योकि यह उचित नही है, जैसे व्यन्जक ध्वनि की उत्पत्ति और विनाश को वर्णो में आरोप करने से ककार उत्पन्न हुआ नष्ट हुआ आदि प्रतीतियाँ होती है । इसीलिए 'शब्द मुच्चारयति' यह प्रतीति होती है, 'शब्दमुत्पायति' यह प्रतीति नहीं होती है। दूसरे दिन सुने गये गकार को पुनः गकार को कहने से यह स्मरण हो जाता है कि यह वही गकार है इस प्रत्यभिज्ञात्मक ज्ञान के कारण शब्द की स्थिरता उतने दिन तक मान लेने पर नाश कहना उचित नहीं है। अतः इस अनुमान के द्वारा शब्द को नित्य कहना उचित है । जिन लोगों ने वर्ण, पद, और वाक्य को अनित्य माना है वे भी अनादि संसार में वृद्ध व्यवहार परम्परा के लगातार बने रहने के कारण शब्दों की नित्यता को स्वीकार किया है । न्याय वार्तिककार ने कहा है कि 'वर्ण' नित्य हैं' यह व्यवहार तो परम्परा का लगा रहना बताता है जैसे 'पृथ्वी' नित्य है, पर्वत नित्य हैं।

अथवा **'जाम्याख्यामेकस्मिनृ बहुवचनमन्यतरस्याम्, आकृत्युपदेशात् सिद्धम्'** इन सूत्रों और वार्तिकों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि 'शब्द नित्य है' इस वाक्य में शब्द पद से शब्द की आकृति विवक्षित है और व्याकरण शास्त्र इसी पक्ष को ध्यान में रखकर प्रवृत्त हुआ है। यह जाति नित्य होकर शब्द में रहती है इसलिए शब्द को नित्य माना गया है। घट शब्द के जाति के वाचक होने से भी सर्वदा अर्थ बोध नहीं होता क्योकि जाति अभिव्यक्त होकर ही अर्थ बोध करा सकती है। इसे ही जातिस्फोट वाद कहते हैं। शब्द और अर्थ का सम्बन्ध भी नित्यहै वह सम्बन्ध इन्द्रिय और विषय के प्रकाश्य और प्रकाशक की भाँति योग्यता रूप और कार्यकारण भाव रूप है।

योग्यता किसी के मत में बोध जनकता रूप और किसी के मत में वाच्यवाचक भावरूप शक्तिग्राहक तादात्म्य रूप है ।

इस प्रकार शब्द अर्थ तथा उसके सम्बन्ध के नित्य होने के कारण व्याकरण शास्त्र की उपयोगिता इसलिए है कि श्रुति ने शास्त्र द्वारा प्रदर्शित विधि के स्मरण के साथ शब्द के प्रयोग से धर्मोत्पत्ति कहा है । 'एकः शब्दः सम्यग् ज्ञातः सु प्रयुक्तः स्वर्गे लोके च कामधुग्भवति' अर्थात एक ही शब्द का अच्छी तरह से ज्ञान प्राप्त करने तथा अच्छी तरह से प्रयोग करने से इस लोक तथा स्वर्ग लोक दोनों जगह पुण्य मिलता है।

शब्द नित्य है तब उनमें किसी भी काल में कोई विकार नही आ सकता अतः उनका ठीक ज्ञान प्राप्त करना और व्याकरण के द्वारा व्याख्या करना उचित है । शब्दों का साधुत्व दो प्रकार का होता है। एक तो साधु शब्दों का बताकर शेष शब्दों को असाधु कह देना और दूसरा असाधु शब्दों को बताकर शेष को साधु कह देना इन दोनो क्रमों में साधु शब्दों को बताना उचित है क्योकि व्याकरण शास्त्र का प्रयोजन है सरल उपाय से शब्द समुदाय का ज्ञान कराना साधु शब्दों की अपेक्षा असाधु शब्द ज्यादा है । जैसे एक गो शब्द के ही गाणी, गोणी, गोपतलिका इत्यादि अनेक अपभ्रंश शब्द हैं ।

साधु शब्द के ज्ञान से धर्म की उत्पत्ति और अर्थ ज्ञान में सहायता मिलती है । वे ही शब्द पद और वाक्य, व्याकरण शास्त्र में लिंगो (पुल्लिंग, स्त्रीलिंग, नपुंसकलिंग) प्रकृति प्रत्यय और स्व शब्द से वर्णित है । अपने स्वरूप् ज्ञान के साथ पद और वाक्यों का ज्ञान कराते है ,पदरूप और वाक्यरूप, शब्द जो पदार्थो से विभक्त होते हैं वे अपोद्धार और जिनसे अर्थ का ज्ञान होता है वे प्रकृति और प्रत्ययकहलाते हैं, पद उनके अर्थ पदार्थ रूप अपोद्धार पदार्थ स्वरूप की रक्षा करते है वे स्थिति लक्षण अर्थ पदार्थ और वाक्यार्थ है ।

अपोद्धार पदार्थ में दो पद है। प्रथम पद अपोद्धार का अर्थ है विभाग और दूसरे पदार्थ पद का । सुप्तिङन्तं पदम् सूत्र से परिभाषित अर्थ यही है ।

2.4 वाक्यपदीय ब्रह्मकाण्डम् श्लोक २४ से २५

साधु शब्द और असाधु शब्दों से समानरूप से अर्थ ज्ञान होने पर भी शिष्टों के द्वारा प्राप्त व्याकरणागम से सिद्ध साधु शब्दों के प्रयोग से धर्म और असाधु शब्दों के प्रयोग से अधर्म की उत्पत्ति होती है ।**'एकः शब्दः सम्यग् ज्ञातः शास्त्रान्वितः सु प्रयुक्तः स्वर्गे लोके च कामधुग् भवति'**। इस श्रुति के अनुसार साधु शब्द के ज्ञान से धर्म की उत्पत्ति होती है। और **''तेऽसुरां हेलयो हेलय इति कुर्वन्तः परावभूवुः तस्मात्** ' इस श्रुति के द्वारा असाधु शब्द का ज्ञान अधर्म माना गया है अतः साधु शब्द का प्रयोग करना ही उचित माना गया है।

साधु शब्दों का ज्ञान व्याकरण शास्त्र के द्वारा ही हो सकता है। व्याकरण शास्त्र में भी यदि शब्द नित्य हो तो उनको भी साधुत्व कहना चाहिए। शब्दों की नित्यता के बारे में विद्वानो में अनेक मतभेद है

कोई नित्य मानता है तो कोई अनित्य मानते हैं।

जैसे वैशेषिक दर्शन के आचार्य आत्मा को नित्य एवं कूटस्थ मानते। इन्द्रिय को आत्मा मानने वाले चार्वाक दर्शन के आचार्य आत्मा को अनित्य मानने पर भी अनादि संसार प्रवाह को नित्य मानते हुए प्रवाह नित्यता मानते हैं।

2.5 भावविकारों का विवेचन

भाव - भवति इति भावः भावप्रधान अर्थात क्रिया की जिसमें प्रधानता हो उसे भाव प्रधान कहते हैं । भाव पद का अर्थ है क्रिया। पचति ,भवति, गच्छति, इत्यादि आख्यात पदों में क्रियांश की प्रधानता रहती है। इस प्रकार निरूक्त के रचयिता यास्काचार्य ने यह कहा है कि आख्यात में भाव अर्थात क्रिया की प्रधानता रहती है और नाम में अर्थात सत्व में लिगं कारक-सम्बन्ध -योग्यत्व रूप द्रव्य की प्रधानता होती है इसी बात को अधिक स्पष्ट करने के लिए यास्काचार्य ने लिखा है **'पूर्वापरीभूतं भावमाख्यातेनाचष्टे व्रजति, पचति इत्युपक्रमप्रभृति अपवर्गपर्यन्तम्।**

आगे पीछे किये जाने वाले आदि से लेकर अन्त तक (उपक्रम प्रभृति अपवर्गपर्यन्तम्) व्यापार समुदाय को जाता है पकाता है आदि आख्यात - पदों से कहा जाता है। अर्थात् 'पचति',भवति, गच्छति इत्यादि पद एक क्रिया के रूप में प्रतीत होती है परन्तु मह वक क्रिया मात्र नहीं हैं, अपितु अनेक क्रियाओं का समुदाय रूप होती है 'पचति' इस एक क्रिया के अन्दर चूल्हा जलाने से प्रारम्भ कर के बटलोई रचना, दाल डालना , नामक डालना, हल्दी डालना, तेल इत्यादि डालना, पात्र से उसको बार बार चलना, बार बार देखना पक जाने के बाद चूल्हा से उतारने तक के सारे व्यापार आ जाते हैं। इसी प्रकार 'गच्छति' जाता है, यह देखने में एक क्रिया प्रतीत होती है, परन्तु गमनानुकूल जो व्यापार है उसके अन्दर जाने की तैयारी से लेकर उदिष्ट-स्थान पर पहुच जाने तक नाना प्रकार का व्यापार समहित हो जाते हैं इस लिए क्रिया व्यापार समुदायात्मक होती है इसी 'भाव' अर्थातृ क्रिया या व्यापार को पौर्वापर्य से रहित एकीभूत रूप में कहना होता है तब आख्यात (तिङ्) पद से न कहकर पक्ता, गतः, भूतः, इत्यादि कृदन्त नाम - पदों के द्वारा कहा जाता है। वैयाकरणो का भी यही सिद्धान्त है।

'कुदमिहितो भावो द्रव्यवत प्रकाशते' इस वचन का यही अभिप्राय है कि जब (भाव) अथवा क्रिया को कृदन्त नाम पदों से के द्वारा कहा जाता है त बवह क्रिया के रूप में नहीं अपि तु द्रव्य के रूप में कहा जाता है त बवह क्रिया के रूप में नहीं, अवि तु द्रव्य के रूप में प्रतीत होता है। द्रव्य के रूप में प्रतीत होने का अर्थ यह है कि उसके साथ लिगं, वचन, विभक्ति आदि का प्रयोग होने लगता है।

'मूर्तसत्वभूतं' इस वाक्य में सत्वभूतं पद में भूत पद सादृश्य का वाचक है, जैसे पितृभूतं में भूत सादृश्य का द्योतक है। इसी प्रकार 'सत्वभूत' का अर्थ द्रव्य के समान यह कहना चाहिए द्रव्य वाचक शब्द तीनों लिगों में होते हैं। अर्थात् कृदन्त पदों में लिगं संख्या आदि का सम्बन्ध हो जाता है इसलिए उनको 'द्रव्य' अर्थात् द्रव्य शब्द के समान ही माना जाता है। अख्यात पदों से और कृदन्त पदों से कहे जाने वाले 'भाव' या क्रिया के इसी भेद को निम्न श्लोकों द्वारा निम्न प्रकार से दिखलाया जाता है -

क्रियासु बह्वीष्वमिसंश्रितों यः पूर्वापरीभूत इवैकएव।
क्रियाभिनिर्वृत्तिवशेन सिद्ध आख्यात शब्देन तमर्थमाहुः ।।

अर्थात् अनेक क्रियाओं मे रहने वाला पूर्वापरीभूत व्यापार कलाप आख्यात पद के द्वारा कहा जाता है।

क्रियाभिनिर्वृत्तिवशोपजातः कृ दन्तशब्दभिहितो यदास्यात्।
संख्याविभक्तिव्ययलिगंयुक्तो भावस्तदा द्रव्यमिवोपलेक्ष्यः ।।

अर्थात् वही भाव या व्यापार जब कृदन्त शब्दों के द्वारा कहा जाता है तब संख्या और विभक्तियों के परिवर्तन तथा लिगं आदि से युक्त होकर द्रव्य पदों के समान प्रतीत होता है। निरूक्त - 1-1

अर्थात् वही 'भाव' या व्यापार जब कृदन्त शब्दों के द्वारा कहा जाता है तब संख्या और विभक्तियों के परिवर्तन न तथा लिगं आदि से युक्त होकर द्रव्य पदों के समान प्रतीत होता है।

यहाँ पर यास्काचार्य ने **'गच्छति'** **'पचति'**, भवति, ये आख्यात पद हैं और **'गतः'** **'पक्तिः'** ये कृदन्त पद है आख्यात को तिङन्त कहते हैं। यहाँ पर आख्यात और तिडन्त दोनों का उदाहरण दिये है। ये दोनो उदाहरण सकर्मक धातुओं के हैं। सकर्मक उसे कहते हैं जिस धातु का फल और व्यापार दोनों अलग अलग हो, यथा- गच्छति कहने से गमनानुकून व्यापार कोई और कर रहा है और फल किसी और को मिल रहा है 'रामःग्रामं गच्छति' यहाँ पर गमनानुकूल व्यापार राम कर रहा है और फल राम को मिल रहा है। इसी प्रकार 'रमेशः' तण्डुलान् ओदनं पचति' यहाँ पर पचनानुकूल व्यापार रमेश कर रहा है और फल तण्डुल को मिल रहा है इसी लिए ये दोनो उदाहरण सकर्मक का है। परन्तु उनमें से एक 'कर्तृस्थभावक' और दूसरा 'कर्मस्थभावक' है। जहाँ पर क्रिया का फल कर्ता में समाप्त हो जाता है, वह कर्तृस्थभाव क्रिया कहलाती है। यहाँ **'गच्छति'** क्रिया '**कर्तृस्थभावक**' है, क्योकि देवदन्त के गमन से कर्मभूत जो ग्राम है उस ग्राम में कोई परिवर्तन नही होता है। पचति क्रिया के कहने से कर्मभूत जो तण्डुल में विक्लिति रूप परिर्वन होता है इसलिए यह कर्मस्थभावक क्रिया है। अकर्मक धातुओं में कर्म नही होता है। जैसे 'रामः शेते' यहाँ पर शयनानुकूल जो व्यापार कर रहा है, वह राम कर्ता के अन्दर हो रहा है तथा फल भी राम को ही मिल रहा है इसीलिए यह अकर्मक है। यहा **'गच्छति'** **'पचति'** दोनो में कर्म होने से कर्तृस्थ भावक एवं कर्मस्थ भावक है।

भावविकार

मुख्य रूप से छः प्रकार के क्रिया के भेद (विकार) माने गये हैं। यह आचार्य वार्ष्यायणि का मत है।

1. 'जायते = उत्पन्न होता है, **2. अस्ति** = रहता है, **3. विपरिणमते** = परिवर्तित होता है, **4. वर्धते** = बढ़ता हैं, **5. अपक्षीयते** = क्षीण होता है, और **6. विनश्यति** = नष्ट होता है। यही छः प्रकार के भावविकार है।

1. **जायते** - उत्पन्न होना वस्तु के प्रथम आविभग्न (पैदा होना) आरम्भ को सूचित करता है आने वाली जो बाद की क्रियायें हैं न उनको कहता है और न निषेध करता है।

2. **अस्ति -** यह उत्पन्न हुए पदार्थ की स्थिति को कहता है। अर्थात् उत्पन्न होने वाली वस्तु की सत्ता मालुम होती है।

3. **विपरिणमते** - परिवर्तित (वदलना) से तत्व का नाश हुए बिना उसमें होने वाले परिवर्तन को कहता है।

4. **वर्धते** - वृद्धि दो प्रकार की होती है। एक तो अपने शरीर की वृद्धि अथवा दूसरी सांयागिक (बाहरी) पदार्थो की जैसे शरीर बढ़ रहा है , यह सांयोगिक अर्थो की वृद्धि है।

5. **अपक्षीयते** इसी को उलटा कर देने से क्षीण होने की व्याख्या भी समझनी चाहिए।

6. **विनश्यति** - विनाश अन्तिम क्रिया के आरम्भ को कहता है पूर्व क्रिया को नही कहता है न उसका निषेध करता है।

मुख्यरूप से क्रियाके छः भेद माने गये है। इनसे भिन्न दूसरी क्रियाओं के सम्पूर्ण भेद निष्पद्यते विकसति, पच्यते इत्यादि इन के ही भेदों में आ जाते है। ऐसा बार्ष्यायियणि का मत है।

2.4 सारांश

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप जान चुके हैं कि शब्द किसे कहते हैं। शब्द की आवश्यता क्या है ? शब्दों की रचना ध्वनि और अर्थ के मेल से होती है। एक मा अधिक वर्णो के मेल से बनी अर्थवान ध्वनि को शब्द कहते हैं। मूलतः शब्द दो प्रकार के होते है ध्वन्यात्मक और वर्णात्मक शब्दों का अधिक महत्व है। वर्णात्मक में भी उन्ही शब्दों का महत्व है जो अर्थवान हैं व्याकरण शास्त्र में अनर्थक शब्दों पर विचार नहीं किया जाता है। इस इकाई में निरूक्तकार और दुम्बरायण शब्द को अनित्य मानते है किन्तु वैयाकरण शब्द को नित्य मानते हैं। नित्यानित्य का वर्ण करते हुए षड्भाव विकारों का भी वर्णन इस इकाई में किया गया है।

2.5 शब्दावली

शब्द	अर्थ
लम्बोदर	लम्बा पेटवाला
पंकज	कमल

पाणिपाद	हाथ पैर
सृष्टि	पैदा होना
शब्दार्थ	शब्द और अर्थ
नित्य	शाश्वत
साधु शब्दः	शुद्ध शब्द
असाधु शब्दः	अशुद्ध शब्द
संग्रहे	संग्रह में
दाक्षि पुत्रस्य	दाक्षि के पुत्र का
विकारे	विकार में
नोपपद्यते	नहीं कहा जा सकता
शब्दमुत्पादयति	शब्द को उत्पन्न करता है।
विवक्षित	कहने की इच्छा
शक्ति	अर्थ
जाति	समुदाय
व्यक्ति	समुदाय में से एक
घट	घडा
बोध जनकता	ज्ञानजनक
शक्ति ग्राहक	अर्थ को ग्रहण करने वाला
आकृति	स्वरूप
श्रुति	वेद
एकः	एक
सम्यग्	अच्छी प्रकार से
ज्ञातः	जाना गया
स्वर्गे	स्वर्ग में
लोके	लोक में
स्फोट	ध्वनि जिससे अर्थ की प्रतीति हो

2.6 अभ्यासार्थ प्रश्न

(1) लधु - उत्तरीय प्रश्न

1. शब्द किसे कहते है ?
2. वाक्य किसे कहते है ?
3. शब्द कितने प्रकार के होते हैं ?
4. ध्वनि को क्या कहते है ?

5. सामान्यत शब्द कितने प्रकार के होते हैं ?
6. रचना किसे कहते हैं ?
7. योगरूढ़ किसे कहते है ?
8. मूल शब्द का उदाहरण क्या है ?
9. उपसर्ग किसे कहते हैं ?
10. प्रत्यय किसे कहते हैं ?

(2) बहुविकल्पात्मक प्रश्न

1. वर्णों के समुदाय को कहते हैं -

(क) शब्द (ख) अर्थ

(ग) सम्बन्ध (घ) शक्ति

2. मूलतः शब्द कितने प्रकार के होते हैं -

(क) तीन (ख) चार

(ग) दो (घ) एक

3. यास्काचार्य के मत में शब्द हैं -

(क) नित्य (ख) अनित्य

(ग) नित्य अनित्य दोनों (घ) नित्य अनित्य दोनों नहीं

4. वैयाकरणों के मत में शब्द है -

(क) अनित्य (ख) नित्य

(ग) नित्यानित्य दोनों (घ) नित्यानित्य दोनों नहीं

5. साधु शब्दों का ज्ञान किस शास्त्र के द्वारा होता है -

(क) न्याय शास्त्र (ख) व्याकरण शास्त्र

(ग) दर्शन शास्त्र (घ) साहित्य

6. भावविकार कितने प्रकार के होते हैं -

(क) तीन (ख) चार

(ग) पाँच (घ) छः

2.7 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. उमाशकरं शर्मा 'ऋषि' निरूक्तम् (यास्कप्रणीतम्)
चौखम्भा विद्याभवन चौक (बनारस स्टेट बैकं के पीछे)पो. वा. नं. 1069 वाराणसी 221001
2. गोपाल दत्त पाण्डेय वैयाकरण सिद्धान्त कौमुेदी भट्टोजिदीक्षित विरचित चौखम्भा सुरभारती प्रकाशन के 06 / 117 गोपाल मन्दिर लेन। पो. वा0 नं. 1129 वाराणसी 221001

2.8 उपयोगी पुस्तकें

आचार्य विश्वेश्वर निरूक्तम् (श्री यास्काचार्य विरचित) ज्ञानमण्डल लिमिटेड वाराणसी 221001

2.9 निबन्धात्मक प्रश्न

1. भाव विकारों का विवेचन कीजिए।
2. निरूक्त पर एक विस्तृत निबन्ध लिखिए।
3 . यास्काचार्य का परिचय दीजिए।

इकाई 3: निरूक्त के अनुसार शब्दों का विभाजन, भाव एवं सत्व का स्वरूप

इकाई की रूपरेखा

3.1 प्रस्तावना

3.2 उद्देश्य

3.3 निरूक्त के अनुसार शब्दों का विभाजन, भाव एवं सत्व का स्वरूप

3.4 सारांश

3.5 शब्दावली

3.6 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

3.7 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

3.8 उपयोगी पुस्तकें

3.9 निबन्धात्मक प्रश्न

3.1 प्रस्तावना

वैदिक साहित्य से सम्बन्धित यह तीसरी इकाई है। इस इकाई के अध्ययन से आप बता सकते हैं कि निरूक्त के अनुसार शब्द कितने प्रकार के होते हैं ? प्रत्यक्षवृत्ति शब्द किसे कहते हैं ? परोक्ष वृत्ति शब्द किसे कहते है ? इन प्रश्नों के उत्तर आपको इस इकाई से प्राप्त होंगे।

यास्काचार्य द्वारा रचित निरूक्त में पृषोदरादि गण में पठित शब्द किसके समान समझे जाते हैं इसके बारे में आप भली - भाँति परिचित होंगे। उपसर्ग क्या है ? उपसर्ग कितन प्रकार के होते हैं उपसर्ग का प्रयोग कहाँ किया जाता है, इसके बारे में आप विशेष रूप से परिचित होगे।

निपात का अर्थ क्या है , निपात किसे कहते हैं ? निपात कितने प्रकार के होते हैं ? इस सन्दर्भ में आप अवगत हो सकेंगे ।

3.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् यास्काचार्य के द्वारा रचित निरूक्त के अनुसार शब्दों के विभाजन भाव एवं सत्व के स्वरूप के बारे में जानते हुए आप -

- निरूक्त के अनुसार शब्द कितने प्रकार के होते हैं, इसका प्रतिपादन आप कर सकेंगे।
- प्रत्यक्ष वृत्ति शब्द क्या है ? इसका विश्लेषण आप कर सकेंगे।
- परोक्ष वृत्ति शब्द किसे कहते है ? इसका विश्लेषण आप कर सकेंगे।
- आख्यात क्या है ? इसका विश्लेषण आप कर सकेंगे।
- नाम क्या है ? इसका लक्षण क्या है इसका विश्लेषण आप कर सकेंगे।
- उपसर्ग क्या है ? इसका विश्लेषण आप कर सकेंगे।

3.3 निरूक्त के अनुसार शब्दों का विभाजन भाव एवं सत्व का स्वरूप

शब्द क्या है ? तथा वे कितने प्रकार के मुख्य रूप से होतें हैं ,इन सबका वर्णन दूसरी इकाई में किया गया है। इस इकाई में निरूक्त के अनुसार शब्दों के विभाजन पर प्रकाश डाला गया है।

निरूक्त के अनुसार शब्दों का विभाजन तीन प्रकार से किया गया है -

1. प्रत्यक्ष वृत्ति
2. परोक्ष वृत्ति और

3. अतिपरोक्ष वृत्ति

1. **प्रत्यक्ष वृत्ति**

जिनमें धातु और प्रत्यय आदि का विभाग स्पष्ट रूप से प्रतीत होता है उनको प्रत्यक्ष वृत्ति शब्द कहते हैं। जैसे पाचकः पच् धातु (पकाने के अर्थ) में ण्वुल् तृचौ सूत्र से ण्वुल् प्रत्यय् होकर पच् + ण्वुल बना। णकार तथा लकार दोनों की इत्संज्ञा तथा तस्य लोपः से लोप होकर पच् वु बना। वु के स्थान में युवोरनाकौ सूत्र से अक् प्रत्यय होकर पच्अक बना। अत उपधायाः सूत्र से ण में जो आकार है उसकी वृद्धि आ कार होकर पाच् अक बना। पुन: वर्ण सम्मेलन होकर पाचक बना। प्रथमा विभक्ति एक वचन की विवक्षा में सु प्रत्यय होकर पाचक सु बना। उकार की इत्संज्ञा तथा सकार को रूत्व विसर्ग होकर पाचकः प्रयोग बनता है।

कारक

कृ धातु करने अर्थ में ण्वुल्तृचौ सूत्र से ? ण्वुल् प्रत्यय होकर कृ +ण्वुल् बना ण्कार ल् कार की इत्संज्ञा तथा तस्य लोपः सूत्र से लोप होकर कृ वु बना। युवोरनाकौ सूत्र से वु के स्थान में अकं होकर कृअक बना। ठाकार की इत्सज्ञा होने से अचोणिति सूत्र से कृ में जो ऋकार है उसकी वृद्धि आर होकर क् आर अक बना। वर्ण सम्मेलन होकर कारक की निष्पत्ति । सु रूत्व विसर्ग होकर कारकः बना है। इसी प्रकार हृ धातु से ण्वुल् प्रत्यय होर हारकः प्रयोग बनता है। इसी प्रकार अन्य प्रयोग भी समझना चाहिए। इन्हीं शब्दों को प्रत्यक्ष वृन्ति शब्द कहते है। क्यों कि जिनमें धातु और प्रत्यय का विभाग स्पष्ट रूप से प्रतीत होता हो तो ‘प्रत्यक्ष वृति रूप‘कहा गया है। जैसे पाचकः का अर्थ है पकाने वाला इसमें धातु है ‘पच्‘ प्रत्यय है ‘ण्वुल‘ ये धातु तथा प्रत्यय दोनों मिलकर पाचकः बना है। इसमें धातु और प्रत्यय का स्पष्ट रूप से प्रतीत होने के कारण प्रत्यक्ष वृत्ति शब्द कहा जाता है। जिन शब्दों में धातु-प्रतयय आदि का विभाग उतना स्पष्ट नहीं होता है, उनको परोक्ष वृन्ति शब्द कहते हैं और जहाँ धातु प्रत्यक्ष आदि का विभाग बिल्कुल प्रतीत नहीं होता, सर्वथा कल्पना से प्रतीत होता है उनको अतिपरोक्ष वृ त्ति शब्द कहते हैं।

परोक्षवृत्ति शब्दों का भी प्रयोग सरलता से हो सकता है, परन्तु अतिपरोक्षवृत्ति शब्दों के प्रयोग में बहुत कठिनाई होती है। इसलिए उनके प्रयोग के विषय में यह सिद्धान्त स्थिर किया गया है कि अतिपरोक्षवृत्ति शब्द को पहिले ' परोक्षवृत्ति’ और फिर प्रत्यक्षवृत्ति बनाना चाहिए। अथवा दूसरी ओर से देखे तो पहिले प्रत्यक्षवृत्ति और 'परोक्षवृत्ति’ रूप देकर तक अतिपरोक्ष वृत्ति रूप देना चाहिए। इस प्रकार का क्रम बनाने से इसका अब भावार्थ स्पष्ट हो जाता है। इस नियम को मानकर के यहा निघण्टु शब्द का निर्वचन किया गया है। निधन्तु शब्द 'अतिपरोक्ष’ वृत्ति है। निघण्टु शब्द उसका परोक्षवृत्ति रूप है। और निगम उसका प्रत्यक्ष वृत्ति रूप है। निघण्टु के जो शब्द है। वह निश्चित रूप से वेद के अर्थ का ज्ञान कराने वाले हैं। इसलिए वे निगम कहलाते हैं। निगम शब्द का अर्थ और धातु प्रत्यय का विभाग स्पष्ट होने से वह प्रत्यक्षवृत्ति रूप शब्द हैं। उससे परोक्षवृत्ति निघण्टु रूप और

उसका अर्थ सरलता से समझ लिया जाता है। फिर उसके द्वारा उसके अतिपरोक्षवृत्ति शब्द निघण्टु का अवयवार्थ भी स्पष्ट रूप से समझ में आ जाता है। इसलिए अतिपरोक्षवृत्ति शब्दों के निवर्चन में इस प्रक्रिया का आश्रय लिया गया है।

शब्दों की व्याकरणादि शास्त्रों में प्रधानता

'प्रत्यक्षवृत्ति' 'परोक्षवृत्ति' और 'अतिपरोक्षवृत्ति' इन तीन प्रकार के शब्दों का जो विभाग किया गया है। वे केवल निरूक्त में ही नहीं अपितु सर्वत्र माना जाता है पर उनके नाम और जगह भिन्न हैं। साहित्य आदि शास्त्रों में जो रूढ यौगिक,योग रूढ़ नाम से शब्दों को तीन प्रकार से विभाग किया गया है उसी शब्दों को यहाँ पर 'प्रत्यक्षवृत्ति' 'परोक्षवृत्ति' और अतिपरोक्षवृत्ति नामों से कहा जाता है। इन तीन प्रकार के शब्दों में से व्याकरण शास्त्र को क्षेत्र सामान्यतः प्रत्यक्ष वृत्ति अर्थात् यौगिक शब्दों तक सीमित है। अष्टाध्यामी के सूत्र किसी धातु से अथवा किसी प्रातिपदिक से किसी विशेष प्रत्यय का विधान कर शब्द की सिद्धि करते है। जिन पदों में यह प्रकृति और प्रत्यय का विभाग स्पष्ट रूप से दिखायी देता है वे ही प्रत्यक्षवृन्ति या यौगिक पद कहे जाते हैं। अष्टाध्यामी के सूत्रों या व्याकरण के नियमों के अनुसार बनने वाले सभी पदों में प्रकृति प्रत्यय का विभाग प्रायः स्पष्ट हो जाता हैं। इस लिए वे सब प्रायः प्रत्यक्ष वृत्ति शब्द होते है। उन प्रत्यक्ष वृत्ति शब्दों में व्याकरण स्वयं अर्थ की प्रधानता को मानकर तदनुसार ही प्रकृति प्रत्यय की योजना करता है।

परोक्ष वृत्ति

अष्टाध्यायी के आधार पर संस्कृत भाषा की सिद्धि हो जाती है। फिर भी भाषा का बहुत बड़ा भाग ऐसा रह जाता है, जो अष्टाध्यायी के सूत्रों के नियन्त्रण में नही आता है। ऐसे शब्द विभाग के लिए पाणिनि मुनि ने उणादयो बहुलम् (३.३.१) सूत्र लिखकर इस प्रकार के शब्दों को अष्टाध्यामी के सूत्रों के बन्धनों मुक्त कर दिया है। इस प्रकार के शब्दों में मुख्यरूप से परोक्ष वृत्ति तथा सामान्य रूप अन्य शब्दों का अन्तर्भाव होता है। पाणिनि मुनि के इस उणादयोबहुलम् सूत्र की पूर्ति शाकटायन प्रणीत पाँच पादों में विभक्त किये हुए उणदि सूत्रों के द्वारा होती है इन इत्यादि सूत्रों के द्वारा जिन शब्दों की सिद्धि होती है, उनमे भी प्रकृति प्रत्यय का विभाग तो होता है, परन्तु वह उतना अधिक नियमों से बधा हुआ नहीं है जितना अष्टाध्यायी के सूत्रों के द्वारा किया जाने वाला विभाग। इसलिए हम उनको परोक्षवृत्ति शब्द कह सकते हैं।

उणादि शब्दों की सिद्धि के विषय में सामान्य नियम का प्रतिपादन करते हुए महाभाष्यकार ने लिखा है कि -

" संज्ञासु धातुरूपाणि प्रत्ययाश्च ततः परे।
कार्मद्विद्यादनुबन्धमेतच्छास्त्रमुणादिषु ॥''

इसका अभिप्राय यह हुआ कि परोक्ष वृत्ति संज्ञा शब्दों अर्थात् रूढ़ पदो में धातु का अर्थ क्या है,

उससे पर कौन सा प्रत्यय हुआ है और उस प्रत्यय के अन्त में लुप्त होने वाला 'अनुबन्ध' कौन सा है, इस बात को कार्य के द्वारा अर्थात् प्रयोग के द्वारा जानना चाहिए अर्थात् उणादि से सिद्ध होने वाले पदों में धातु, प्रत्यय अनुबन्ध आदि की कल्पना आवश्यकता के अनुसार की जाती है। अष्टाध्यायी जैसे कठोर अनुकरण वहाँ सम्भव नहीं है। इस प्रकार कठोर बन्धनों से मुक्त कर दिया है इसलिए उनमे भी व्याकरण की उपयोगिता हो जाती है।

अतिपरोक्ष वृत्ति

उपर दिखलाया गया है कि शुद्ध व्याकरण अथवा अष्टाध्यायी के क्षेत्र मे प्रायः प्रत्यक्षवृत्ति शब्द ही आते हैं। परोक्षवृत्ति शब्द प्रायः शिथिल - व्याकरण अर्थात् उणादि के क्षेत्र में आते हैं। उनमें व्याकरण का नियन्त्रण शिथिल पड़ जाता है। और आवश्यकता के अनुसार धातु, प्रत्यय, अनुबन्ध आदि की अर्थानुसारिणी कल्पना को व्याकरणानुमोदित अवकाश मिल जाता है। पर इन दोनों प्रकार के शब्दों से भिन्न तीसरे प्रकारके शब्द और है जिनको अतिपरोक्षवृत्ति शब्द कहते है। पाणिनि ने इनको उणादि के क्षेत्र से अलग करके 'पृषोदरादि' के क्षेत्र में रखा है और उनमें प्रकृति प्रत्यय आदि की चिन्ता बिना किये ही 'पृषोदरादीनियथोपदिष्टम् (६-१-१०१) सूत्र लिखकर वे जिस रूप में लोक में प्रयुक्त होते है उसी रूप में ज्यों का त्यों उनको सिद्ध मान लिया है। इस प्रकार के पदों में अर्थ की प्रधानता को ध्यान में रखकर आवश्यकता के अनुसार वर्ण का आगम वर्ण का विपर्यय अर्थात् पौर्वापर्य रूप क्रम का परिर्वतन, वर्ण का लोप और वर्णका विकार अर्थात किसी वर्ण के स्थान पर अन्य वर्ण का आदेश आदि अनेक प्रकार के परिवर्तन हो जाते है। जैसे मेध का वाचक 'बलाहक' शब्द लोक में प्रचलित हैं। इस शब्द में कोई प्रकृति प्रत्यय का कोई विभाग प्रतीत नहीं होता हैं। इस लिए यह 'अतिपरोक्षवृत्ति' शब्द कहा जाता है। वह न अष्टध्यायी के नियमों के बन्धन में आता है और न उणादि के क्षेत्र में आता है। वह इस पृषोदरादि गण के क्षेत्र से सम्बन्ध रखता है। इस लिए उसके अर्थ की प्रधानता का ध्यान रखकर वारिवाहक शब्द से उसके 'बलाहक' रूप की सिद्धि की जाती है। इसमें पूर्व पद 'वारि' के स्थान पर 'ब' और उत्तर पद के 'वा' के स्थान पर ला आदेश होकर 'वारिवाहकः' रूप बनता है।

पृषोदरादिगण आकृति गण है। पृषोदर शब्द के समान सभी अतिपरोक्ष वृत्ति शब्दों का उसमें अन्तभाव हो जाता है। पृषोदरादिगण में किस प्रकार के शब्दों को लिया जाना चाहिए , इसका प्रतिपादन करते हुए महाभाष्यकार ने लिखा है -

''येषु लोपागमवर्णविकाराः भूयन्ते न चोच्यन्ते तानि पृषोदरादि प्रकाराणि।''

अर्थातृ जिसमे लोप आगम वर्णविकार अर्थात् आदेश क्रम-विपर्यय आदि सुनाई देते है, किन्तु किसी सूत्र के द्वारा उनका विधान नहीं किया जाता है, वे शब्द पृषोदरादिगण के समान समझे जाते है। इसके अनुसार निघण्टु आदि जो शब्द है वे शब्द पृषोदरादिगण के अन्तर्गत हो जाते हैं। इस लिए यास्काचार्य ने निघण्टु शब्द की व्युत्पत्ति व्याकरणानुमोदित किया है। यास्काचार्य द्वारा रचित

निरूक्त का क्षेत्र यही से प्रारम्भ होता है। प्रत्यक्ष वृत्ति शब्द अष्टाध्यायी के क्षेत्र में आते हैं। जिसमें प्रकृति प्रत्यय का विभाग होने पर भी स्पष्ट सा प्रतीत होता है। उस प्रकार के 'परोक्ष वृत्ति' शब्द उणादि गणके क्षेत्र मे आते हैं। और जहॉं प्रकृति प्रत्यय का विभाग बिल्कुल प्रतीत नहीं होता है, वर्णो का लोप, आगम, वर्ण विकास, अर्थात् आदेश क्रम-विपयर्य आदि दिखलाई देता हैं, परन्तु किसी सूत्रादि से उसका विधान नहीं मिलता है, वे सब शब्द अतिपरोक्षवृत्ति ' शब्द निरूक्त के क्षेत्र में माने जाते हैं। व्याकरण मे ये शब्द पृषोदरादिगण के क्षेत्र में माने जाते है। सूत्र की व्याख्या में लोप, आगम, वर्णविकार आदि का उदाहरण - सहित प्रदर्शन करते हुए लिखा है -

भवेद् वर्णागद्धंसः सिंहो वर्णविपर्ययात।
गूढ़ोत्मा वर्णविकृतेवर्णनाशत् पृषोदरम्। (गणवार्तिकम्)

और यहीं पद्धति निरूक्त की है। निर्वचन प्रक्रिया का प्रतिपादन करते हुए लिखा है -

वर्णागमो वर्णविपर्ययइच दौ चापरौ वर्णविकार नाशौ।
धातोस्तर्थातिशयेन योगः तदुच्यते पन्चविधं निरूक्म्। ।(दुर्गाचार्यवृत्ति)

निरूक्त प्रक्रिया और पृषोदरादि प्रक्रिया के प्रतिपादन इन दोनों श्लोको की तुलना करने से स्पष्ट हो जाता है कि वे दोनों प्रक्रियाएँ एक ही है। पृषोदरादि प्रक्रिया को पाणिनि मुनि ने अपने शास्त्र के अन्तर्गत रखने का प्रयत्न किया है। परन्तु वस्तुतः वह उनका अपना क्षेत्र नहीं है, निरूक्त का क्षेत्र है। उसे हम व्याकरण की सीमा कह सकते हैं।

भाव एवं सत्त्व का स्वरूप

व्याकरण आदि शास्त्रों में लौकिक शब्दों को चार वर्गो में विभाजित किया गया है। 1. नाम, 2. आख्यात, 3. उपसर्ग 4. निपात।

इसी प्रकार निघण्टु में संग्रहीत वैदिक शब्द भी चार वर्गो में विभक्त किये जा सकते हैं। इनमें से पचति, गच्छति, पठति आदि आख्यात (तिङ्) पदों में क्रिया के अंश की प्रधानता रहती है। और उसी पच् धातु से कृदन्त में पाकः आदि नाम' पदों क्रिया गौण होकर द्रव्याश की प्रधानता हो जाती है। इसलिए निरूक्तकार यास्काचार्य ने आगे 'भावप्रधानमाख्यातम्' और सत्त्व प्रधानानि नामानि ये नाम और आख्यात के लक्षण किये हैं। 'भाव प्रधानम्' में 'भाव' पद का अर्थ ' क्रिया' है। पचति, गच्छति, आदि आख्यात (तिङ्) पदों में क्रिया अंश की प्रधानता रहती है। 'सत्त्व प्रधानानि' में सत्व' शब्द का अर्थ क्रिया से भिन्न द्रव्य है । पाकः, गतिः, आदि 'नाम' पदों में, पुलिगं, स्त्रीलिगं, नपुंसकलिंग तथा कारक विभक्तियों का योग रहता है। इसी लिंग - कारकादि-सम्बन्ध -योग्यत्व को में सत्त्व या द्रव्यांश की प्रधानता रहती है। इसी बात को ग्रन्थकार यास्काचार्य इस प्रकार लिखते हैं। - 'तद्यान्येतानि' इत्यादि। दूसरे स्थान पर नाम का लक्षण निम्न प्रकार से किया गया है।

शब्देनोच्चारितेनेह येन द्रव्यं प्रतीयते।

तदक्षरविधौ युक्तं नामेत्याहुर्मनीषिणः।।
अन्यत्र भी 'नाम' का लक्षण इस प्रकार पाया जाता है -
अष्टौ यत्र प्रयुज्यन्ते नानार्थिषु विभक्तयः।
तन्नाम कवयः प्राहुर्भेद वचनलिगंयोः ।।

'भाव प्रधानमाख्यातम्' सत्व प्रधानानि नामानि ' इस पंक्ति की व्याख्या अन्य प्रकार से भी की गयी है। उनका स्थान है कि भाव, काल, कारक, अथात् पुरूष और संख्या ये चार आख्यात के अर्थ होते है । इन चारों में से 'भाव' सबसे प्रधान अर्थ है, इसलिए आख्यात को भाव प्रधानमाख्यातम कहा गया है। इसी प्रकार सत्ता, द्रव्य, संख्या, और लिगं मे चार 'नाम' के अर्थ माने गये हैं। इन चारों में सत्ता प्रधान नामार्थ होता है, इसलिए सत्व प्रधानानि नामानि पद कहा गया है। दूसरे स्थान पर नाम, आख्यात, उपसर्ग ओर निपात चारों प्रकार के पदो का लक्षण एक ही श्लोक में नीचे दिया गया है।

" क्रियावाचकमाख्यातमुपसर्गो विशेष कृत।
सत्वाभिधायकं नाम निपातः पादपूरणम् ।।''(दुर्गाचार्यवृत्ति)

नाम और आख्यात गुणप्रधान भाव

इस वाक्य का अभिप्राय यह है कि प्रत्येक वाक्य में नाम और आख्यात, संज्ञा और क्रिया या कर्ता और क्रिया बोधक पद अवश्य रहते हैं। ये दूसरे शब्दों में उद्देश्य और विधेय पदों से भी कहे जाते हैं। नाम उद्देश्य और क्रिया विधेय होती है। बिना उद्देश्य और विधेय के कोई वाक्य नहीं बन सकता है। वाक्य में विधेयांश की सदा प्रधानता रहती है। जहाँ विधेयांश की प्रधानता किसी कारण से नष्ट हो जाती है। उस वाक्य में अविमृष्ट - विधेयांश या विधेयाविमर्श दोष आ जाता है। जिसे साहित्य शास्त्र में एक बड़ा दोष माना गया है। वाक्य का क्रियापद सदा विधेय भाग में ही जाता है, इस लिए वाक्य में सदा क्रिया की प्रधानता मानी जाती है।

शाब्दबोध के विषय में मतभेद

निरूक्तकार ने यहाँ वाक्यार्थ-बोध में आख्यातार्थ क्रिया की प्रधानता का जो प्रतिपादन किया है । वह मीमांसक सिद्धान्त के अनुसार है, परन्तु वैयाकरणों तथा नैयायिकों का विचार इससे भिन्न है , शाब्दबोध के विषय में वैयाकरणों, नैयायिकों तथा मीमांसकों ने विशेष रूप से विचार किया है। उनमें से वैयाकरण शाब्दबोध मे धात्वर्थ की प्रधानता मानते हैं, परन्तु नैयायिक प्रथमान्त मुख्य विशेष्यक शाब्दबोध मानते हैं। अर्थात उनके मत में वाक्य में आख्यातार्थ अथवा क्रिया की प्रधानता नहीं होती है , अपि तु वाक्यमें जो प्रथमान्त पद होता है उसका अर्थ मुख्य रहता है ,तीसरे विचार के मीमांसक है। उनके मत में शाब्दबोध में आख्यातार्थ भावना की प्रधानता रहती है।

वैयाकरण के मत में शाब्दबोध

'देवस्तः पचति' इस वाक्य में वैयाकरणो के मत में "देवस्ताभिन्न कर्तृकः वर्तमानकालिकः पाकानुकूलो' व्यापार इस प्रकार का शाब्दबोध होता है। इसमें धात्वर्थ का क्रिया रूप जो व्यापार है, वह मुख्य विशेष्य है। वाक्य के शेषभाग उसके विशेषणमात्र है शेष भाग मे दवस्तः पद है। उसका अर्थ ' देवस्ताभिन्न कर्तृकः' इस रूप में व्यापार: का विशेषण हो जाता है। और पचति में जो तिप् है वह वर्तमानकाल तथा संख्या या एकवचन रूप अर्थ वर्तमान कालिकः इस रूप में व्यापारः का विशेषण बन जाता है। फलतः वैयाकरण मत में वाक्य में धात्वर्थ या व्यापार की प्रधानता रहती है। इसलिए उसके मत में धात्वर्थ मुख्य विशेष्यकः शाब्दबोध होता है।

नैयायिकों के मत में शाब्दबोध

नैयायिकों के मत में देवस्तः पचति इसी वाक्य से वर्तमानकालिकपाकानुकूल व्यापारवान् देवस्तःइस प्रकार का शाब्दबोध होता है। इसमें वाक्य का प्रथमान्त 'देवस्तः' पद मुख्य विशेष्य है और धातु तथा प्रत्यय दोनों का अर्थ उसमें आश्रय सम्बन्ध से विशेषण होने से गौण हो जाता है। इस लिए नैयायिक मत में प्रथमान्तार्थ मुख्य विशेष्यक शाब्दबोध माना जाता है।

मीमांसक मत में शाब्दबोध

शाब्दबोध के विषय में तीसरा मत मीमांसको का है। उनके के मत में वाक्य में भावना की मुख्यता होती है। 'भावना' का लक्षण उनके यहाँ 'भवितुर्भावनानूकुलो व्यापार विशेषो भावना इस प्रकार किया गया है। यह भावना दो प्रकार की मानी जाती है। शाब्दी भावना दूसरी आर्थी भावना। किसी फल की कामना से जो क्रिया या व्यापार किया जाता है। वह आर्थी भावना कहलाती हैं। और पुरूष प्रवृत्त कराने वाला वेदादि का व्यापार शाब्दी भावना नाम से कहा जाता है। वेद विहित यागादि कार्यो में मनुष्य को प्रवृत्त करने वाला व्यापार किसी मनुष्य में नही अपितु वेद के शब्दों मे रहता है। इस लिए उनका नाम ' शाब्दीभावना' है। स्वर्ग आदि फल की प्राप्ति के लिए जो यत्न मनुष्य करता है। वह आर्थी भावना कहलाती है। ये दोनों प्रकार की भावनाएँ प्रत्ययंश से बोधित होती है। यजेत आदि प्रयोगों के दो अंश है, एक सामान्य रूप से आख्यातत्व और दूसरा लिङ् लकार होने से लिङ्त्व। इन में लिङ् अंश होने से शाब्दी-भावना बोधित होती है और सामान्य आख्यातांश से 'आर्थीभावना' आख्यातांश से बोधित होने वाली यही 'भावना' प्रधान शाब्दबोध मानी जाती है।

द्रव्य और क्रिया के निर्देश के दो प्रकार

पूर्वापरीभूत व्यापार कलाप को आख्यात पद के द्वारा कहा जाता है तथा एकीभूत व्यापार को कृदन्त नाम पदों के द्वारा कहा जाता है। अब आगे यह बतलाते हैं कि इन 'सत्व' और भाव दोनों को

सामान्य रूप से तथा विशेष रूप से दो प्रकार से निर्दिष्ट किया जा सकता है। द्रव्यों को सामान्य रूप से निर्देश 'अदस्' 'इदम्' आदि सर्वनामों के द्वारा किया जा सकता है। 'गौः' 'अश्व' आदि विशेष नाम देकर लेकर उनका विशेषरूप से निर्देश किया जाता है।

उपसर्ग - निरूपण

नाम, आख्यात, उपसर्ग, निपात रूप में शब्दों के जो चार विभाग किये गये हैं , उन चार प्रकार के शब्दों में से नाम तथा आख्यात का विवेचन उपर कर दिया गया है। अब यहाँ उपसर्गो के बारे में विवेचन कर रहे हैं -

प्रादयः ' उपसर्गाः ! क्रिया योगे (अष्टाध्यायी १.४.५८ तथा ५९) सूत्रों के अनुसार क्रिया के योगे में १.प्र, २.परा, ३. अप, ४. सम, ५. अनु, ६. अव, ७. निस्, ८. निर, ९. दुस्, १0. दुर, ११. वि, १२. आङ्, १३. नि, १४. अधि, १५. अपि, १६. अति, १७. सु, १८. उत्, १९. अभि, २0. प्रति, २१. परि तथा २२. उप इन २२ की उपसर्ग संज्ञा होती है। इन बाईस उपसर्गो का अपना अर्थ है या नहीं इस विषय में दो प्रकार के मत पाये जाते हैं। कुछ लोग उपसर्गों को 'वाचक' मानते हैं और कुछ वाचक न मानकर द्योतक मानते हैं। वाचक पक्ष में उपसर्गो का अपना अर्थ होता है और वे उस अर्थ के वाचक होते है। यह मत नैरूक्तो में गार्ग्य का है शाकटायन उपसर्गों को वाचक न मानकर द्योतक मानते हैं। द्योतक-पक्ष में उपसर्गो का अपना अर्थ नहीं होता है। वे जिसके साथ मिलते हैं उसके अर्थ में विशेषता का बोध कराते हैं। दार्शनिकों में नैयायिक तथा मीमांसक दोनो उपसर्गो को द्योतक और निपातों को वाचक मानते हैं। वैयाकरण उपसर्ग और निपात के बीच इस प्रकार के भेद नहीं मानतें हैं। वे उपसर्ग और निपात दोनों को द्योतक मानते हैं। भर्तृहरि ने अपने वाक्यपदीय ग्रन्थ में मध्यमार्ग अपनाकर वाचक तथा द्योतक दोनों पक्षों में अपनी सहमति प्रगट करते हुए लिखा है -

स वाचको को विशेषाणां सम्भवाद्द्योतकाऽपिवा।

उपसर्ग के अर्थ का निरूपण

इस प्रकार नैरूक्त गार्ग्य के मत में उपसर्ग द्योतक नही अपि तु वाचक है। इस सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुए यास्काचाय्र ने नैरूक्त होने स्वयं भी उस सिद्धान्त के साथ अपना सहमति प्रगट की है। इस लिए निरूक्त मत में उपसर्गों का सिद्धान्त ही माना गया है। इस प्रसंग में यास्काचार्य ने उपसर्गों के केवल एक एक अर्थ का प्रतिपादन किया है। परन्तु उनके अतिरिक्त भी उपसर्गों के अनेक अर्थ होते हैं। यास्काचार्य ने यहाँ केवल उदाहरण के रूप में उनके एक अर्थ का प्रदर्शन किया है।
'आ' उपसर्ग के समीप या 'अर्वाग्' अर्थ में प्रयोग का वैदिक उदाहरण 'सर्वेनन्दन्ति यशसा आगतेन' यश को प्राप्त करके सबको प्रसन्नता होती है 'प्र' और 'परा' उपसर्ग इसके विपरीत अर्थ को कहते हैं , इसका वैदिक उदाहरण 'याश्चदूर परागताः है। अर्वाक् शब्द का अर्थ यहाँ समीप ही करना चाहिए।

प्राचीन टीकाकारों में केवल एक सकन्द स्वामी ने 'अर्वागर्थः सन्निकर्षः' लिखकर अर्वाक शब्द का अर्थ सन्निकर्ष या सामीप्य किया है। दुर्गाचार्य ने अवाक् शब्द का कोई अर्थ नही किया है। परन्तु उसका उदाहरण आपर्वतात दिया है। परन्तु यहाँ आ का अर्थ सामीपय नही मर्यादा है। 'आङ्' का प्रयोग मर्यादा और अभिविधि अर्थो में भी होता है। 'मुक्तेः संसारः' यह मर्यादा का उदाहरण है मुक्ति प्र्यन्त संसार है। मुक्ति उस संसार में सम्मिति नही है मुक्ति से पहिले - पहिले तक संसार रहता है। मुक्ति होने पर संसार नहीं रहता है। 'आबालं हरि स्नेहः' बालकों पर्यन्त कृष्ण के प्रति स्नेह है। यहाँ कृष्ण के स्नेह की सीमा बालकों को कहा है। परन्तु बालक उससे अलग नहीं है। बालकों मे भी हरि स्नेह पाया जाता है। यह इसका अर्थ है, इस लिए यहाँ 'आ' अभिविधि के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। इन दोनों उदाहरणों में 'आङ्मर्यादाभिविंध्यों इस सूत्र से पन्चम्यन्त मुक्तेः तथा बालकेभ्यः पदों के साथ आङ् का अव्ययीभाव समास हुआ है।

निपातों का निरूपण

नाम, आख्यात, उपसर्ग, निपात रूप में शब्दों के जो चार प्रकार के विभाग किये हैं , उन चार प्रकार के शब्दों में से नाम, आख्यात, तथा उपसर्ग, इन तीनों शब्दो का निरूपण उपर कर दिया गया है अब चतुर्थ शब्द निपात का वर्णन करने जा रहे है। निपातों का वर्णन भिन्न-भिन्न अर्थो में प्रयोग होता है इसलिए इसे निपात कहते है। नि उपसर्ग पूर्वक पद गतौ धातु ज्वलतिकसन्तेभ्योणः इस सूत्र से कर्ता अर्थ में ण प्रत्यय होकर निपात् बना। णकार की इत्संज्ञा तथा तस्य लोपः से लोप होकर निपत् अ अत उपधायाः सूत्र से आदि अच् को वृद्धि होकर तथा वर्ण सम्मेलन होकर निपात प्रयोग बनता है निपातों की संख्या बहुत अधिक है। अष्टाध्यायी में प्राग्रीश्वरानिपाताः सूत्र से निपात का अधिकार प्रारम्भ होता है , और अधिरीश्वरे सूत्र तक जाता है। इनमें मुख्य रूप से चादयोऽसत्वे और 'प्रादयश्च' इन सूत्रों के अनुसार चादि तथा प्रादि गण पठित शब्दों की निपात संज्ञा होती है। प्रादिगण पठित शब्द तो २२ ही है और उनकी निपात संज्ञा होती है परन्तु चादिगणबहुत लम्बा है। उसमे २०७ शब्दों का संग्रह किया है किया गया है। उन सब शब्दों के अर्थो का विवेचन किया गया है। विवेचन के सौकर्य के लिए उन्होनें निपातों का तीन वर्गो में वर्गीकरण किया है।

1. उपमानार्थक

2. कर्मोपसंग्रहार्थक निपात और

3. पादपूरक निपात।

वैयाकरण लोग उपसर्गों के समान निपातों को भी द्योतक मानते हैं, वाचक नहीं। नैयायिक उपसर्गो को द्योतक मानते हैं, परन्तु निपातों को वाचक मानते है। नैरूक्त निपातों तथा उपसर्ग दोनो को वाचक मानते हैं। इसलिए यास्काचार्य कुछ निपातों के अर्थों का वर्णन कर रहे हैं।

उपमार्थ निपात

उपभार्थक'इव' शब्द के उदाहरण लोक और वेद दोनों मे समान रूप से पाये जाते है। वेद में 'अग्निरिव मन्यो त्विषितः सहस्व' में यहा अग्निरिव अर्थात् अग्नि के समान यहा उपमा का प्रयोग किया गया है। इसी प्रकार 'इन्द्र इव ' यह उपमा भी वेद में 'इन्द्र इवेह धुरवस्तिष्ठ' **मे पायी जाती है । इसलिए 'इव' निपात के उपमार्थ में प्रयोग के लिए ये दोनों उदाहरण लोक ओर वेद में समान रूप से माने जाते हैं । परन्तु यास्काचार्य नं 'इव' शब्द को यहा मुख्य रूप से वैदिक उदाहरणो के रूप में ही प्रस्तुत किया हैं उपमार्थक निपातों में इव शब्द के बाद दूसरा स्थान 'न' निपात का है । 'न' यह निपात लोक में निषेध के अर्थ में पयुक्त होता है उपमा के अर्थ में नहीं । परन्तु वेद में 'न' निषेध तथा उपमा दोनों अर्थो में प्रयुक्त होता है ।**

' इव' ओर 'न' इन दोनों निपातो का उदाहरण वेद मन्त्र से यास्काचार्य न उद्धत किये हैं । परन्तु 'चित्' निपात के तीनों अर्थो में केवल लौकिक उदाहरण ही यास्काचार्य ने दिये है । वैदिक उदाहरण दिये जाते तो अच्छा रहता । उपमा अर्थ में 'चित्' के प्रयोग के कुमारश्चित पितरं वन्देमानम् ' पिता की वन्दना करते हुए कुमार के समान आदि अनेक वैदिक उदाहरण मिल सकते है। पर कदचित् निन्दा तथा प्रशंसा अर्थ में वैदिक उदाहरण नही मिल सकते, इसलिए यास्काचार्य ने उसके सभी लौकिक उदाहरण दे दिये है।

3.4 सारांश

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप जान चुके है कि निरूक्त के अनुसार शब्दों का विभाजन कितने प्रकार से किया गया है ? प्रत्यक्ष वृत्ति शब्द किसे कहते है ? परोक्षवृत्तिशब्द किसे कहते हैं ? अतिपरोक्षवृत्ति शब्द किसे कहते है। व्याकरणादि शास्त्रों में लौकिक शब्दों को चार वर्गो मे विभाजित किया गया है नाम, आख्यात, उपसर्ग, निपात, । इनमें पचति, गच्छति, इत्यादि आख्यात है पच्धातुसेपाकः कृदन्त के द्वारा बनता है इसलिए यह 'नाम' पद से कहा जाता है । इसलिए गच्छति, पचति को भाव क्रिया कहा जाता हैं 'नाम' पद को द्रव्य कहा जाता है । इसी प्रकार उपसर्ग तथा निपातों का भी वर्णन किया है ।

3.5 शब्दावली

शब्द	अर्थ
पचकः	पकाने वाला
पचति	पकाता है
गच्छति	जाता है
कारकः	करने वाला

शब्देन	शब्द के द्वारा
उच्चारितेन	उच्चारण से
येन	जिसके द्वारा
द्रव्यम्	द्रव्य
प्रतीयते	प्रतीत होता है
मनीषिणः	मनीषी लोग
प्रयुज्यन्ते	प्रयोग किये जाते हैं
कवयः	कवि लोग
विभक्तयः	विभक्तियॉ
नानार्थेषु	नाना अर्थों में
निपात	में जो प्रयोगहोता है
देवदन्त पचति	देवदत पकाता है।
धात्वर्थः	धातु का अर्थ
यज	देवताओं की पूजा
सन्निकर्ष	सन्निकटता
सामीप्य	समीपता
इव	समान या सदृश
उपमार्थ	उपमा अर्थ के लिए
अग्निरिव	अग्नि के समान
इन्द्र इव	इन्द्र के समान
गौः	गाय
अश्व	घोड़ा
अवाक्	समीप
आबानम्	बालकों पर्यन्त
आमुक्तेः	मुक्ति पर्यन्त

अभ्यासार्थ प्रश्न

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. निरूक्त के अनुसार शब्द कितने प्रकार के होते हैं ?
2. प्रत्यक्ष वृत्ति शब्द किसे कहते हैं ?
3. परोक्ष वृत्ति शब्द किसे कहते हैं ?
4. अतिपरोक्षवृत्ति शब्द किसे कहते हैं ?
5. पृषोदरादि गण के शब्द किसके समान समझे जाते हैं ?

6. नाम का लक्षण किस प्रकार से किया गया है ?
7. निपात संज्ञा किसकी होती है ?
8. निपातों को कितने वर्गो में वर्गीकृत किया गया है ?
9. वेद में 'इव' शब्द का क्या अर्थ होता है ?
10. 'न' शब्द का क्या होता है ?

बहुविकल्पात्मक प्रश्न

1. जिसमें धातु और प्रत्यय का विभाग स्पष्ट रूप से प्रतीत होता हो उसे कहते हैं-
(क) प्रत्यक्षवृत्ति (ख) परोक्ष वृत्ति
(ग) अतिपरोक्षवृत्ति (घ) यौगिक शब्द
2. निघण्टु आदि जो शब्द है वह किसके अन्तर्गत हो जाते हैं -
(क) आकृति गण (ख) चादिगण
(ग) निपातादिगण (घ) भ्वादिगण
3 व्याकरण आदि शास्त्रों में लौकिक शब्दो को कितने वर्गो विभाजित किया गया है -
(क) तीन वर्गो में (ख) चार वर्गो में
(ग) चार वर्गो (घ) एक वर्गो में
4. उपसर्ग कितने प्रकार के होते हैं -
(क) चार प्रकार के (ख) बाइस प्रकार के
(ग) दश प्रकार के (घ) पन्द्रह प्रकार के
5. नैरूक्त गार्ग्य के मत में उपसर्ग द्योतक है या वाचक
(क) द्योतक (ख) वाचक
(ग) द्योतक वाचक दोनों (घ) द्योतक वाचक दोनों नहीं

3.6 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. उमाशकरं शर्मा 'ऋषि' निरूक्तम् (यास्कप्रग्रीतम्) चौरबम्भा विद्याभवन चौक (बनारस स्टेट बैकं के पीछे) पो. वा. नं. 1069 वाराणसी 221001
2. गोपाल दत्त पाण्डेय वैयाकरण सिद्धान्त कौमूदी भट्टोजिदीक्षित विरचितचौखम्भा सुर भारती प्रकाशनके 06/117 गोपाल मन्दिर लेनपो. वा0 नं. 1129 वाराणसी 221001

3.7 उपयोगी पुस्तकें

आचार्य विश्वेश्वर कृत निरूक्तम् (श्रीयास्काचार्य विरचित) ज्ञानमण्डल लिमिटेड वाराणसी 221001

3.8 निबन्धात्मक प्रश्न

1 शब्दों के विभाजन एवं प्रकार पर एक निबन्ध लिखिए।

इकाई 4: निरूक्त के प्रथम अध्याय के तृतीय पाद पर्यन्त भाग की व्याख्या

इकाई की रूपरेखा

4.1 प्रस्तावना

4.2 उद्देश्य

4.3 निरूक्त के प्रथम अध्याय के तृतीय पाद पर्यन्त भाग की व्याख्या

4.4 सांराश

4.5 शब्दावली

4.6 अभ्यासार्थ प्रश्न

4.7 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

4.8 उपयोगी पुस्तकें

4.9 निबन्धात्मक प्रश्न

4.1 प्रस्तावना

वैदिक साहित्य से सम्बन्धित यह चतुर्थ इकाई है। इस इकाई के अध्ययन से आप बता सकते हैं कि यास्काचार्य द्वारा रचित निरूक्त के प्रथम अध्याय के प्रथम पाद में मूल रूप से किसका वर्णन किया गया है इस पाद मे मूलरूप से निघण्टु किसे कहते हैं ? निघण्टु की व्युत्पत्ति किस प्रकार से होती है ? एवं निघण्टु की सिद्धि किस प्रकार से होती हैं ? इन सबके बारें में आप भली भाँति परिचित होंगे।

प्रथम पाद में लोक एवं वेद में पद कितने प्रकार के होते है उन सबका वर्णन इस इकाई में की गयी है। किन्तु चारों पदों में से इस पाद में नाम आख्यात उपसर्ग इन तीनो ही पदो की व्याख्या की गयी है।

इस इकाई में निरूक्त के प्रथम अध्याय के प्रथम पाद द्वितीय पाद एवं तृतीय पाद की व्याख्या की गयी है द्वितीय पाद एवं तृतीय पाद से निपात का वर्णन किया गया है इनके बारे मे आप भली भाँति परिचित होगे।

4.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप निरूक्त के प्रथम अध्याय के तृतीय पाद पर्यन्त भाग की व्याख्या कर सकेंगे।

- निघण्टु किसे कहते हैं ? निघण्टु की व्युत्पत्ति क्या है ? इसके बारें में बताएंगे।
- निघण्टु शब्द की सिद्धि किस प्रकार से होती है इसके बारे में आप परिचित होगें।
- निघण्टु के प्रथम अध्याय के प्रथम पाद मे किसका वर्णन किया गया है इसके बारे में आप समझाएंगे।
- उपसर्ग क्या है, इसके बारे में आप परिचित होगें।
- निपात क्या है इसके बारे में आप भली भांति बताएंगे।
- निरूक्त के प्रथम अध्याय के द्वितीय पाद एवं तृतीय पाद में किसका वर्णन किया गया है इसके बारे में आप भली भांति परिचित होकर व्याख्या कर सकेंगे ।

4.3 निरूक्त -प्रथम अध्याय - तृतीय पाद पर्यन्त भाग की व्याख्या

सामाम्नायः समाम्नातः, स व्याख्यातव्यः।

गो शब्द से लेकर देव पत्नी पर्यन्त १७७३ शब्दों का समाम्नाय: = वैदिक शब्द कोशष् समाम्नातः = बनाया जा चुका है, अब उसकी व्याख्या होनी चाहिए। इसलिए अब निरूक्त ग्रन्थ की व्याख्या की जा रही है।

तमिमं समाम्नाय निघन्तव अत्याचक्षते।

इस प्रसिद्ध वैदिक शब्द कोश को कुछ लोग निघण्टु कहते हैं।

निघन्तवः कस्मात् ?

प्रश्न - निघण्टु कैसे कहा जाता है ?

निगमा इमे भवन्ति छंन्दोभ्यः समाहृत्य समाहृत्य समाम्नात।

उत्तर - क्योंकि ये निश्चित रूप से वेदार्थ के ज्ञान कराने वालें होते हैं।

त इमें निगन्तव एव सन्तो निगमनान्निघन्टव उच्यन्त इत्यौपमन्यवः।

ये प्रसिद्ध वैदिक शब्द निश्चयेन वेदार्थं गमयन्ति इस व्युत्पत्ति के अनुसार निश्चय पूर्वक वेदार्थ के बोधक होने के कारण निगन्तु होकर ही निघण्टु कहलाता है। यह निघण्टु के प्राचीन व्याख्याकार उपमन्यु के अनुयायी मानते हैं।

इस प्रकार निघण्टु - शब्द की यह एक प्रकार की व्युत्पत्ति दिखलायी है। इसमें नि उपसर्ग पूर्वक गम्लृ गतौ धातु से तुन् प्रत्यय तथा अनुबन्ध लोप होकर नि गम् तु बना। ग के स्थान पर घ तथा त के स्थान पर ट होकर नि घम् टु बना। मकार को अनुस्वार तथा पर सवर्ण होकर निघण्टु शब्द की शब्द की सिद्धि होती है।

अपि वा आहन नादेव स्युः, समाहता यद्वा समाहृता भवन्ति

अथवा आङ् उपसर्ग पूर्वकहन् धातु से तुन प्रत्ययतथा अनुबन्ध लोप करने पर आ हन् तु ह के स्थान पर घ तथा त के स्थान पर ट होकर एव आ के स्थान पर नि उपसर्ग होकर निधन्तु शब्द की सिद्धि होती है। अथवा निघण्टु के शब्द वेद के मन्त्रों में से चुने हुए हैं। इसलिए सम् आङ् तथा वर्णो का विपर्यय होकर निघण्टु शब्द बनता हैं।

तद्यानयेतानि चत्वारि पदजातानि नामाख्याते च, उपसर्ग निपाताश्च , नामानि भवन्ति।

उनमें (लोक में) जो ये चार नाम , आख्यात, उपसर्ग, और निपात रूप चार प्रकार के पद प्रसिद्ध हैं, वे ही अर्थात् उसी प्रकार से चार वर्गो मे विभक्त निधन्तु के ये वैदिक पद भी होते हैं।

तत्रैतन्नामाख्यातयोर्लक्षणं प्रतिशन्ति - भावप्रधानमाख्यातम्' 'सत्व प्रधानानि नामानि'।

चार प्रकार के लौकिक पद जो कहे गये है ,जिसमें क्रिया की प्रधानता हो वह आख्यात पद है, और जिसमे लिगं - कारकादि - सम्बन्ध को सत्त्व या द्रव्यांश कहते हैं, उसी द्रव्यांश को नाम पद से कहा जाता है। **तद्यत्रोभे भाव प्रधाने भवतः।**

जिस वाक्य में नाम और आख्यात अर्थात संज्ञा लिग कारकादि सम्बन्ध योग्य या कर्ता और क्रिया दोनों हो वहा भाव अर्थात क्रिया की प्रधानता होती है।

पूर्वापरीभूतं भावमाख्या तना चष्टे व्रजति पचतीत्युपक्रमप्रभृत्ययवर्गपर्यन्तमृ।

आगे पीछे किये जाने वाले आदि से लेकर अन्त तक व्यापार-समुदाय को आख्यात पद से कहा जाता है'। जैसे - 'जाता है' 'पकाता है' खेलता है। आदि।

मूर्तसत्वभूतं सत्वमामभिव्रज्या पक्तिरिति।

ठोस अर्थात सिद्ध किया (सत्त्व) के रूप में परिणत (भाव) को सत्त्व के नाम से पुकारते है। जैसे व्रज्या व्रज्गतौ धातु से व्रज्या कृदन्त से बनता है। उसी प्रकार कृदन्त में पच् धातु से पक्ति: बनता है।

अद इति सत्वानामुपदेशो गौरश्णः पुरूषौ हस्तीति।
भवतीति भावस्य , आस्ते शेते व्रजति, तिष्ठतीति

'अदः' अर्थात् अदस् इदम् आदि सर्वनाम पदो के द्वारा सत्त्व अर्थात् द्रव्यों का समान्य रूप से निर्देश किया जाता है। और 'गौ' , 'अश्व', पुरूष हस्ति आदि संज्ञावाचक वाचक पदों द्रव्यों का विशेष रूप से निर्देश किया गया है।

इसी प्रकार भवति पद से भूधातु का ग्रहण करना चाहिए। भाव अर्थात क्रिया का सामान्य रूप से तथा आस्ते, शेते, व्रजति, तिष्ठति आदि पर से क्रिया का निर्देश होता है। **षड् भावविकारा भवन्तीति वार्ष्यायणिः**। मुख्य रूप सें क्रिया के छः भेद होते हैं यह वार्ष्यायणि का मत है।
जायते, अस्ति, विपरिणमते, वर्धतें, अपक्षीयते विनश्यति।
१. जायते = उत्पन्न होता है, २. अस्ति = रहता है, ३. विपरिणमते = परिवर्तित होता है, ४. वर्धते = बढ़ता है, ५. अपक्षीयते = क्षीण होता है , और ६. विनश्यति = नष्ट होता है।

जायत इति पूर्वभावस्यादिमाचष्टे न प्रतिषे धति।

१. उत्पन्न होना वस्तु के प्रथम आविर्भाव के आरम्भ को सूचित करता है, बाद की क्रियाओं को न कहना और न निषेध करता है।

आस्तीत्युत्पन्नस्य सत्त्वस्यावधारणम्।

२. यह उत्पन्न हुए पदार्थ की स्थिति को कहता है।

विपरिणमते इत्स प्रच्यवमानस्य तत्त्वद्विकारम्।

३. विपरिणाम तत्त्व का नाश हुए बिना उसमें होने वाले परिवर्तन को कहता है।
वर्धत इति स्वागभ्युच्चयं सांयोशिकानां वार्थनम्म् । बर्धते शरीरेण वर्धते विजयेनेति (बर्धते विजयेनेति वा वर्धते शरीरेणेति वा)

४. वृद्धि दो प्रकार की होती है। एक तो अपने शरीर की वृद्धि। दूसरी सांयोगिक (बाहरी) पदार्थो की वृद्धि। जैसे शरीर से बढ़ रहा है और विजय से बढ़ रहा है यह सांयोगिक अर्थो की वृद्धि है।

अपक्षीयत इत्येते नैव व्याख्यातः प्रतिलोमम्।
विनश्यति इत्यपरभावस्यादिमाचष्टे न पूर्वाभावमाचष्टे न प्रतिषेधति।

६. **विनाश** अन्तिम क्रिया के आरम्भ को कहता है पूर्व क्रिया को न कहता है न उसका निषेध करता है।

अतोन्ये भावविकारा एतेषामेव विकारा : भवन्तीति ह स्माह ते यथावचनमभ्यूहितव्या:।

मुख्य रूप से ये छः क्रिया के भेद होते हैं। इनसे भिन्न दूसरी क्रियाओं के सारे भेद निष्पद्यते, विकसति पच्यते आदि, इनके ही भेदों में आ जाते हैं ।

उनको यथोक्तरीति से छः भीतर समझ लेना चाहिए। इन्द्रिय नित्यं वचनमौदुम्बरायण:

वचन अर्थात् शब्द इन्द्रिय में नियत है क्योकि जब तक वक्ता बोलता है तब तक उसकी बागिन्द्रिय में और जब तक श्रोता सुनता है तब तक श्रवणेन्द्रिय में विद्यमान रहता है इसलिए शब्द अनित्य है, यह औदुम्बरायण का मत है।

तत चतुष्ट्वं नोपपद्यते अयुगदुत्पन्नानां वा शब्दानांमितरेतरीपदेश: शास्त्र मृतों योगश्च।

वहा शब्द को अनित्यत्व मानने वाले पक्ष में तीन दोषडपस्थि होता है। पहला दोष यह है कि नाम, आख्यात, उपसर्ग, और निपात रूप से शब्दों को जो चार प्रकार का विभाग किया गया है, वह चार प्रकार का विभाग नहीं बनता क्योकि जब तक वर्ण समुदायात्मक पद ही नहीं बनता है तब चार पद इकट्ठे होकर उनका चार प्रकार का विभाग किया जाना सर्वथाअस्म्भव है। शब्द को अनित्यत्व मानने पक्ष में दूसरा दोष यह है कि शब्द क्षणिक उत्पन्न होते है और तुरन्त नष्ट हो जाते है इसलिए एक दूसरे का उपदेश ही नहीं बनता है। तीसरा दोष यह आता है कि शास्त्र के द्वारा प्रकृति प्रत्यय का सम्बन्ध ही नही बन पाता।

व्याप्तिमत्त्वान्तु शब्दस्य

शब्द लाघव युक्त होने के कारण ही लोक में व्यवहार के लिए शब्द के द्वारा संकेत स्थापित किये गये है सकेत के द्वारा ही शब्द से अर्थ की प्रतीति होती है। यह संकेत शब्द केवल मनुष्सय में ही नही अपितु देवताओं में भी प्रयोग होता है। इस प्रकार जो पीछे तीन दोष दिखाते है उन तीनो दोषो का निवारण हो जाता है।

पुरूषविद्याऽनित्यत्वात कर्म सम्पत्तिर्मन्त्रो चेदे ॥२॥

पुरूषों के ज्ञान के अनित्य होने के कारण केवल लौकिक ज्ञान के कारण सफलता नहीं मिल सकती है। इसलिए मनुष्य के कार्य को फलता प्रदान करने वाला मंत्र वेद में है।

न निर्वद्धा उपसर्गा अर्थान्निराहु रिति शाकतायनो नामाख्यातयोस्तु कर्मोपसंयोगद्योतका भवन्ति।

अलग करके मिले हुए उपसर्ग, अर्थो को निश्चित रूप से नही कहते हैं। नाम और आख्यात के अर्थ को उनके साथ मिलकर ज्ञान कराने वाले होते है, यह शाकटायन का मत है।

उच्चावचाः पदार्थाः भवन्तीति गार्ग्यः तद् य एषु पदार्थः प्राहुरिमे तम । नायाख्यातयारर्थविकरणम्।

एक ही शब्द के निरूक्त में नाना प्रकार के अर्थ होते हैं। इसलिए इनका जो अर्थ होता है वह नाम

तथा आख्यात के अर्थ में परिवर्तन करने वाले उस अर्थ को ये उपसर्ग कहते हैं, यह गार्ग्य का मत है। 'आ' इत्यर्वागर्थे। 'प्र' ' परा' इत्येतस्य प्रातिलोम्यर्म्य आ (आङ्) यह उपसर्ग अवांग = समीप या सम्मुख अर्थ में प्रयोग होता है। प्र तथा परा में दोनो अपसर्ग विपरीत अर्थ को कहते हैं -

'अभि' इत्याभिमुख्यम्। 'प्रति' इत्येतज्य प्रातिलोम्यम्। अति' 'सु' इत्यभि पूजितार्थे। 'निर्' 'दुर्' इत्यतयोः प्रातिलाभ्यम्। अभि यह उपसर्ग अभिमुख्य को कहता है। प्रति यह उपसर्ग इसके विरूद्ध अर्थ को कहता है। अति तथा सु ये दोनो उपसर्ग प्रशंसा-परक है। निर् तथा दूर ये दोनो उपसर्ग निन्दा -परक है।'नि' 'अब' इति विनिग्रहार्थीयो। **उत् इत्येतयोः प्रातिलोभ्यम्**। नि और वि ये दोनो उपसर्ग अभिभूत करने अर्थ में होते हैं और उत् उपसर्ग इन दोनो से विपरीत अर्थ में होते है।'सम' इत्येकी भावम्। 'वि' 'अप' इत्येतस्य प्रातिलाभ्याम्। स्म् यह उपसर्ग एकीभाव को कहता है और 'वि' तथा 'अप' ये दोनो उपसर्ग इसके विपरीत भाव को कहते हैं।

'अनु' इति सादृश्यापरभावम। 'अपि' इति संसर्गम्।

अनु यह उपसर्ग सादृश्य तथा पश्चात् अर्थ को कहता है। अपि यह उपसर्ग संसग को कहता है।

'उप' इत्युपजनम्। 'परि' इति सर्वतोभावम्।

'अधि' इत्युपरिभावम्। ऐश्वर्यम् वा उप यह उपसर्ग समीप अर्थ में होता है। परि - यह उपसर्ग चारो तरफ अर्थ का बोध कराता है। अधि यह उपसर्ग उपर अर्थ का बोध कराता है।

एवमुच्चावचनार्थान् प्राहफः ते उपेक्षितव्याः।

इस प्रकार भिन्न भिन्न अर्थ बतलाते है उन पर ध्यान देना चहिए

द्वितीय पाद

अथ निपाताः। उच्चावचेष्वर्थेषु निपतन्ति। अब निपातों को वर्णन होगा। ये भिन्न भिन्न अर्थो का बोध कराते है।अप्युपमार्थे। अपि कर्मोपसंग्रहार्थे। अपि अपि पद पुरणाः। तेषामेते चत्वार पमार्थे भवन्ति। निपात शब्द के तीन भेद माने गये है। कुछ तो उपमा के अर्थ में है, कुछ संयोग के अर्थ में ओर कुछ तो केवल पद पूरा करने के अर्थ में।

इवेति भाषायां चान्वध्यायं च। अग्निरिव। 'इन्द्र इव इति।

इव शब्द संस्कृत तथा वेद दोनों मे उपमार्थक है। जैसे - अग्नि के समान, इन्द्र के समान।

नति प्रतिषेधार्थीयो भाषायाम्, उभयमन्वध्यायम्। न यह निपात शब्द लोक में निषेधार्थक तथा वेद में निषेधार्थक एवं उपमा दोनों अर्थों में प्रयोग होता है।**'नेन्द्रं देवम मंसत' इति प्रतिषेधार्थीयः**। **पुरस्तादपचारस्तस्य। यत् प्रतिषेधति**। इन्द्र देव को नहीं मानता है यहा निषेधार्थक है। तब इसका प्रयोग पहले होता है।

'दुमदासो न सरायाम्' अत्युपमार्थीयः। उपरिष्टा दुपचारास्तस्य येन उपभिमीते। शराब पीये मतवालों के समान यहा पर 'न' निपात उपमार्थक है। जिससे उपमा दी जाती है। उसका प्रयोग बाद में होता है।

'चित्' यह निपात अनेकार्थक हैं जैसे आचार्य ही इस गुढ़ विषय को कह सकते हैं। यहाँ पूजा अर्थ में चित् का प्रयोग किया गया है।

आचार्यः आचारं ग्राहयति। आचिनोति अर्थान्। आचिनोति बुद्धिमिति वा।

आचार्य, आचार परम्परागत उपदेश ग्रहण करता है। अथवा जानने योग्य अर्थों का संग्रह करता है अथवा बुद्धि का विकास करता है।

'नु' इत्येषोऽनेककर्मा। इदं नु करिष्यति इति हेत्वपरेशे। 'कथं नु करिष्यति' इत्यनुपृष्टे। नन्वे तदकार्षीत् इति च।

नु यह निपात भी चित् के समान अनेकार्थक है यह जो करेगा यहाँ हेतु के में नु का प्रयोग है। कैसे करेगा ? यहाँ दुवारा पुछने के अर्थ में। चूकि यह तो किया ही होगा! यह भी उसी अर्थ में।

अथाप्युपमार्थे भवति।

यहॉ उपमा अर्थ में नु का प्रयोग हुआ है

वृक्षस्य नु पुरूहुत वयाः वृक्षस्य इव ते पुरूहूत शाखाँ। वयाः शाखाः,वेतेर्वातायना भवन्ति। शाखाः रवशयाः शक्नोतेर्वा।

जैसे - हे बहुत प्रकार के बुलाये गये (इन्द्र), तुम्हारी शाखाएं वृक्ष सी हैं। वया - शाखाएं हवा के घर है। शाखा = आकाश मे शयन करने वाली अथवा शक धातु से शाखा शब्द बना है।

अथ यस्य आगमात अर्थपृथक्त्वम् अह विज्ञायते न तु औदेशिक मिव विग्रहेण पुथबत्वात् स कर्मोपसंग्रहः।

अर्थ संयोजक (कर्मोपसंग्रह) उसे कहते हैं जिसके आगमन से वस्तुओं का अलग अलग होना मालुम हो किन्तु यह सामान्य गणना के आधार पर स्पष्ट नही रहता। अलग अलग करने पर ही पृथक मालुम पड़तें है। उसे कर्मोपसंग्रह संग्रहार्थक निपात कहते हैं।

च अति समुच्चयार्थः। उभाभ्यां सम्प्रयुज्यते अहं च त्वं च वृत्रहन्' इति। एतस्मिननेवार्थे देवेभ्यश्च पितृभ्य आ' इति आकारः। च शब्द जो निपात है वह जोड़ने के अर्थ में है तथा दोनो शब्दों के बाद में प्रयुक्त होता है। जैसे - हे वृत्र को मारने वाले ! तुम और मै आ इसी जोड़ने के अर्थ में जैसे देवताओं और पितरों के लिए यह 'आ' है निपात च के स्थान पर प्रयुक्त हुआ है।

'वा' इति विचारणार्थे। हन्ताहं पृथिवीमिमां नदधानीह वा इह वा इति अथापि समुच्चयार्थे भवति। 'वायुर्वा त्वा मनुर्वा त्वा' इति।

वा जो शब्द है संकल्प विकल्प विचार अर्थ मे है। कहो मै पृथिवी को उठाकर यहॉ रख दू या वहाँ रख दूँ। हन्त पद यहाँ सम्बोधनार्थक है। समुच्चय अर्थ में भी वा निपात का प्रयोग होता है। जैसे - वायु और मनु वेग प्रदान करे।

'अह' इति च ह इति च विनिग्रहार्थोयौ पूर्वेण सम्प्रयुज्यते। अयमहं इदं करोतु अयमिदम्। इदं करिष्ष्ति इदं न करिष्ष्ति इति।

अह और ह ये दोनो नियमार्थक हैं और पहिले के साथ प्रयुक्त होते हैं। जैसे - यह ही इस निर्दिष्ट

विशेष कार्य को करे और यह दूसरा व्यक्ति इस कार्य को नहीं करेगा।

अधापि उकारः एतस्मिन् एवार्थे उत्तरेण। मृषेमे वदन्ति सत्यमु ते वदन्ति इति। अथापि पदपुरणः 'इदमु' 'तदृ इति और इसी अर्थ में उकार यह निपात बाद में आने वाले के साथ प्रयुक्त होता है। जैसे - ये लोग झूठ बोल रहे है। और वे सत्य बोल रहे हैं। और उकार पदपूर्ति मे भी प्रयुक्त होता है जैसे - यह, वह , हि' इत्येषोऽनेककर्मा। हदं हि करिष्यति इति हे त्वपदेशे। कथं हि करिष्यति इत्यनुपृष्टे। कथं हि व्याकरिष्यति इत्यसूयायाम्।

हि यह निपात अनेकार्थक है। जैसे-क्योंकि इस कार्य को करेगा यह हेतु के कथन में है। ऐसा क्यों करेगा, यह अनुप्रश्न में है यह क्या कहलायेगा यह असूया अर्थ में हि का प्रयोग है। गुणेषु दोषाविष्करणम् असूया अर्थात् गुणों में भी इर्ष्यावश दोष निकालने का नाम असूया है।

किल इति विद्याप्रकर्षं एवं किल इति। अथापि 'न'' ननु' इत्येताभ्या। सम्प्रयुयतक अनुपृष्टे। 'न किलैवम्' ननु किलैवम्।

'किल' यह निपात ज्ञान के लिए उत्कर्ष का सूचक है। जैसे- यह बात ऐसी ही है, यहाँ। और न तथा ननु निपात के साथ मिलकर अनुप्रश्न में प्रयुक्त होते हैं। जैसे न किनैवम् क्या यह बात नहीं है ? क्या वास्तव में ऐसा है ?

'मा इति प्रतिषेधे मा कार्षीः'।'मा हार्षीः' इति च।

म यह निपात प्रतिबोध अर्थ में प्रयुक्त होता है। जैसे - मत करो मत ले जाओ।

'खलु' इति च।'खलु कृत्वा' 'खलुकृतम्' अथापि पद पूरणः 'एवं खलुतद् बभूव' इति।

और खलु यह निपात भी प्रतिबोध अर्थ में आता है। जैसे - 'नहीं करना चाहिए' 'मत करो' और पदपूर्ति में भी प्रयुक्त होता है। जैसे यह कार्य इस प्रकार हुआ।

शश्वत् इति विचिकित्सार्थीयो भाषायाम्।

'शश्वदूवम्' इत्यनुपृष्टे। एवं शश्वत् इत्यस्वयं पृष्टे।

शश्वत् यह निपात लोक में निश्चय अर्थ में प्रयुक्त होता है। क्या सदा ऐसा ही होता है।

तृतीय - पाद

नूनम् इति विचिकित्सा र्थीयो भाषायाम् उभयमन्वध्यायम् विचिक्त्सार्थीयश्च पद पूरणश्च।

नुनं यह निपात लोक में निश्चयार्थक और वेद में भी निश्चयार्थक एवं पादपुरक दोनो प्रकार का होता है।

अगस्त्य इन्द्राय हविर्निरूप्यमरूद्भ्यः सम्प्रदित्सांचकार। स इन्द्र एत्य परिदेवयान्चके।

अगस्त्य ने इन्द्र के लिए हवि देने का निश्चय करके भी उसे मरूतों को दे दिया। वे इन्द्र आकर शिकायत करने लगें।

न नूनमस्ति नो इवः कस्तद्वेद यददुभ्तम्।
अन्यस्य चित्मभिसन्चरेण्यम्, इताधीतं बिनश्यति ॥१॥

आज तो निश्चय ही हमको नहीं मिलती और कल भी मिलने की आशा नहीं है। क्योकि अभी जो बात भविष्य के गर्भ में है उसको कौन जान सकता है। सामान्य लोगो का चित्त चंचल होता है। इसलिए उनका चित्त निश्चय ही बदल जाता है।

न नूनमस्ति अद्यतनम् । नो एव श्वस्तनम् । अध = अस्मिन् द्यविः द्यारित्यहो नामधेयम् । द्योतते इति सतः। श्वः उपा शंसनीयः कानः। हचः हीनः कालः । कस्त द्वेद यद्दुतम्ः कः? इदमणि इतरत अद्भुत अभूतमिव ।

निश्चय ही आज की नहीं है और कल की नहीं है। 'अर्थ' इस दिन में। 'धु' दिवस का पर्यायवाचक है। द्योतन से युक्त होने के कारण। श्वः (आने वाला कल) आशा करने योग्य काल है। 'हचः' विता हुआ काल होने से जो अद्भुत बात है उसको कौन जानता है। जो भविष्य के गर्भ में है उसको कौन जानता है ।। अन्य अर्थात् सामान्यजनों का चित्त अस्थिर होता है। अन्य अर्थात् साधारण पुरूष। चित्त शब्द चिती संज्ञाने धातु से बना है। अच्छी प्रकार से सोचा हुआ भी बदल जाता है अघ्यातं अर्थात् चाहा हुआ भी चित्त की अस्थिरता के कारण स्थिर नहीं रहने पाता है और पदपूरक भी होता है।

नुनं साते प्रति वरं जरित्रे, दुहीयदिन्द्र दक्षिणामधोनी शिक्षा स्तोतृभ्यो माति धग्भगो नो वृहद्वदेम विदथेसुवीस हे इन्द्र धन से युक्त आप की यह दक्षिणा स्तुति करने वाले भक्त को अभीष्टफल को प्रदान करें। आप स्तुति करने वाले भक्तों को अधिक मात्रा मे धन सम्पत्ति शिक्षा आदि प्रदान करें। किन्तु हमारी उपेक्षा करके न दे। क्योंकि मै भी आप का भक्त हूँ। हमे धन धान्य की प्राप्ति हो और वीर पुत्र पौत्रादि से युक्त हम हमेशा यज्ञों में आप की अधिकाधिक स्तुति करते रहें।

सा ते प्रतिदुग्धां वरं जरिते । वरो वरयितव्यों भवति । जरिता गरिता । दक्षिणा मधोनी मधवती मधम् इति धननामधेय महतेर्दान कर्मणः। दक्षिणा दधतेः समर्धयति कर्मणः । व्यृद्ध समर्धयति इति । अपि वा प्रदक्षिणागमनात् दिशमभिप्रेत्य । दिक् हस्त प्रकृति दक्षिणो हस्तों दक्षतेः उत्साह कर्मणः। दाशतेर्वा स्यात् दानकर्मणः । हस्तो हन्तेः प्राशुः हनने ।

आप की वह दक्षिणा स्तुति कर्ता अभीष्ट फल प्रदान करे। वर उसे कहते है जो वरण करने योग्य होता है। 'जरिता' अर्थात् 'गरिता' अर्थात स्तुति करने वाला धन से युक्त है। क्योंकि मध यज्ञ धन का नाम है दानार्थक मह धातु से बना है। दान अर्थ में मह् धातु नहीं आई है। धातूनामनेकार्थत्वात् के सिद्धान्त को मानकर ही यहाँ यह धातु दानार्थक कही गयी है। समृद्ध करना- जो ऋद्धि हीन को समृद्ध करे। अथवा दाये जाने के कारण दिशा को लक्ष्य करके बना हो दिशा की उत्पत्ति हाथ से हुई है। दक्षिण हस्त अत्साहार्थक दक्ष से या दानार्थक दाश् से बना है। हस्त हन् धातु मारने से बना है क्योंकि यह मारने में तेज है।

देहि स्तोतृभ्यः कामान । मास्मान अति दंहिः। मास्मान अतिहाय दाः। भगो नोऽस्तु। वृहद् वदेम स्वे वेदने। भगोः भजतेः। वृहत इति महतो नामधेयम् । परिवृढ़ं भवति। वीरवन्तः।

कल्याण वीराः वा। वीरो वीरयति अमित्रांन। वे स्याद् गति कर्मणा वीरयते वा।

स्तुति करने वालों को काम दो। मुझे मत जलाओ। हमे छोड़ते हुए (किसी अन्य) को मत दो। हम लोगों का कल्याण हो। हम अपने गृह में तेज से बोलें। 'भग' भज् सेवायां धातु से बना है। वृहद् या महान का पर्याय वाची है। क्योकि सब और वदा हुआ है वीरों से युक्त है। पुत्र वाले या कल्याणकारी पुत्रवाले। वीर शत्रुओं को छिन्न भिन्न करता है। गत्यर्थक वी धातु से वीर शब्द बना है या वीरय् (वीर सा काम करना) से बना।

सीम इति परिग्रहार्थीयो वा पदपूरणो वा । प्रसीमादित्यो असृजत । प्रासृजत इति वा । प्रासृजत सर्वतः इति वा । 'विसीमत सुरूचो वेन आवः' इति च । व्यावृणोत् सर्वतः आदित्यः। सुरूचः आदित्यरश्मयः सुरोचनात् । अपि वा, 'सीम' इत्येतत् अनर्यकम् उपबन्धम् आददीत पन्चमीकर्माणम । सीम्न = सीमतः मर्यादातः । सीमा = मर्यादा विषीव्यति देशाविति। 'त्व' इति विनिग्रहार्थीयं सर्वनाम अनुदात्तम् अर्धनाम इत्येके।

सीम यह निपात सर्वत्र अर्थ में आता है अथवा पदपूर्ति में भी आता है । जैसे - अदिति का पुत्र (वरूण) तेजी से जाय। (पदपूरण होने पर) या सर्वत्र तेजी से जाय। ये दोनो अर्थ सम्भव है। चमकने वाले आदित्य ने सर्वत्र खोल दिया। सीम को परिग्रहार्थक मानने पर बेनः अर्थात् सूर्य ने अपने किरणों को चारो तरफ फैलाया। अथवा सुन्दर चमक वाली होने से सूर्य की किरणें सुरूचः कहलाती है। अथवा सीम शब्द अपादान ग्रहण करने वाले प्रत्यय को बिना किसी विशेष अर्थ के लगता है। सीमन-सीमा-सीमा मर्यादा से सीमा = मर्यादा , क्यो कि दो देशों को जोड़ती है। 'व' यह निपात विशेष नियन्त्रण अलग अलग कर निगर्मन करने के अर्थ में प्रयुक्त होने वाले सर्वनाम और अनुदात्त है। किन्ही के मत से अर्ध आधे का वाचक है।

ऋचां त्वः पोषमास्ते पुपुष्ठान , गायत्रं त्वो गायति शक्करीषु।
ब्रह्मा त्वो वदतिजात विद्यां यज्ञस्य मात्रां वि मिमीतउ त्वः१।।

त्वः एक पुपुष्ठान् पोषण करने वाला प्रोहित ऋचां - ऋचाओं की पृष्टि करता है। और एक शक्वरी नामक ऋचाओं में गायत्री मन्त्र वाले मन्त्रों को गान करता है। अवसर आने पर विद्या को करता है और एक यज्ञ के स्वरूप् को निर्माण करता है।

इति ऋत्विक कर्मणां विनियोगमाचष्टे । ऋचाम् एकः पोषम आस्ते पुपुष्वान् होता। ऋक् अर्चनी। इस मन्त्र के द्वारा यज्ञ में काम करने वाले चारो ऋत्विजों के कार्यो का विनियोग कहा जा रहा है एक ऋचाओं की पुष्टि करने वाला बैठता है। अर्चना करने वाला ऋक कहलाता है।

गायत्रं गायतेः स्तुतिकर्मणः । शक्वर्यः ऋचः शक्नोतेः । तद् याभिः वृत्रमशकद् हन्तु तत् शक्वरीणां शक्वरीत्वमिति विज्ञायते।

और अन्य शक्वरी नामक ऋचाओं में गायत्री मन्त्र का गान करता है उद्गाता। 'गायत्रं' पदस्तुत्यर्थक गै धातु से बना है। शक्वरी ऋचाएँ हैं। शक्बरी शब्द शक् धातु से बना है। क्योकि इनके द्वारा (इन्द्र) ने वृत्र वध करने में समर्थ हुए। यही शक्वरीत्व है अर्थात् इसी कारण ये शक्वरी नाम से कही जाती है यह

ज्ञात होता है।

ग्रहना एको जाते जाते विधां वदति। ब्रहना सर्वविधः सर्ववेदितुमर्हति । ग्रह्मा परिवृढ़ः श्रुततः । ब्रह्म परिवृढ़ सुर्वंत:। एक अर्थात् ब्रह्मा अवसर आने पर 'ब्रह्मा एक है जो प्रत्येक कठिन प्रसगं का समाधान करता है ब्रह्म सर्वज्ञ है ब्रह्मवेदों के ज्ञाता है। ब्रह्म ब्रह्म सबसे बड़ा है।

यज्ञस्य मात्रां विमिमीत एकः अध्वर्युः। अध्वर्युः अध्वरयुः अध्वर युनक्ति, अध्वरस्य नेता, अध्वर कामयत इति वा। अपि वाअधियाने युरूप बन्धः। अध्वर अति यज्ञनाम्। ध्वरति हिंसा **कर्मा, तत्प्रतिषेधः**। एक अध्वर्यु है जो यज्ञ का परिणाम नापता है। (सम्पन्न करता है) अध्वर्यु = अध्वर यु रकार के अकार का लोप अध्वर को जोड़ने वाला। अध्वर का नेता या अध्वर का कामना करने वाला क्यङ प्रत्यय हुआ है। अथवा अध्ययन के अर्थ में यु प्रत्यय लगा है। अध्वर यज्ञ का पर्याय है। ध्वर हिंसा करना इसका निषेध अहिंसा है।

निपात इत्येके। तत् कथम्। अनुदात्त प्रकृतिनाम स्यात्? द्रष्टव्य भवति।

कुछ लोगों के अनुसार (त्व) निपात है। नहीं तो संज्ञा शब्द किस प्रकार अनुदात्त हो सकता है। फिर भी 'त्व' का रूप परिवर्तन देखा जाता है, जैसे -

उत त्त्वं सख्ये स्थिर पीतमाहुः, इति द्वितीयायाम् 'उतो त्वस्मै तन्वं विसस्रे इति चतुर्थ्याम्। अथापि प्रथमा बहुवचने।

मित्रता के विषय में कुछ को स्थिर होकर अर्थ ज्ञान कराने वाला कहते हैं- यहाँ द्वितीया विभक्ति में। कुछ के लिए यह शरीर फैलाती है यहा त्वस्मै में चतुर्थी विभक्ति है प्रथमा बहुवचन में भी होता है।

अक्षण्वन्तः कर्णवन्तः सखायो मनोजवेष्ठसमा बभूवुः।
आंदध्नास उपकक्षास उत्वे हदाइव श्नात्वा उत्वे ददृश्रे।।

आखों और कानों आदि अंगो की दृष्टि से समान स्थिति वाले विद्यार्थी भी मन के बेग से बराबर नही होते है। मुंह तक जल वाले तालाब के समान कुछ ख तक जलवाले तालाब के समान तथा स्नान करने योग्य (तालाब के समान) दिखलायी पड़े।

भावार्थ - जिस प्रकार तालाबों की गहराई भिन्न भिन्न होती है उसी प्रकार विद्वानों की वुद्धि भी भिन्न भिन्न है अर्थात वुद्धि के वेग में विषम हैं। सखा का अर्थ यहा कवि है जो कई प्रकार के हैं उत्तम, मध्यम और अधम आदि ।

अक्षिमन्तः कर्णवन्तत् सखायः। 'अक्षि चष्टे ' अनक्तेः इति आग्रायणः। तस्मादेते व्यक्ततरे इव भवतः इति ह विज्ञायते। 'कर्ण' कृन्ततेः। निकृन्त द्वारा भवति इच्छतेः इति आग्रायण। ऋच्छन्ति इव, खे उदगन्तामिति ह विज्ञायते।

आँख से युक्त और कान से युक्त मित्रगण। अक्षि यक्षिङ् धातु से बना है। आग्रायण अंजू धातु से बना है इसलिए यह अधिक व्यक्त होती है। यह ब्राह्मण में चक्षु शब्द का निर्वचन पाया जाता है।

मनसा प्रजवेषु असमाः बभूवुः । आस्य दध्नाः अपरे, उपकक्ष दध्ना अपरे । आस्यंम् आस्यतेः । आस्यन्दत उतदन्नमिति वा । दध्नं दध्यतकः सवति कर्मणः दस्पतेर्वा स्यात् विदस्ततरं भवति । प्रस्नेया ह्रदा इवैक ददृशिरे । प्रस्नेयाः स्नानार्हाः। ह्रदो ह्रादतकः शब्द कर्मणः। ह्रादतेर्वा स्यात् शीती भाव कर्मणः।

मन के वेग में समान नहीं हुए । और दूसरे कोई केवल मुंह भी ही थे । कुछ लोग काँख भी थे। आस्य शब्द असु क्षेवणे धातु से बना है । जिसका अर्थ होता है मुह में फेकना । या अन्न मुह में बहता है। अथवा आङ् उपसर्ग पूर्वक स्यन्दू प्रस्रवणे धातु से भी आस्य शब्द बन सकता है । यह अन्न को बहाता है दध्न बहने वाली दध धातु से अथवा दसु धातु से बना है । क्योकि क्षीणतर होता है कोई स्नान करने योग्य तालाबों के समान दिखायी दिये थे । प्रंस्नेय स्नान करने योग्य ह्रद शब्द ह्रादअव्यक्ते शब्दे' धातु से बना है अथवा हा्रदी सुखे च शीतीभाव अर्थ वाले ह्राद धातु से बना है।

अथापि समुच्चयार्थे भवतिं । पर्याया' इव तदाश्विनम्' । आश्विन च पर्यायाश्च इति । अथ ये प्रक्ते अर्थे अमि ताक्षरेषु वाक्यपूरणाः आगच्छंति, पदपूरणास्ते मिताक्षरेषु अनर्थकाः। कम फ इन्, इत् उ ति । और 'त्व' यह निपात समुच्चय अर्थ में भी प्रयुक्त होता है।जैसे पर्याय और आश्विन ये दोनो यज्ञ पात्र के नाम है। पर्याय और अश्विन । यहाँ 'त्व' के स्थान पर त्वम् निपात का प्रयोग है और अर्थ के पूर्ण हो जाने पर गद्य ग्रन्थों में जो वाक्य पूर्ति में प्रयुक्त होते हैं । वे ही नियत अक्षरों वाले ग्रन्थों मे पदपूरक अनर्थक निपात होते हैं । जैसे - कम् इम् इत् और उ ये चार निपात मुख्य रूप से पद पुरक में आते हैं।

निष्ट्रक्त्रासश्चिदिन्नरो भूरितो का वृकादिव ।

विभ्यस्यन्तो ववाशिरे शिशिरं जीवनाय कम् ।।

बिना वस्त्र के मनुष्य बहुत सन्तान वाले बनकर मानो भेड़िये से डरते हुए रोने चिल्लाने लगें कि शिशिर ऋतु जीवन दान करें ।

वस्त्र हीन तथा अधिक सन्तानों वाले कुछ दरिद्र लोग हेमन्त के शीत से अत्यन्त भयभीत होकर जीवन की रक्षा के लिए शिशिर को आवाहन करते है । यहाँ कम् यह निपात अनर्थक है शिशिर शब्द श्रृ हिंसायां धातु से बना है । क्योंकि वह वृक्ष की पत्तियों को नष्ट कर देता है । अथवा शमु हिंसायाम् धातु से बना है । इन दोनों का अर्थ एक ही होता है ।

एमेनं सृजता सुते। आसृजत एनं सुते । तमिद्वर्धन्तु नो गिरः। तं वर्द्धयन्तु नो गिरः स्तुतयः। गिरः गृणातेः। रस निकल जाने पर इसको डालो । हमारी स्तुतियॅा उस सोम को बढ़ावे यहाँ इत अनर्थक है । अतः हमारी वाणी उसको बढ़ावें वाणी का अर्थ स्तुति है ।

'अयमु ते समतसि'। अयं ते समतसि ।

यह आप का गमन स्थान है । यहॉ अयमु में का 'उ' अनर्थक या पदपूरक मात्र माना जाता है । अतः

अकार को निकालकर अयं ते समतसि यह वाक्य रह जाता है।
इवोऽपि दृश्यते/'सुविदुरिव', 'सुविज्ञायंते इव''।

कहीं कहीं इव निपात भी अनर्थक या पदपूरक मात्र पाया जाता है। जैसे वे ब्राह्मण लोग यज्ञ को अच्छी तरह जानते हैं और वे दोनो अच्छी तरह जाने जाते हैं।
अथायि 'न' इत्येष 'इत' इत्येतेन सम्प्रयुज्यते परिभये। और 'न' यह निपात 'इत' इस अनर्थक निपात के साथ मिलकर परिभय अर्थ में प्रयुक्त होता है। कहीं ऐसा न हो कि पाप करते हुए हम लोग नरक में गिरें। नरकं न्यरकं नीच्चैर्गमनम्।

नास्मिन् रमणं स्यानम् अल्पम् अस्ति इति वा। नरक का अर्थ न्यरक अर्थात् नीचे की ओर गमन है। अथवा जिसमें तनिक सा भी सुन्दर स्थान नहीं है। अथापि 'न' 'च' इत्येष 'इत' इत्येतेन सम्प्रयुज्यते अनुपृष्टे 'न' चेत् सुरां पिवन्ति इति सुरा सुनोतेः। और 'न' 'च' यह (दोनों निपात इकट्ठे) 'इत' इस अनर्थक निपात् के साथ मिलकर अनुप्रश्न के अर्थ में प्रयुक्त होता है। जैसे कहीं शराब तो नहीं पी रहे हैं।

एवं उच्चवचेषु अर्थेषु निपतन्ति। त उपेक्षितव्याः। इस प्रकार निपात भिन्न भिन्न अर्थों में प्रयुक्त होतें उनको अच्छी प्रकार से समझ लेना चाहिए।

अभ्यासार्थ प्रश्न

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. निघण्टु किसे कहते है ?

2. निघण्टु शब्द की व्युत्पत्ति किस प्रकार से की गयी है ?

3. नाम किसे कहते है ?

4. सत्व किसे कहते है ?

5. भाव किसे कहते है ?

6.उपसर्ग किसे कहते है ?

7.निपात किसे कहते है ?

8. प्रथम पाद में किसका वर्णन है ?

9. निपात कितने प्रकार के होते है ?

10. निरूक्त के प्रथम अध्याय में कितने पाद है ?

बहुविकल्पात्मक प्रश्न

1. लोक में कितने प्रकार के पद होते हैं-

(क) चार प्रकार के (ख) छः प्रकार के

(ग) तीन प्रकार के (घ) दो प्रकार के

2. आख्यात किसे कहते हैं -

(क) जिसमें क्रिया की प्रधानता हो

(ख) जिसमें द्रव्यांश की प्रधानता हो

(ग) जिसमें लिगं संख्या कारकादि की प्रधानता हो

(घ) जिसमें कर्ता की प्रधानता हो

3. उपसर्ग कितने प्रकार के होते हैं -

(क) 18 (ख) 20

(ग) 25 (घ) 18े

4. द्वितीय पाद में किसका वर्णन है -

(क) आख्यात (ख) उपसर्ग

(ग) निपात (घ) नाम

5. तृतीय पाद में किसका वर्णन किया गया है -

(क) निपात (ख) नाम

(ग) आख्यात (घ) उपसर्ग

4.4 सारांश

इस इकाई में यास्काचार्य द्वारा रचित निरूक्त के प्रथम अध्याय के प्रथम , द्वितीय एवं तृतीय पाद की

व्याख्या की गयी हैं प्रथम पाद में निघण्टु किसे कहते हैं इसकी सिद्धि कैसे की गयी है, इसके बारे मे बताया गया है। इसमें लौकिक शब्दों को चार प्रकार से विभाजत किया गया है नाम, आख्यात, उपसर्ग, और निपात, उसी प्रकार से चार प्रकार के ये वैदिक पद भी है इस पाद में नाम' आख्यात उपसर्ग इन तीनों का वर्णन किया गया है। द्वितीय पाद तथा तृतीय पाद में निपात का सम्यग् रूप से विवेचन किया गया है।

अभ्यास प्रश्नों के उत्तर हेतु इस इकाई में वर्णित तथ्यों का अनुसरण कर अभ्यास प्रश्नों का समाधान करने का अभ्यास करें।

4.5 शब्दावली

शब्द	अर्थ
समाम्नाय	वैदिक शब्द कोश
समाम्नातः	बनाया जा चुका है
निगमा	वेदार्थ
पूर्वापरीभूतम्	आदि से लेकर अन्त तक
आस्ते जायते	उत्पन्न होता है
अस्ति	रहता है
विपरिणमते	परिवतित होता है
वर्धते	बढ़ता है
अपक्षीयते	क्षीण होता है
विनश्यति	नष्ट होता है,
निर्वद्धा	अलग करके गुम्फित किये हुए
उच्चावचाः	नाना प्रकार के
दधिचित	दही के समान
कुल्माष	निकृष्ट धान्य
पुरूहूत	हे इन्द्र
समुच्चायार्थ	समुचित अर्थ में
वृत्रहन	इन्द्र
मृष	झूठ
शश्वत्	निश्चय
नूनम्	निश्चयार्थक
अगस्त्य	ऋषि यामन्त्र द्रष्टा
अद्य	आज

पर्याय	यज्ञ पात्र के नाम
अनिताक्षरेषु	जिनमें अक्षरों की गणना का नियम नहीं होता
पुपुष्वान	पोषण करने वाला पुरोहित
जातविद्या	स्मय समय धरसमाधान
अक्षवन्तः	ऑंख से युक्त
कर्णवन्तः	कान से युक्त
असमा	बराबर नही
ववाशिरे	रोने चिल्लाने लगे

4.7 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. उमाशकरं शर्मा 'ऋषि' निरूक्तम् (यास्कप्रग्रीतम्)चौखम्भा विद्याभवन चौक (बनारस स्टेट बैंक के पीछे) पो . वा. नं. 1069 वाराणसी 221001

2. गोपाल दत्त पाण्डेय वैयाकरण सिद्धान्त कौमुदी भट्टोजिदीक्षित विरचित चौखम्भा सुरभारती प्रकाशन के 06/117 गोपाल मन्दिर लेन पो. वा0 नं. 1129 वाराणसी 221001

4.8 उपयोगी पुस्तकें

आचार्य विश्वेश्वर निरूक्तम् (श्रीयास्काचार्य विरचित) ज्ञानमण्डल लिमिटेड वाराणसी 221001

4.9 निबन्धात्मक प्रश्न

1. नाम एवं आख्यात का विवेचन कीजिए

2.भावविकारों की समीक्षा कीजिए

इकाई 5 : निरूक्त के प्रथम अध्याय के चतुर्थ, पंचम एवं षष्ठ पाद की व्याख्या

इकाई की रूपरेखा

5.1 प्रस्तावना
5.2 उद्देश्य
5.3 निरूक्त के प्रथम अध्याय के चतुर्थ, पंचम एवं षष्ठ पाद की व्याख्या
5.4 सांराश
5.5 शब्दावली
5.6 अभ्यासार्थ प्रश्न
5.7 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
5.8 उपयोगी पुस्तकें
5.9 निबन्धात्मक प्रश्न

5.1 प्रस्तावना

वैदिक साहित्य से सम्बन्धित यह पंचम इकाई है। इस इकाई के अध्ययन से आप बता सकते हैं कि यास्काचार्य द्वारा रचित निरूक्त के प्रथम अध्याय के चतुर्थ पाद में किसका वर्णन किया गया है इस पाद मे मूलरूप से पदों को जो चार प्रकार का विभाग किया गया है - नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात इन चारों की व्याख्या चतुर्थ इकाई में की गयी है। अब इन चारों में नाम को आख्यातज माना गया है।

यास्काचार्य द्वारा रचित निरूक्त के प्रथम अध्याय के पंचम पाद मे मूलरूप से निरूक्त के प्रयोजनों के विषय मे विस्तृत चर्चा की गयी है।

इस इकाई में निरूक्त के प्रथम अध्याय के चतुर्थ पाद, पंचम पाद एवं षष्ठ पाद की विस्तुत चर्चा की गयी है इनके बारे मे आप भली भाँति परिचित होगे।

5.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप यास्काचार्य द्वारा रचित निरूक्त के प्रथम अध्याय के चतुर्थ पंचम तथा षष्ठ पाद की व्याख्या कर सकेंगे।

- निरूक्त के प्रथम अध्याय के चतुर्थ पाद की व्याख्या आप भली भाँति कर सकेंगे
- नाम और आख्यात क्या है इसके बारे में आप परिचित होगें।
- कौत्स के मत में मन्त्रार्थ की आवश्यकता है कि नहीं इसके बारे में आप परिचित होगें।
- प्रथम अध्याय के पंचम पाद की व्याख्या आप कर सकेंगे
- निरूक्त के षष्ठ पाद की व्याख्या आप कर सकेंगे
- ऋषिगणों ने मन्त्रार्थ की आवश्यकता क्यों बतायी इसके बारे में आप परिचित होगें।

5.3 निरूक्त के प्रथम अध्याय के चतुर्थ, पंचम एव षष्ठ पाद की व्याख्या

चतुर्थ पाद

इति इमानि चत्वारिपदजातानि अनुक्रान्तानि नामाख्याते चोपसर्ग निपाताश्च।

इस प्रकार अब तक तीन पाद तथा नाम आख्यात उपसर्ग और निपात इन चारों प्रकार के पदों का क्रमशः विवेचन कर दिया गया है। **तत्र नामानि आख्यातजानि इति शाकटायनः नैरूक्त समयश्च। न सर्वाणि इति गार्ग्यः वैयाकरणानां चैक।**

शाकटायन और निरूक्तकार यास्काचार्य का मत है कि सभी नाम आख्यातज हैं। गार्ग्य और कुछ वैयाकरणों का मत है कि सभी नाम आख्यातज नहीं है।

तद् यत्र स्वरसंस्कारौ समर्थौ प्रादेशिकेन गुणेन अन्वितौ स्यातां संविज्ञातानि तानि। यथा गौ, अश्वः, पुरूषः हस्तीति।

जहाँ स्वर (उदात्त, अनुदात्त आदि) और संस्कार (अर्थात प्रकृति प्रत्यय का विभाग) अर्थ के अनुकूल हो और क्रिया सम्बन्धी गुण से युक्त हो वे प्रसिद्ध हैं। अर्थात उनको सभी लोग आख्यातज मानते हैं। जैसे हारक, कारकः, पाठकः आदि किन्तु जहाँ प्रकृति प्रत्यय का विभाग स्पष्ट नहीं हो वे रूढ कहे जाते हैं जैसे गौ, अश्व, पुरूष, हस्ती आदि।

चेत सर्वाणि आख्यातजानि नामानिस्युः, यः कश्च तत् कर्म कुर्यात् सर्व तत् सत्त्वं तथा आचक्षीरन्। यः कश्चाध्वानमश्नुवीत अश्वः स वचनीयः स्यात्। यत् किन्चिद् तृन्धातृ तृणं तत्। यदि सारे नाम आख्यातज हो तो कोई भी उस कर्म को करें उन सबको उस नाम से कहा जाता है। जैसे कोई भी मार्ग करे वह अश्व कहलाता है। और जो कुछ पीड़ा दायक हो वह तृण कहलाता है। इस लिए आख्यातज पद नहीं अपितु रूढ़ है।

अथापि चेत् सर्वाणि आख्यातजानि नामानि स्युः, यावद्भिर्भावैःसम्प्रयुज्येत तावद्भ्यो नामधेय प्रतिलम्भ: स्यात्। तत्रैव स्पूर्णा दरशया वा संजनीच स्यात्।

और भी यदि सारे भी नाम आख्यातज हों तो जितनी क्रियाओं के साथ सम्बन्ध हों उन सबके द्वारा उनका नामकरण होना चाहिए। इस प्रकार मानने पर खम्भे को दस्शया या संजीवनी कहते हैं।

अथापि य एषां न्यायवानृ कार्मनामिकः संस्कारः, यथा चापि प्रतीतार्थानि स्युः। तथा एनान्याचक्षीरन्। पुरूषं पुरिशय इत्याचक्षीरन। अष्टा इत्यश्वम, तर्दनमिति तृणम्।

इनमें जो व्याकरण के नियमों से युक्त किसी समानार्थक क्रिया ये उत्पन्न नाम की रचना है। तथा जिनका अर्थ तुरन्त मालूम हो जाय - उन्हें लोग उन धातुओं के अनुसार ही पुकारते हैं। 'पुरूष' को लोग पुरिशय कहते हैं। अश्व को अष्टा कहते हैं। तृण की तर्दन कहते हैं।

अथापि निष्पन्नें अभिव्याहारे विचारयन्त् प्रथनात पृथिवी इति आहुः। के एनाम अप्रथयिष्यत् ? किमाधार: चेति ?किसी शब्द के व्यवहार में चल पड़ने पर लोग उसकी उत्पत्ति पर विचार करते है प्रथ (फैलाना) से पृथिवी शब्द की निष्पत्ति हुई है तो इसको किसने फैलाया ? कहाँ पर बैठकर ?

अर्थ अनन्विते अर्थे अप्रादेशिके विकार, पदेभ्यः पदेतरार्द्धान् सन्चस्कार शाकटायनः। एतैः कारितं च यकारादिं च अन्तकरणम्,। अस्तेः शुद्धं च सकारादिं च

शाकटायन ने शब्द के साथ के साथ अर्थका कोई सम्बन्ध न होने और क्रिया से सम्बन्ध किसी विकार के न होने पर अनेक शब्दों से अन्य पदोंके आधे भागों की रचना की है। जैसे इण् गतौ प्रेरणार्थक रूप णिजन्त यकार को अन्त में रखा। अस् होना के मूल रूप के सकार को आदि में रखा। इसके अतिरिक्त कहा गया है कि क्रिया के पहने ही नाम पड़ जाता हे। इसलिए बाद में होने वाली क्रिया के आधार पर नामकरण नहीं होता। इस प्रकार यह उचित नहीं है।

पपो हि नु वै एतम्। तद् यत्र स्वर संस्कारौ समर्थौ-प्रादशिकेन गुणेन अन्वितौ स्यातां सर्व प्रादेशिकम इति। एवं सति अनुपालम्भ एवं भवति।

सबसे पहले यह कहा है कि -जहाँ-जहाँ स्वर और प्रकृति प्रत्यय का विभाग अर्थ के अनुकूल और क्रिया सम्बन्धी गुण से युक्त होते हैं। सम्पूर्ण क्रिया सम्बन्धी गुणों से युक्त हैं। ऐसा कहने पर यह दोष नहीं बनता है।

यथो एतत्। यः कः च तत्कर्म कुर्यात् सर्व तत् सत्त्वं तथा आचक्षीरन इति। पश्यामः समान कर्मणां नाम धेय प्रतिलम्भम एकेषां न एकेषाम्।

यथा तथा परिव्राजकः जीवन: भूमिज इति।

और जो यह कहा है कि - जो कोई उस कार्य को करेगा उन सब पदार्थो को उस नाम से कहा जायेगा देखते है कि कुछ समानार्थक शब्दो का भी नामकरण होता है कि कुछ का नहीं , जैसे तक्षा (नामआख्यातज है) पर प्रत्येक तक्षण क्रिया का करने वाला तक्षा नहीं कहलाता है। केवल बढ़ ही तक्षा कहलाता है। इसी प्रकार परिव्राजक (सन्यासी), जीवन (जल) भूमिज मंगल ग्रह या वृक्ष ही उन नामों से कहा जाता है। एतेन एव उत्तरः प्रत्युक्तःइसी युक्ति या प्रक्रिया अगली युक्ति का खण्डन हो जाता है।

यथो एतत् यथा चापि प्रतीतार्थनि स्युस्तथा एतानि आचक्षीरनृ इति। सन्त्यल्प प्रयोगाः कृताऽपि ऐकपदिकाः। यथा व्रततिः, दमूना, जाटयः, आट्णारः जागरूकः दवि। होमी इति।

और यह जो कहा कि जिनका अर्थ तुरन्त मालुम हो जाय, उन नामों को लोग धातुओं के अनुकूल कहते है। इस तरह के कृदन्त सें बने शब्द तो प्रयोग मे कम आनेवाले है। तथा ऐकपदिक काण्ड में गिनाये गये है। जैसे व्रतति (लता), दमूना, (अतिथि या अग्नि), जाटचः (जटिल), आटूणारः (अटन शील), जागरूक (जागने वाला), दर्विहोमी (चम्मच से हवन करने वाला), आदि शब्द कृदन्त पद है। उनमें प्रकृति प्रत्यय विभाग है परन्तु अर्थ स्पष्ट नही होता है।अर्थो एतत्। निष्पन्ने अभिव्याहारे अभिविचारयन्ति इति। भवति हि निष्यन्ने अभिव्याहारे योग परोष्टिः। प्रथनात पृथिवी इत्याहुः कः एनाम अप्रथयिष्यत किमाधारश्च इति। अथ वै दर्शनेन पृथुः अप्रथिता चेत अपि अन्यैः। अथापि एवं सर्व एव दृष्ट प्रवादाः उपलभ्यन्ते।

यह कहा कि किसी शब्द के व्यवहार में चलने पर लोग उसकी उत्पत्ति पर विचार करते हैं। क्यों कि व्यवहार होने पर ही शब्द के निर्माण की जाँच होती है। प्रथ् फैलाना से पृथिवी बनी तो इसे किसने फैलाया और कहा बैठकर ? देखने में तो यह फैली हुई लगती है न? भंले ही इसे किसी ने नही फैलाया हों। इसके अलावा सभी लोग तो देखकर नाम देने वाले पाये जाते हैं।

अथो एतत् पदेभ्यः पदेतरार्धान सन्चस्कार इति यः अन्विते अर्थे सन्चस्कार स तेन गहर्चः। सा एषा पुरूष गर्हा।

यहाँ कहा कि कई आख्यात शब्दों से किन्हीं शब्दों की भिन्न भिन्न बनावट करते हैं। वहॉ उस प्रकार की रचना निन्दनीय है। यह पुरूष की निन्दा है।

अर्थो एतत् अवारूमसत भावात् पूर्वस्य प्रदेशः न उपपद्यते इति । पश्यामः पूर्वोत्पन्नाना सत्त्वानाम अपरस्मात् नामधेय - प्रतिलम्भमेकेषां न एकेषाम् । यथा बिल्वादः लम्बचूडकः इति बिल्वं भरणात् वा भेदनात् वा ।

यहाँ कहाँ कि बाद में होने वाली क्रिया के आधार पर पूर्व में नामकरण नही होता । यहाँ देखा जाता है कि पूर्व में होने वाली वस्तुओं का नामकरण बाद में होने वाली क्रिया के आधार कुछ दशाओं में होता है कुछ दशा में नही होता है। जैसे बिल्वाद लम्बचूडकः । आदि मे बिल्ण भक्षण और लम्बी चूछा की उत्पत्ति बाद को प्रयोग जन्म से ही होने लगता है ।

पञ्चम्-पाद

अथापि इदमन्तरेण मन्तेषु अर्थ प्रत्ययो न विद्यते अर्थम् अप्रतियतो नात्यन्तं स्वरसस्कारोद्देशः। तदिदं विद्यास्पानम्। व्याकरणज्य कात्र्स्यम्। स्वार्थ साधकं च यदि मन्त्रार्थ प्रत्ययाय, अनर्थकं भवति इति कौत्सः। अनर्थकाहि मन्त्राः तदेतेन उपेक्षितव्यम् और इस निरूक्त के बिना मन्त्रों में अर्थ का ज्ञान नहीं हो सकता । मन्त्रों के अर्थ का ज्ञान नही रखने वाला निश्चित रूप से स्वर और संस्कार का निर्णय नही कर सकता यह निरूक्त एक विधा स्थान है कौत्स कहते है कि यदि (निरूक्त) मंत्र का अर्थ बोध कराने के लिए है तो व्यर्थ है, क्योकि मंत्र स्वयं अर्थ से रहित है।

नियत वसचो युक्तयः, नियतानुपूर्व्याः भवन्ति। अथापि ब्राह्मणेन रूप सम्पन्नाः विधीयन्ते । 'उरू प्रथस्व' इति प्रथयति । 'प्रोहाणि' इति प्रोहति । अथापि अनुपपन्नार्थाः भवन्ति । ओषधे त्रायस्व एनम् । 'स्वाधिते मा एनम् हिंसीः' इत्याह हिसनम् । मंत्र निश्चित शब्दों की योजना से युक्त होते हैं और क्रम भी नियत होता है । और इसके अन्य ब्राह्मणों के द्वारा उनके प्रयोजन निश्चित किये गये हैं । जैसे उरू प्रथस्व इससे पुरोडाश को फैलाया जाता है इस प्रकार पुरोडाश का फैलाने में शतपथ ब्राहमण द्वारा विनियुक्त किया जाता है । और प्रोहामि इत्यादि से कहकर पुरोडाश की ओर प्रेरित करता है , मंत्रो को सार्थक माना जाय तो असंगत अर्थ होते हैं जैसे हे ओषधि, तु इसकी रक्षा करो, और हे कुठार तू इसको मत मार ऐसा काटते हुए भी कहा गया है । अथापि विप्रतिषिद्धार्थो भवन्ति । और यदि मंत्रो को सार्थक माना जाय तो परस्पर विरूद्ध अर्थों को कहने वाले हैं ।

' एक एव रूद्रोऽलतस्थो न द्वितीयः' 'असंख्याता सहस्राणि ये रूद्रा अधि भूम्याम्'।

एक ही रूद्र स्थित है दूसरा नहीं । एक रूद्र की सत्ता का प्रतिपादन किया है परन्तु दूसरी जगह इस पृथिवी पर असंख्य - सहस्रों रूद्र हैं ।

अशतुरिन्द्र जज्ञिषे शतं सेना अजयत साकमिन्द्रः इति ।

इन्द्र का कोई शत्रु नहीं है यह कहा गया है। इसके विपरित इन्द्र ने एक साथ सैकड़ो सेनाओं पर विजय प्राप्त की ये दोनों बाते परस्पर विरूद्ध हैं ।

अथापि जानन्त सम्प्रेष्यति ' अग्नये' समीध्यमानाय अनुवूहि इति ।

और जाने वालों को प्रेरणा करता है कि प्रदीप्त होने वाले अग्नि की स्तुति के लिए मन्त्रों को पढ़ो।

अथाव्याह अदितिः सर्वम इति। 'अदितिद्यौः अदितिरन्तरिक्षम्' अति पदुपरिष्टात् व्याख्यास्यामः। और यह भी कहा गया है कि अदिति सब कुछ है अदिति स्वर्ग है अदिति अन्तरिक्ष है । इसकी व्याख्या आगे की जायेगी । अथाव्य विस्पष्तार्या भवन्ति । अम्यक् यादृश्मिन्, जारयायि, काणुका इति ।

यदि मन्त्रों को सार्थक माना जाय तो बहुत से मन्त्र ऐसे हैं जिनका अर्थ स्पष्ट नहीं है जैसे सम्पक् यादृस्मिन जारयायि काणुका इति । अर्थवन्तः शब्द सामान्यात् । एतद्वै यज्ञस्य सम यदूपसमृद्धं यत्कर्म क्रियमाणम् ऋग् यजर्वा अभिवदति इति च ब्राह्मणम् । क्रीडन्तौ पुत्रैर्नप्तृभिः इति ।

मन्त्रों की सार्थकता का प्रतिपादन

शब्दों की समानता के कारण मन्त्र अर्थवान है और यह ब्राह्मण वाक्य मिलता है कि - यज्ञ की यही विशेषता है कि जिस रूप से युक्त जो कर्म किया जाता है उसी का यज्ञ में पढ़े जाने वाले ऋग्वेद और यजुर्वेद के मन्त्र भी प्रतिपादन करते है (सन्तानोत्पत्ति के लिए किया जाने वाले विवाह के अवसर पर पढ़े जाने वाले मन्त्रों मे वर वधु को यह आशीर्वाद दिया जाता है कि) तुम दोनों पुत्र-पौत्रो के साथ आनन्द करते हुए अपने गृहस्थ धर्म को व्यतीत करो ।

अथो एतत् नियतवाचोयुक्तयो नियतानुपूर्व्याः भवन्ति इति । लौकिकेषु अपि एतत् । यथा 'इन्द्राग्नी पिता पुत्रौ' इति । जो यह कौत्स ने कहा है कि मन्त्र अनर्थक होते हैं यह मत ठीक नही है । क्योंकि शब्दो की योजना और उनका क्रम भी नियत होता है । यह बात लौकिक वाक्यों में पायी जाती है। जैसे - इन्द्राग्नी और पिता-पुत्रौ वे लौकिक प्रयोग है । इनमें कोई परिवर्तन नहीं हो सकता । यथो एतत्। ब्राह्मणेन रूप सम्पन्नाः विधीयन्ते इति । उदितानुवादः सभवति । यथोएतत् । 'अनुपपन्नार्थोः भवन्ति इति । आम्नाय वचनारहिंसाप्रतीयेत ।

अथो एतत्- 'विप्रतिषिद्धार्था भवन्ति' इति। लौकिकेषु अणि एतत्। यथाअसपत्नाऽयं ब्राह्मणः । अनमित्रो राजा इति।

और जो यह कहा है कि बहुत से मन्त्र परस्पर विरूद्ध अर्थ को कहने वाले होते हैं, लोक में भी यह पाया जाता है जैसे - इस ब्राह्मण का कोई शत्रु नहीं है; यह राजा शत्रु हीन हैं ।

यथो एतत्- ' जानन्तं सम्प्रष्यति' इति । जानन्तमभिवादयते, जानते मधुपर्क प्राह इति।

और जो यह कहा है जानते हुए को प्रेरणा करता है । जानते हुए गुरू को शिष्य आदि अपना नाम उच्चारण करके 'अभिवादयेऽहं देवदत्त : , इत्यादि रूप से अभिवादन करता है । और जानते हुए को मधुपर्क प्रस्तुत करता है ।

अथो एतत्- 'अदितिः सर्वम्' इति लौकिकेषु अपि एतत् । यथा 'सर्वरसा अनुप्रापपानीयम् ' इति।

और जो यह कहा है कि अदिति ही सब कुछ द्यौ: अन्तरिक्ष आदि है, इसका उत्तर यह है कि लौकिक प्रयोगों में यह होता है जैसे पानी में सारे रस आ जाते है।

अथो एतत्- 'अविस्पष्टार्था भवन्ति' इति नैष स्थाणोः अपराध: यदेनम अन्धो न पश्यति। पुरूषापराधः

स भवति।

जो यह कहा कि बहुत से मन्त्रों मे अर्थ स्पष्ट नही है। इसका उत्तर यह है कि यह ठूँठ वृक्ष का दोष नहीं जो अन्धा उसको देख नहीं पाता है। यह तो पुरूष का दोष है।

यथा जनपदीषु विद्यातः पुरूष विशेषो भवति ।

परोवर्यवित्सु तु वेदितृषो भूयोविद्यः प्रशस्यो भवति।

जैसे मनुष्यों के साधारण कामो मे ज्ञान के कारण मनुष्यों मे अन्तर होता है। परम्परा से ज्ञान प्राप्त करने वाले लोगों में तो अधिक विद्यावाला ही प्रशंसनीय होता है।

षष्ठ पादः

अथापि इदमन्तरेण पदविभागो न विद्यते। अवसाय पदूते रूद्र मृड अति पद्वद् अवसं गावः, पथ्य् दनम्। अवतेर्गत्यर्थस्य । असौ नामकरणः। तस्मात् न अवगृहन्ति। अवसाया श्वान् इति । स्यतिः उपसृष्तो विमोचने। तस्मात् अवगृह्णन्ति।

निरूक्त का प्रयोजन

निरूक्त के बिना मन्त्रों के पदों का विभाग नहीं किया जा सकता है। जैसे - ’हे रूद्र’ पैरों से युक्त भोजन पर कृपा करों। यहाँ पैरो से युक्त मार्ग का भोजन गाय है। अर्थात् यात्रा के अवसर पर मार्ग में गाय का दूध पीकर जीवन निर्वाह किया जाता है। इस मार्ग का पाथेय गौ की कहा है। गत्यर्थक अव् धातु से अस् प्रत्यय होकर अवसाय बना है। इस लिए अवसाय एक पद होने से उसमे पदच्छेद नहीं करते है। घोड़ो को छोड़कर। उपसर्ग के साथ षो धातु विमोचन अर्थ में प्रयुक्त होता है, इसलिए ग्रहण करते हैं।

दूतो निऋत्य इदमा जगाम इति पन्चम्यर्थप्रेक्षा वा षष्ठयर्ध प्रेक्षा वा आः कारान्तम्। ’परो निर्ऋत्या आचक्ष्व इति । चतुव्यर्थप्रेक्षा वा । ऐकारान्तम । परः संपिकर्षः संहिता । पद प्रकृतिनि सर्व चरणानां पार्षदानि ।।

यह कपोत रूप दूर से यहाँ आया है। इसमें आकार है वह जिसके अन्त में हो वहा पञ्चमी के अर्थ का प्रतिपादन का निर्देशक 'ऐ' है। अत्यन्त समीप हो जाने को संहिता कहते हैं या पदो के स्वाभाविक रूप् को संहिता कहते हैं। वेद के सभी शाखाओं के प्रातिशाख्य के ऋकमूल मे पद ही है। इसलिए पद पाक का ज्ञान निरूक्त से ही सम्भव है अत एव निरूक्त का ज्ञानअत्यन्त आवश्यक है।

अथापि या ज्ञे दैवतेनवहवः प्रदेशाः भवन्ति। तद एतेन उपक्षितव्यम्। ते चयेत व्रूयुः लिगंज्ञा अत्र स्म’ इति। इसके अन्य भी यज्ञ कर्म में देवताओ के द्वारा होते हैं। उन सबको इस निरूक्त के द्वारा देखें। निरूक्त को अनावश्यक मानने वाले याज्ञिक यह कहे कि हम तो लिगं को जानने वाले हैं। उसी से हम देवताओं का निर्णय कर लेंगे। यह मूल है इसलिए निरूक्त का ज्ञान अत्यन्त आवश्यक है।

इन्द्र नत्वा शवसा देवता वायु पृणान्ति इति वायु लिंग च इन्द्र लिंग च आग्नेये मन्त्रे।

अग्निमान्यवे मंत्रे।

इन्द्र के समान और वायु के समान तुझ (अग्नि) को देवता लोग अपने बल से प्रशन्न करते है, इस आग्नेय मंत्र मे इन्द्र का नाम और वायु का नाम पाया जाता है यदि निरूक्त के बिना केवल लिंग अर्थात नाम को देखकर देवता का निर्णय करना अनुचित होगा। हे मंयो! तुम अग्नि के समान प्रज्जलित होकर शत्रुओ का नाश इस मन्यु देवता के मंत्र में अग्नि का नाम या लिंग होने से अग्नि उसका देवता हो जायेगा।

त्विषितः ज्वलित। त्विषिरिति अपि अस्य दीप्ति नाम भवति । त्विषितः अर्थात् प्रज्वलित। त्विट् इसका दूसरा नाम दीप्ति भी होता हैअथापि ज्ञान प्रंशसा भवति, अज्ञान निन्दा च।

और शास्त्र में वेदार्थ के की प्रशंसा तथा अर्थ के अज्ञान की निन्दा होती है।

यः = जो, वेदम् = वेद को, अधीत्य = पढ़कर, अर्थम् = अर्थ को, न विजानाहत= नही जानता, अर्थ = वह, स्थाणु = सूखा वृक्ष, किल = बस, भारहार = भार को ढोने वाला, अभूत =हुआ, यः अर्थज्ञः = जो अर्थ को जानने वाला है। सकलम् = समुचे इत = ही, भदम् = कल्याण को, अश्नुते = पाता है। वह ज्ञान विधूत पाप्या= ज्ञान के पापों को धोकर, नाकम्= स्वर्ग को, एति = जाता है।

भावार्थ - जो वेद को पढकर उसके अर्थ को नही जानता है। वह केवल बोझ ढोने वाला गर्दभ के समान अर्थ के समझे बिना मंत्रो को रट लेने वाला वृक्ष को ठूँठ जैसा मूर्ख है। जो पढे हुए अर्थ को समझता है। और ज्ञान वह ही समस्त कल्याणों को प्राप्त कर सकता है। और ज्ञान के द्वारा समंस्त पापों को नाशकर के स्वर्ग को प्राप्त करता है।

यद गृहीमविज्ञातं निगदेनैव शब्द द्यते। अनग्नाविव शुष्कैधो न तज्ज्वलति कर्हिचित।।

जो बिना समझे रट लिया जाता है और पाठ मात्र से ही उच्चारण किया जाता है वह बिना अग्नि रखी हुई सुखी समीधाओं के समान कभी भी प्रज्वलित नही होती है।

उत् त्व पश्यन्न ददर्श वाचमुतत्त्वः श्रृण्वन्न श्रृणोत्येनाम।
उत त्वस्मैतन्वं विसस्रे जायेव पत्य उशती सुवासाः।।

जो वेद कण्ठस्थ करके उसके अथ्र को नही समझता है वह वाणी को देखता हुआ भी नही देखता है। और सुनते हुए भी उसको नही सुनाई देता है। किन्तु जो अर्थ को समझने वाला है उस अर्थ को वाणी अपने स्वरूप को इस प्रकार खोल देती है। जैसे ऋतुकाल मे कामयमान अपने संपूर्ण शरीर को प्रकाशित कर देती है वस्त्रों को खोल देती है वस्त्र रहित हो जाती है।

अपि एकः पश्यन् न पश्यति वाचम्। अपि च श्रृण्वन्न श्रृणोति एनाम्।

इति अविद्वासम आह अर्द्धम। अपि एक स्मै तन्वं विसस्रे इति स्वम् आत्मानं विवृणुते ज्ञानम्। प्रकाशनम् अर्थस्य आह अनया वाचा। उपमा उत्तमया वाचा। जाया इव पत्ये कामयमाना सुवासा ऋतुकालेषु। यथा स एना पश्यति स श्रृणाति। इति अर्थज्ञ प्रशसा। तस्य उत्तरा भूयसे निर्वचनाय।

और कुछ वाणी को देखते हुए भी नही देखते और कुछ सुनते हुए भी इसे नही सुनते- इस आधे से मुर्ख के विषय में कहा गया है। और कुछ के लिए शरीर खोल देती है अर्थात जो अर्थज्ञ है उनको ज्ञान अपने आप को प्रकाशित कर देती है - इस वाक्य से उपमा अर्थ का प्रकाशव बतलाया गया है। अन्तिम वाक्य से उपमा बतलाई गयी है जैसे इच्छा करती हुई सुवसना पत्नी ऋतुकाल में पति के शरीर को खोल देती है। यह अर्थ जानने वाले की प्रशसा है। इसके बाद की ऋचा स्पृष्टतर उदाहरण के लिए है।

उतत्त्वं सख्ये स्थिर पीतमाहुः नैनं हिन्वन्त्यपि वाजि नेषु।अधेन्वा चरति माययैस वाचं शुश्रुवाँ अफलाभपुष्याम् ।।

वेद के अर्थो को जानने वाला एक को वाणी के द्वारा जानने योग्य कठिन विषय में इसके साथ नही समर्थ होते है जो अर्थ को न जानकर केवल वेद को कण्ठस्थ मात्र कर लेता है वह माया से बनी हुई बनावटी गाया के साथ विचरण करता रहता है। ये फल रहित फूल रहित वाणी को सुने हुए होता है। अर्थात वेद ज्ञान का मिथ्या अभिमान लिए फिरता है।

अपि एकं वाक् सख्ये स्थिरपीतमाहुः रममाणं निपीतार्थम्। देवसख्ये रमणीये स्थाने इति वां। विज्ञानार्थ यं न आप्नुवन्ति वाग्ज्ञेयेषु बलवत्सु अपि अधेन्वा हि एष चरति मायया वाक् प्रतिरूपया। न स्मै कामान् दुग्धे वाक् भवति इति वा किन्चित पुष्पफला इति वा अर्थ वाचः पुष्पफलमाह। याज्ञ देवते पुष्पफले। देवताध्यात्मे वा।

वचन से मित्रता के विषय में कुछ लोगो को स्थिर पीत अर्थात रमण करने वाला या अर्थ को जानने वाला कहा गया है। या देवता की मित्रता से युक्त रमणीय स्थान देवलोक को कहा गया है अर्थ जानने वाले की समानता वचन के द्वारा ज्ञेय कठिन स्थलों को भी नही जान सकते। वह (अन्य) धेनुहीन होकर माया से वाणी के भ्रम में चलता है। देवो और मनुष्यों के बीच दुही जाने वाली कामनाओं को, वाणी ऐसे व्यक्ति को प्रदान नही करती। जो फल और पुष्प से वाणी को सुने हुवे होता है या वाणी उसके लिए फल और पुष्प से रहित हो जाती है वाणी के अर्थ को फूल और फल कहा गया है यज्ञ और देवता के ज्ञान क्रमशः फूल और फल है। अथवा देवता ज्ञान और आत्मा का ज्ञान ही फूल और फल है।

साक्षात्कृतधर्माणः ऋषयो बभूवुः ते अवरेभ्यः असाक्षात्कृत धर्मेभ्यः उपदेशेन मंत्रान् सभ्प्रादुः उपदेशाय ग्लायन्तः अवरे बिल्मग्रहणाय इमं ग्रंथ समाग्नासिसुः। वेदं च वेदांग्नि च बिल्मं = भिल्मम्। भासनमिति वा।

वेदार्थ को स्वयं समझने वाले ऋषिगण होते थे। जब आगे के लोगो में सामर्थ्य कम हो गयी तो उन .ऋषियों ने धर्म का साक्षात्कार करने में असमर्थ अपने से बाद के अथवा अपने से छोटे को उपदेश द्वारा मंत्रो को प्रदान किया। उसके बाद उस उपदेश से ग्रहण करने मे भी असमर्थ वाद के लोगों ने स्नष्ट रूप से ग्रहणकर सकने के लिए इस ग्रन्थ की रचना की। औरवेद ओर वेदागों को भी रचना की। बिल्त - भिल्म अर्थात स्पष्ट रूप से प्रतीत कराने के लिए निधन्तु की रचना की, यही अभिप्राय है।

एतावन्तः समानकर्माणो धातवः धातुर्दधातेः।

अ - इतने एक अर्थ के वाचक धातु वेद में पढ़े गये हैं। धातु शब्द दध धारणे धातु से बना है जिसका अर्थ होता है। अर्थ को धारण करता है। वह धातु कहलाता है।

एतावन्त्यस्य सत्त्वस्यनामधेयानि आ - इतने इस द्रव्य के पर्यायवाचक नाम हैं। एतावतार्थानाम् इदमभिधानम्। यह नाम इतने अर्थो का वाचक है।नैधन्टुकमिदं देवतानां प्राधान्येन इद्रम् इति।
यह अप्रधान नैधन्तुक देवता का नाम है। और वह प्रधान रूप से वर्णित देवताका नाम है। इसका विवेचन निघण्टु के दैवत काण्ड नामक तीसरे काण्ड में किया गया है।

तदन्य देवते मन्त्रे निपतति नैधन्टुकं तत्। अश्वं न त्वा वारवन्त। अश्वमिव त्वा बालवन्तम्। बाला दंश वारणार्थाः भवन्ति। दंशो दशतें।

इनमें से जो अन्य देवतावाले मन्त्र में आता है। वह नैघन्टुक देवता अप्रधान देवता कहलाता है। जैसे बालो से युक्त अश्व के समान तुम्हाराहम अपने प्रमाणों द्वारा आराधना करते है। मन्त्र में आये हुए बार शब्द का अर्थ 'बाल' है। और बाल डांसो को वारण करने के लिए होते है, डांसो अर्थात मच्छरो कां कारण करने वाले होने के कारण वाराणार्थक धातु से बनता है। दंश शब्द दंश दशने इस दंश धातु से बना है।

'मृगो न भीमः कुचरों गिरिष्ठाः'। मृगः इव भीमः कुचरः गिरिष्ठाः। मृगः मार्ष्टेः गतिकर्मणः। भीमः विभ्यति अस्मात्। भीष्मः। अपि अस्मादेव। कुचरः इति चरति कर्म कुत्सितम्। अथ चेत देवताभिधानं, क्वअय न चरति इति गिरिष्ठाः गिरिस्थायी। गिरिः पर्वतः। समुदगीर्णो भवति। पर्ववान पर्वतः। पर्व पुनः पृणातेः प्रीणतेः वा। अर्धमासपर्व देवान् अस्मिन् प्रीणन्ति इति। तत्प्रकृति इतरत सन्धि सामान्यात्। मे धस्थायी। मेधोछपि गिरिः एतस्मात एव।।

मृग शब्दगत्यर्थक मृज् धातु से बना है मृज् धातु के दो अथ्र ळै एक मृज भद्धौ, तथा दूसरा मृज् शौचालकंरयोः किन्तु यहाँ धातुनामनेकार्थत्वात् मृज गत्यर्थक ही लिया जायेगा। भीम शब्द का अर्थ है। जिसे डरते है भीष्म शब्द इसी कारण या इसी धातु से बना है। अर्थात् जिससे डरा जाय उसको भीष्म कहते है कुचर यह कुत्सित गति अर्थका बावक है। और यदि देवता का नाम हो तो यह नहीं कहा जा सका है। गिरिष्ठा का अर्थ है पर्वत पर रहने वाला गिरि का अर्थ है पर्वत। क्योकि वह समुद्गीर्ण अर्थात उपर उठा हुआ होता है। और वह पर्ववान पर्वो अर्थात् पत्थरों के जोड़ो से युक्त होता है। इसलिए उसको पर्वत कहते है। और पर्व शब्द पृण पृणनें, एवं प्रीम् तर्पणे कान्तौ च पृ तथा प्री धातु से बनता है मास के पूर्व भाग को पर्व कहते है। क्योंकि इनमे देवताओं का तृप्त करते है इसी के आधार पर सन्धि कीसमानता के कारण अन्य मन्त्र के गिरिष्ठाः पद का दूसरा अर्थ जो मेध मे रहने वाला है। मेध भी इसी कारण से आकाश में उठा हुआ होने से गिरि कहलाता है।

तद् यानि नामानि प्रधान्यस्तुतीनां देवतानां तद् दैवतम् इति आचक्षते। तद्उपरिष्ठात्

व्याख्यास्यामः। नैधन्तु कानि नैगमानि इह इह । जो नाम प्रधान स्तुति वाले देवताओं के है उसे दैवात कहते है । उसकी व्याख्या वाद में करेगे । यहा पर नैधटुक और नैगम के नामो की व्याख्या करेगे ।

अभ्यासार्थ प्रश्न

1. सभी नाम आख्याजत से उत्पन्न है यह किसका मत है ?
2. शब्द को देखकर किसका विचार करते है ?
3. चतुर्थ पाद में किसका मूलरूप वर्ण किया गया है?
4. निरूक्त के बिना किसका ज्ञान नही हो सकता ?
5. प्रथम अध्याय के पन्चमणाद में मूल रूप् से किसका वर्णन किया गया है ?
6. जो बेद को पढ़कर अर्थ को नही जानता है वह किसके समान होता है ?
7. धातु शब्द किस धातु से बना है ?
8. मृण धातु के कितने अर्थ होते है ?

बहुविकल्पात्मक प्रश्न

1. सभी नाम आख्यतज से उत्पन्न नहीं है यह किसका मत है-

(क) गार्म्य तथा वैयाकरण (ख) गार्म्य तथा कुछ वैयाकरण

(ग) शाकटायन (घ) यास्काचार्य

2. कौत्य के मत में मन्त्र के अर्थ की आवश्यकता है कि नहीं

(क) है (ख) नहीं है

(ग) हो भी सकता है (घ) नहीं भी हो सकता है

3. निरूक्त के प्रयोजन के विषय में किस पाद में व्याख्या किया गया है -

(क) चतुर्थ पाद मे (ख) पन्चम पाद में

(ग) तृतीय पाद में (घ) प्रथम पाद में

4. यास्काचार्य के मत में मन्त्रार्थ की आवश्यकता है कि नहीं -

(क) नही है (ख) है

(ग) हो सकता है (घ) नहीं हो सकता है

5. वेदार्थ का स्वणं समझने वाला कौन होता था -

(क) ऋषिगण (ख) राक्षस गण

(ग) मनुष्य गण (घ) पशुगण

5.4 सारांश

इस इकाई में निरूक्त के प्रथम अध्याय के चतुर्थपाद, पन्चम पाद तथा षष्ठ पाद की व्याख्या की गयी है इस प्रकार चार प्रकार का नाम, आख्यात, उपसर्ग, और निपात , पदों का विभाजन पूर्ण में कर दिया गया है उन चार पदों में सभी ही नाम आख्यातज है। इनके बारे में चतुर्थ पादमे विशेष प्रकार की चर्चा की गयी है अब पन्चम पाद में निरूक्त के प्रयोजन के विषय में विशेष प्रकार की चर्चा की गयी है। षष्ठ पाद में भी निरूक्त के प्रयोजन के विषय में ही चर्चा की गयी है।

5.5 शब्दावली

शब्द	**अर्थ**
अनुक्रान्तानि	क्रमशः
गुणान्वितौ	गुण से युक्त
गौः	गाय
अश्वः	घोड़ा
स्थूणा	खूँटा
पुरिशयः	पुरूष
तर्दनम्	तृण
प्रोहामि	प्रेरित करता है
त्रायस्व	रक्षा कर
अवतस्थे	स्थित है
अजयत	विजय किया
जानन्तम्	जानने वाले को
अग्नये	अग्नि के लिए
अनुब्रूहि	पढ़ो
अदिति	सूर्य
घौ	आकाश
शब्द सामान्यात	शब्द की समानता के कारण
अर्थवन्त	अर्थवान है
अभिवादयते	अभिवादन करता है
अविस्पष्टार्थो	स्पष्ट अर्थ नहीं है
विद्यातः	ज्ञान से

पइते	पैरों से युक्त
अविशातम्	नही समझा
निगदेन	शब्द से
पश्यन	देखते हुए
तन्वमें	शरीर को
विससे	खोल देती है
उशती	कामना करने वाली
वाजिनेषु	कवियों की सभा में

5.7 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. उमाशकरं शर्मा 'ऋषि' निरूक्तम् (यास्कप्रणीतम्)चौरबम्भा विद्याभवनचौक (बनारस स्टेट बैकं के पीछे) पो. वा. नं. 1069 वाराणसी 221001

2. गोपाल दत्त पाण्डेय वैयाकरण सिद्धान्त कौमूदी भट्टोजिदीक्षित विरचितचौखम्भा सुर भारती प्रकाशनके 06/117 गोपाल मन्दिर लेनपो. वा0 नं. 1129 वाराणसी 221001

5.8 उपयोगी पुस्तकें

आचार्य विश्वेश्वर निरूक्तम (श्रीयास्काचार्य विरचित)ज्ञानमण्डल लिमिटेड वाराणसी 221001

5.9 निबन्धात्मक प्रश्न

1 वेदार्थ की आवश्यकता कब से हुई।

2. निरूक्त के प्रथम अध्याय पर एक निबन्ध लिखिए।

3. निरूक्त का परिचय प्रस्तुत किजिए।

ो

खण्ड 3: वेदान्त – उपनिषद्

इकाई 1: उपनिषद् - व्युत्पत्ति, महत्त्व एवं प्रतिपाद्य

इकाई की रूपरेखा

1.1 प्रस्तावना
1.2 उद्देश्य
1.3 विषय-प्रवेश
 1.3.1 'उपनिषद्' नाम और उसका अर्थ
 1.3.2 'उपनिषद्' शब्द की व्युत्पत्ति
 1.3.3. उपनिषदों की संख्या
 1.3.4. उपनिषदों का वर्गीकरण
1.4. उपनिषदों के भाष्य और अनुवाद
1.5. उपनिषदों का महत्त्व
1.6. उपनिषदों का प्रतिपाद्य
1.7. उपनिषदों की प्रतिपादन-शैली
1.8. सारांश
1.9. शब्दावली
1.10. उपयोगी पुस्तकें
1.11. अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. 1 प्रस्तावना

वैदिक वाङ्मय संसार का प्राचीनतम साहित्य है, इस सम्बन्ध में सभी विद्वान् एकमत हैं। 'वेद' शब्द 'ज्ञानार्थक' विद् धातु से बना अर्थ वाला है इसलिए इसका शाब्दिक अर्थ 'ज्ञान' है। वेद वह ज्ञान राशि है जिससे विद्वान् परमात्मा तथा जगत् का स्वरूप जानते हैं। वेद सर्वज्ञानमय हैं। वे मानवमात्र के कर्तव्यबोध का आधार हैं। अलौकिक तत्त्वों के रहस्य को जानने में वेद की परम उपादेयता है। भारतीय धर्म, संस्कृति और दर्शन का मूलस्रोत वेद ही हैं। समस्त दार्शनिक विचार-धाराओं का मूलाधार भी वेद माने जाते हैं।

वैदिक वाङ्मय अत्यधिक विशाल है। इसके अन्तर्गत सहस्रों ग्रन्थ आते हैं। सामान्य रूप से इनको दो भागों में रखा जाता है - (1) वेद और (2) वेदाङ्ग । वेद का एक प्राचीन लक्षण है - 'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्।' तदनुसार मन्त्र और ब्राह्मण दोनों का नाम 'वेद' है। ब्राह्मण के तीन भाग हैं - (1) ब्राह्मण, (2) आरण्यक, और (3) उपनिषद् । अतः सुविधा के अनुसार 'वेद' को चार भागों में बांटा जाता है - (1) मन्त्र संहिताएं, (2) ब्राह्मण-ग्रन्थ, (3) आरण्यक-ग्रन्थ, और (4) उपनिषद् - ग्रन्थ । उपनिषद् ग्रन्थों को वेद का 'ज्ञानकाण्ड' भी कहते हैं। अतः उपनिषदें वैदिक वाङ्मय का महत्त्वपूर्ण और अन्तिम भाग हैं।

1.2 उद्देश्य

इस इकाई में 'उपनिषद्' पद की व्युत्पत्ति और उपनिषद्-साहित्य के महत्त्व एवं प्रतिपाद्य का अध्ययन करने के पश्चात् आप:

- वैदिक साहित्य में उपनिषदों के स्थान को जान सकेंगे।
- उपनिषदों की पृष्ठभूमि का ज्ञान प्राप्त करेंगे।
- 'उपनिषद्' पद की व्युत्पत्ति सम्बन्धी जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।
- 'उपनिषद्' पद का अर्थ समझ सकेंगे।
- 'उपनिषद्' नाम में निहित विशेष अर्थ को जान सकेंगे।
- उपनिषदों की संख्या को लेकर उपलब्ध जानकारी पा सकेंगे।
- उपनिषदों का वर्गीकरण कर सकेंगे।
- उपनिषदों के प्रमुख भाष्य और अनुवादों के विषय में जान सकेंगे।
- उपनिषदों का वेद और दर्शन में क्या महत्त्व है, इसे समझ सकेंगे।
- उपनिषदों के स्वरूप का परिचय प्राप्त करेंगे।
- उपनिषदों के सामान्य और विशेष प्रतिपाद्य से जुड़ी जानकारी पा सकेंगे।

- उपनिषदों के प्रतिपादन की क्या विशेष शैली है - उसे जान सकेंगे।
- उपनिषद्-साहित्य के सामान्य परिचय द्वारा वेद के एक महत्त्वपूर्ण भाग से अवगत हो सकेंगे।
- उपनिषद् सम्बन्धी इस ज्ञान से भारतीय दर्शन के आधार की पहचान कर सकेंगे।

1.3. विषय-प्रवेश

वैदिक मन्त्रसंहिताओं में ऋषियों ने दिव्य शक्तियों और परमसत्ता के प्रति अपने उद्गार मन्त्र रूप में प्रकट किए हैं। ब्राह्मणों में यज्ञ, याग आदि कर्मकाण्ड की सांगोपांग व्याख्या की गयी है। आरण्यकों में विशेष रूप से प्राणविद्या और प्रतीकोपासना का वर्णन है। उपनिषदों में ऋषियों के दार्शनिक चिन्तन की प्रधानतया अभिव्यक्ति हुई है। जिस प्रकार वैदिक वाङ्मय के क्रमिक विकास में उपनिषदें अन्तिम स्थान पर हैं, उसी प्रकार वैदिक मनीषियों के चिन्तन की पराकाष्ठा के बोध के लिए भी उपनिषदें चरम स्थान पर हैं। उपनिषदों में प्राप्त गहन और उत्कृष्ट चिन्तन की पृष्ठभूमि वैदिक वाङ्मय के प्रथम ग्रन्थ ऋक्संहिता से ही प्रारम्भ हो जाती है।

उपनिषदों को 'वेदान्त' भी कहा जाता है। वेदान्त का शाब्दिक अर्थ है-वेदों का उपसंहार या लक्ष्य। अतः वेदों का अन्तिम भाग होने से उपनिषदों को 'वेदान्त' कहा जाता है अथवा सम्पूर्ण वेदों का सार होने से उपनिषदों को 'वेदान्त' कहा जाता है। उपनिषदों में वेदों का सर्वोत्कृष्ट सारतत्त्व निहित है। मुण्डकोपनिषद् में स्पष्ट रूप से उपनिषदों का विषय वेदान्त-विज्ञान कहा गया है।

1.3.1 'उपनिषद्' नाम और उस का अर्थ

आज 'वेदान्त' शब्द का प्रयोग एक विशेष दर्शन के लिए होता है, जबकि आरम्भ में 'वेदान्त' का अर्थ 'उपनिषद्' था। मुण्डकोपनिषद् ने 'वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः' (मुण्ड० उप० 3/2/6) कहकर उपनिषद् के वेदान्त नाम का संकेत किया है। श्वेताश्वतर उपनिषद् में कहा गया है 'वेदान्ते परमं गुह्यम्' (श्वे० उप० 6/22) अर्थात् वेदान्त में परम रहस्य है। वेदों का रहस्यमय ज्ञान उपनिषदों में होने से उनको 'गुह्य' कहा गया है। वस्तुतः उपनिषदों का विषय गूढ़ ब्रह्मज्ञान है जो सबको समझ में आने वाला नहीं है। इसीलिए उसे गुप्त रखा जाता था और 'अपात्र' को नहीं दिया जाता था।

उपनिषद्-कथाओं में बहुत बार देखा जाता है कि गुरु ने कठोर परीक्षाओं में उत्तीर्ण होने के बाद योग्य शिष्य को ही इस ज्ञान का उपदेश देना स्वीकार किया है। इसलिए उपनिषद् के लिए 'रहस्य' नाम का प्रयोग भी यत्र तत्र हुआ है। उपनिषदों के लिए सर्वाधिक प्रचलित नाम 'उपनिषद्' से भी उसके विषय की गूढ़ता अभिव्यक्त होती है क्योंकि इसका सामान्य अर्थ है - तत्त्वज्ञान के लिए गुरु के समीप सविनय बैठना। अत्यन्त गुप्त और गूढ़ होने से जो विद्या योग्य अन्तेवासी शिष्य द्वारा गुरु के अत्यन्त निकट नीचे बैठकर प्राप्त की जाती है वह 'उपनिषद्' है।

1.3.2'उपनिषद्' शब्द की व्युत्पत्ति

अपने नाम से ही अपने स्वरूप और विषय को अभिव्यक्त करने वाले 'उपनिषद्' शब्द की व्युत्पत्ति जानने योग्य है। 'उपनिषद्' शब्द 'उप' और 'नि' उपसर्ग पूर्वक सद् धातु में क्विप् प्रत्यय लगने से सिद्ध होता है। 'उप' उपसर्ग का अर्थ है - निकट, 'नि' उपसर्ग का अर्थ है निश्चय से या निष्ठापूर्वक, सद् धातु का अर्थ है बैठना। अतः इस व्युत्पत्ति का अर्थ है जो तत्त्व ज्ञान गुरु के पास सविनय बैठकर प्राप्त किया जाता है वह 'उपनिषद्' कहलाता है। इसका अभिप्राय है कि वह गुह्य ब्रह्मविद्या जिसे शिष्य गुरु के चरणों में श्रद्धापूर्वक बैठकर ही प्राप्त कर सकता है 'उपनिषद्' है। यह उपनिषद् शब्द की सामान्य रूप से जानी गई व्युत्पत्ति और उसका भाव है।

अद्वैत वेदान्त के प्रतिष्ठापक शंकराचार्य ने उपनिषद् का अर्थ ब्रह्मविद्या माना है। सद् उन्होंने उपनिषद् शब्द की एक विशेष व्युत्पत्ति और व्याख्या इस प्रकार की है। सद् धातु के तीन अर्थ हैं:-

1. **विशरण** - नाश होना, जिससे संसार की मूलभूत अविद्या का नाश होता है।

2. गति - पाना या जानना, जिससे ब्रह्म की प्राप्ति होती है या उसका ज्ञान होता है।

3.**अवसादन** - शिथिल होना, जिससे मनुष्य के दुःख या बन्धन शिथिल होते हैं। इस प्रकार शंकराचार्य की व्युत्पत्ति के अनुसार 'उपनिषद्' उस विद्या का नाम है जिसके अनुशीलन से मुमुक्षुओं की अविद्या का विनाश होता है, ब्रह्म की उपलब्धि होती है और जन्मबन्धन के दुःख शिथिल होते हैं। गौण अर्थ में यह शब्द पूर्वोक्त ब्रह्मविद्या के प्रतिपादक ग्रन्थ विशेष का भी बोधक है, और यहाँ इसी अर्थ में इसका प्रयोग हुआ है।

1.2.3 उपनिषदों की संख्या

उपनिषदों की संख्या के सम्बन्ध में पर्याप्त मतभेद हैं। इसकी संख्या 10 से लेकर 223 तक मानी जाती है। वास्तविक उपनिषदें कितनी हैं यह बताना कठिन है।

उपनिषद्- साहित्य बहुत विशाल है क्योंकि यह बहुत बाद तक विकसित होता रहा है। फिर किसी भी उस प्रकरण को जिसमें अध्यात्म या ब्रह्मविद्या की चर्चा हो 'उपनिषद्' नाम से अभिहित किया जाने लगा - यह भी उपनिषदों की संख्या के अनिश्चय का कारण है।

भारतीय परम्परा 108 उपनिषदों को मानती हैं। मुक्तिकोपनिषद् में कहा गया है कि 108 उपनिषदों के अध्ययन से मुक्ति प्राप्त होती है। जिसमें 10 उपनिषदें ऋग्वेद से, 19 उपनिषदें शुक्लयजुर्वेद से, 32 कृष्ण यजुर्वेद से, 16 उपनिषदें सामवेद से और 31 उपनिषदें अथर्ववेद से सम्बद्ध है। मुक्तिकोपनिषद् ने ही प्रामाणिक रूप से दस उपनिषदों की बात की है- ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, तैत्तिरीय, ऐतरेय छान्दोग्य, बृहदारण्यक।

मुगल सम्राट् शाहजहां के ज्येष्ठ पुत्र दाराशिकोह ने 1656-57 ई० में लगभग 50 उपनिषदों का अनुवाद फारसी भाषा में करवाया था। कोलब्रुक के संग्रह में 52 उपनिषदें थी, जो नारायण (1400

ई०) की सूची पर आधारित थी। निर्णयसागर प्रेस से 112 उपनिषदों का प्रकाशन हुआ है। अड्यार लाईब्रेरी , मद्रास से 60 उपनिषदों का एक संग्रह उपनिषद् ब्रह्मयोगी की व्याख्या के साथ चार खण्डों में प्रकाशित हुआ है। मोतीलाल बनारसीदास से प्रकाशित उपनिषत्-संग्रह में 188 उपनिषदें हैं जिनमें उत्तरकालीन उपनिषदें भी सम्मिलित हैं जो अलग-अलग सम्प्रदायों से सम्बन्ध रखती हैं जैसे योग, वेदान्त, वैष्णव, शैव, शाक्त आदि। विश्वबन्धु ने वैदिक-पदानुक्रमकोष के अन्तर्गत उपनिषत्पदानुक्रमकोष को 200 उपनिषदों के आधार पर सम्पादित किया है। इस प्रकार बढ़ते बढ़ते उपनिषदों की संख्या 200 तक पहुंच गयी है। इसके भी आगे जाते हुए गुजराती प्रिंटिंग प्रेस, बम्बई से मुद्रित उपनिषत्-वाक्य-महाकोष में 223 उपनिषदों के नाम दिये गये हैं। गीताप्रेस गोरखपुर से प्रकाशित कल्याण के उपनिषद् अंक में 220 उपनिषदों के नाम दिये गये हैं। ये संख्याएं अन्तिम नहीं हैं। सम्भव है कुछ उपनिषदें और हो जो अभी प्रकाशित नहीं हुई हैं। यह सत्य है कि उपनिषदों की संख्या के विषय में मतभेद प्राप्त होता है परन्तु इतना तो सुनिश्चित है कि विद्वत्जगत् 108 उपनिषदों को परम्परा - सम्मत मानता है।

1.3. 4 उपनिषदों का वर्गीकरण

मुक्तिकोपनिषद् में 108 उपनिषदों का उल्लेख हुआ है। उनका वर्गीकरण दो प्रकार से किया जाता है-वेदानुसार और विषयानुसार।

(अ) वेदानुसार वर्गीकरण

प्रत्येक उपनिषद् का किसी विशिष्ट वेद से सम्बन्ध माना जाता है। प्रत्येक वेद से सम्बद्ध उपनिषदों की संख्या, उनके नाम और उनके शान्तिपाठ का विस्तृत विवरण मुक्तिकोपनिषद् (1/30-39) में प्राप्त होता है। तदनुसार वेद, उससे सम्बद्ध कुछ उपनिषदों के नाम और संख्या का निर्देश इस प्रकार किया जा सकता है:

वेद	कुछ उपनिषद् नाम	संख्या
1. ऋग्वेद	-ऐतरेय, कौषीतकि, आदि	-10
2. शुक्लयजुर्वेद	-ईश, बृहदारण्यक आदि	-19
3. कृष्णयजुर्वेद	-कठ, तैत्तिरीय आदि	-32
4. सामवेद	-केन, छान्दोग्य आदि	-16
5. अथर्ववेद	-प्रश्न, मुण्डक आदि	-31

(आ) विषयानुसार वर्गीकरण

108 उपनिषदों को विषयानुसार छह भागों में बांटा जा सकता है -

1. वेदान्त के सिद्धान्तों पर निर्भर 24 उपनिषद् (कौषीतकि, मैत्रायणी आदि)
2. योग के सिद्धान्तों पर निर्भर 20 उपनिषद् (जैसे अमृतनाद, तेजोबिन्दु आदि)
3. सांख्य एवं संन्यास के सिद्धान्तों पर निर्भर 17 उपनिषदें (जैसे शारीरक, वराह आदि)

4. वैष्णव सिद्धान्तों पर निर्भर 14 उपनिषद् (जैसे नारायण, कृष्ण आदि)
5. शैव सिद्धान्तों पर निर्भर 15 उपनिषद् (जैसे अथर्वशिखा, कैवल्य आदि)
6. शाक्त और अन्य सिद्धान्तों पर निर्भर 18 उपनिषद् (जैसे गायत्री, श्रीचक्र आदि)

विभिन्न विषयों पर इतनी बड़ी संख्या में उपनिषदों के होने का प्रधान कारण यही रहा है कि सभी दर्शनों और मतों के अनुयायियों ने अपने-अपने सिद्धान्तों के प्रवर्तन के लिए उपनिषदों की सत्ता को महत्त्वपूर्ण माना है।

1.4 उपनिषदों के भाष्य और अनुवाद

प्राचीनकाल से ही उपनिषदों की अनेक व्याख्याएं लिखी गयी जो उनके विषय की गम्भीरता और महत्ता के साथ-साथ इस बात का प्रमाण है कि उपनिषदें अत्यन्त लोकप्रिय वैदिक ग्रन्थ हैं। ब्रह्मसूत्र के प्रसिद्ध भाष्यकार शंकर ने मुक्तिकोपनिषद् में उद्धृत दस प्रमुख उपनिषदों पर भाष्य लिखे हैं। इसी परम्परा में सुरेश्वराचार्य, आनन्दगिरि, शंकरानन्द, ब्रह्मानन्द, आनन्दभट्ट, उपनिषद् ब्रह्मयोगी आदि के कई उपनिषदों पर अद्वैतवादी भाष्य या टीकाएं उपलब्ध हैं। द्वैत सम्प्रदाय के प्रवर्तक मध्वाचार्य ने कुछ उपनिषदों पर द्वैतवादी भाष्य लिखे थे। विशिष्टाद्वैत मत के अनुसार वेंकटनाथ वेदान्तदेशिक, श्री रंगरामानुजाचार्य, गोपालानन्द स्वामी आदि ने कुछ उपनिषदों पर भाष्य लिखे हैं। ये उपनिषदों के कतिपय प्राचीन भाष्य या टीकाएं हैं।

उपनिषदों के महत्त्व का अनुमान इससे लगाया जा सकता है कि देश-विदेश की अनेक भाषाओं में इनका अनुवाद किया गया है। अकबर और उनके पौत्र दाराशिकोह ने सत्रहवीं शताब्दी में इनका अनुवाद करवाया था। उसके द्वारा करवाए गये पचास उपनिषदों के फारसी अनुवाद को फ्रेंच यात्री बर्नियर अपने साथ फ्रान्स ले गया था, जिसका 1802 ई० में लैटिन अनुवाद प्रकाशित हुआ। शोपेन हॉवर जैसे विद्वान् ने इसी अनुवाद को पढ़कर उपनिषदों के ज्ञान को विश्व की दार्शनिक विचारधारा का पथप्रदर्शक माना था। 1832 ई० में राजाराम मोहनराय ने कुछ उपनिषदों का अंग्रेजी अनुवाद प्रकाशित किया था। 1879-1884 ई० के मध्य मैक्समूलर ने 'सैक्रेड बुक्स ऑफ द ईस्ट' ग्रन्थमाला में बारह उपनिषदों का अंग्रेजी अनुवाद प्रकाशित किया। 1882 तथा 1889 ई० में मिशल और बोथलिक जर्मन विद्वानों ने कुछ उपनिषदों का अनुवाद प्रकाशित किया। पाल डायसन ने 1897 ई० में कुछ उपनिषदों का जर्मन अनुवाद प्रकाशित किया, बाद में जिसका अंग्रेजी भाषा में रूपान्तर हुआ। 1821 ई० ह्यूम ने तेरह प्रमुख उपनिषदों का अंग्रेजी अनुवाद प्रकाशित किया। योरोपीय भाषाओं में किये गये अनुवादों से योरोप में उपनिषदों के प्रति रुचि जाग्रत हुई और अनन्तर अन्य ग्रन्थ भी लिखे गये।

भारत में हिन्दी, अंग्रेजी और अन्य भारतीय भाषाओं के माध्यम से किये गये उपनिषदों के अनुवाद, व्याख्याएं और समीक्षाग्रन्थ आज बड़ी मात्रा में उपलब्ध हैं, और वैदिक वाङ्मय के दर्शन के प्रति बढ़ती हुई जिज्ञासा के प्रतीक हैं।

1.5. उपनिषदों का महत्त्व

उपनिषद् वैदिक वाङ्मय के वे दैदीप्यमान रत्न हैं, जिनके प्रकाश में हम उस परब्रह्म परमात्मा का दर्शन कर सकते हैं, जिसका साक्षात्कार ऋषियों ने अपनी कठोर तप-साधना से किया था। ये उपनिषद् ग्रन्थ भारतीय तत्त्वज्ञान और धार्मिक सिद्धान्तों के मूलस्रोत हैं। इनमें दार्शनिक चिन्तन की प्रधानता है। इनका उद्देश्य मनुष्य की चेतना को उर्ध्वगामी करते हुए ब्रह्मस्वरूप की प्राप्ति कराना है । उपनिषदों से ही दर्शन और अध्यात्म की प्रधान धारा प्रवाहित होती है जिससे संस्कृति और धर्म प्रभावित होते हैं । उपनिषदों को वेदों का ज्ञानकाण्ड माना जाता है, जबकि दूसरे ब्राह्मण आदि वैदिक ग्रन्थ वेद के कर्मकाण्ड का प्रतिपादन करते हैं। उपनिषदों में वेदों का सर्वोत्तम सारतत्त्व निहित हैं। दर्शन शास्त्र की सभी मूलभूत समस्याओं पर गहन विचार विमर्श इनमें उपलब्ध हैं । ये भारतीय अध्यात्म चिन्तन के मूलस्रोत हैं । इसीलिए इनको प्रस्थानत्रयी (ब्रह्मसूत्र, उपनिषद्, गीता) में स्थान दिया गया है।

उपनिषदों में वर्णित तथ्य और सिद्धान्त परम प्रामाणिक हैं। यही कारण है कि विचार-दृष्टि और मूल्यों में परिवर्तन होने पर भी उपनिषदों का महत्त्व उसी प्रकार बना हुआ है जैसा प्राचीनकाल में था। उपनिषदों का चिन्तन उदात्त और समुन्नत है जो मनुष्य को आश्चर्यचकित कर देता है और साथ ही मुग्ध भी ।

उपनिषदें अपने अध्येता को आत्मिक बल और प्रेरणा प्रदान करती है । उपनिषदों के गौरव और महत्त्व के सम्बन्ध में उपनिषदों के अंग्रेजी अनुवादक एवं व्याख्याता, भारत के द्वितीय राष्ट्रपति डॉ० सर्वपल्ली राधाकृष्णन् ने लिखा है, ‘उपनिषदों का इतना आदर इस कारण नहीं है कि वे श्रुति और प्रकट हुए साहित्य का एक भाग होने से एक विशिष्ट स्थान रखती हैं, अपितु इसका कारण यह है कि ये अपनी अक्षय अर्थवत्ता और आत्मिक शक्ति से भारतवासियों की पीढ़ी दर पीढ़ी को अन्तर्दृष्टि और बल प्रदान कर प्रेरणा देती रही है’ (द प्रिंसिपल उपनिषद्, पृ० 18-19)। प्रस्थानत्रयी के दूसरे दो ग्रन्थ ब्रह्मसूत्र और श्रीमद्भगवद्गीता कुछ सीमा तक उपनिषदों पर ही आधारित हैं। उपनिषद् मुख्य रूप से वेदान्त दर्शन के मूलाधार हैं ।

ईशावास्योपनिषद् को सम्पूर्ण गीता का मूल माना जाता है । मुण्डक, केन, कठ आदि कुछ दूसरे महत्त्वपूर्ण उपनिषद् संस्कृत अध्येताओं में बहुत पठनीय हैं क्योंकि ये तत्त्वज्ञान के अतिरिक्त कर्तव्यशा6, भारतीय धर्म और प्राचीन सांस्कृतिक मूल्यों का प्रतिपादन भी करते हैं । विन्टरनित्स ने उपनिषदों के महत्त्व पर प्रसिद्ध जर्मन दार्शनिक शोपेनहावर के विचार विस्तार से उद्धृत किये हैं, जिनमें उसने कहा था कि, ‘‘उपनिषद् मेरे जीवन में शान्ति के साधन रहे हैं और मृत्यु में भी शान्ति के साधन रहेंगे’’ (विन्टरनित्स, हिस्ट्री ऑफ इन्डियन लिटरेचर, पृ० 267) । महात्मा गांधी उपनिषदों से प्रेरणा प्राप्त किया करते थे । उपनिषदों का महत्त्व उनकी रोचक प्रतिपादन शैली के कारण भी हैं । उनमें प्राप्त कई सुन्दर आख्यान और रूपक उपनिषदों की शैली की रोचकता बढ़ा देते हैं ।

1.6. उपनिषदों का प्रतिपाद्य

वैदिक ग्रन्थों में जो दार्शनिक और आध्यात्मिक चिन्तन यत्र तत्र दिखाई देता है, वही परिपक्व रूप में उपनिषदों में निबद्ध हुआ है। उपनिषदों में मुख्य रूप से आत्मविद्या या ब्रह्मविद्या का प्रतिपादन है। जिसके अन्तर्गत ब्रह्म का स्वरूप, ब्रह्म और आत्मा की एकता, आत्मा की प्राप्ति का साधन 'ज्ञान', आत्मा की प्राप्ति और उसकी आवश्यकता की समीक्षा इनमें विस्तार से की गयी है। उपनिषदों में परम सत्य के लिए 'ब्रह्म' शब्द का प्रयोग हुआ है। आत्मज्ञानी के स्वरूप और ब्रह्मलय या मोक्ष का स्वरूप भी विस्तार से समझाया गया है। इसके अतिरिक्त अवान्तर विषय भी अनेक हैं जिनका आत्मविद्या के प्रसंग में अतिशय महत्त्व स्वीकार किया जाता है, यथा-विद्या, अविद्या, श्रेयस्, प्रेयस्, ओम्, आचार्य, अधिकारी शिष्य, शान्ति, अग्निविद्या, मन, बुद्धि, योग, संयम, वासना, बन्धन, कामना, प्राण आदि।

उपनिषदों में एकत्व की भावना का प्रबल समर्थन किया गया है। जो सब प्राणियों में एकत्व की अनुभूति करने लगता है वही ज्ञानी होता है। ज्ञान का अर्थ ही है- अभेद दर्शन। भेदबुद्धि अज्ञान का आधार है। जो एक देखता है वह एक और अद्वितीय ब्रह्म को प्राप्त करता है और जो अनेकत्व देखता है यानी भेद समझता है वह अनेक या नाना योनियों को प्राप्त करता है। आत्मज्ञान से मोक्ष होता है जो परम शान्ति या परम आनन्द रूप है। इसी आत्मज्ञान को विद्या या परा विद्या कहते हैं। अनात्मज्ञान से संसार मिलता है जिससे पुनः पुनः जन्मबन्धन में बँधना पड़ता है। अनात्मज्ञान को अविद्या या अज्ञान कहते हैं।

उपनिषदों में ब्रह्मविद्या की तुलना में सकाम कर्म या कर्मकाण्ड को बहुत हीन बताया गया है। कठोपनिषद् में नचिकेता का द्वितीय वर यदि अग्निविद्या की जानकारी प्राप्त करना है तो तृतीय वर आत्मज्ञान प्राप्त करना है। अग्निविद्या या कर्मकाण्ड अधिक से अधिक भौतिक सुख का आधार हो सकता है जिसका चरम फल स्वर्ग है, पर उससे ब्रह्म की प्राप्ति कदापि नहीं हो सकती - मुण्डकोपनिषद् में भी इसी तथ्य पर बल दिया है। कर्म से विमुखता की बात उपनिषदों ने कहीं नहीं की है। इसी प्रकार आत्मप्राप्ति के लिए सत्य, तप, और नैतिक नियमों के अनुपालन को आवश्यक बतलाया है।

उपनिषदों के विवेच्य विषय में सर्वत्र समन्वय की भावना दिखाई देती है। दोनों पक्षों में जो ग्राह्य है उसे ले लेना चाहिए। इसी दृष्टि से उपनिषदों का दर्शन प्रायः विरोधी तत्त्वों को एक साथ प्रस्तुत कर अपनी समन्वयवादी वृत्ति का संकेत देता है। ज्ञान-कर्म, विद्या-अविद्या, सम्भूति - असम्भूति, सत्-असत्, श्रेयस्-प्रेयस् का साथ-साथ कथन उपनिषदों की मूल प्रवृत्ति है।

संक्षेप में उपनिषदों के प्रतिपाद्य विषयों को निम्नलिखित रूप में गिनाया जा सकता है -

1. ब्रह्म और आत्मा की एकता
2. ब्रह्मप्राप्ति का साधन 'ज्ञान'

3. ज्ञान से मोक्ष-प्राप्ति
4. ज्ञान से कर्मकाण्ड की हीनता
5. असंसार की निःसारता
6. अवेदों की प्रामाणिकता
7. अविरोधी तत्त्वों की सहप्रस्तुति
8. उत्कृष्ट नैतिक जीवन की प्रशंसा

1.7 उपनिषदों की प्रतिपादन शैली

उपनिषद् के द्रष्टा आचार्यों ने ब्रह्मानुभूति में लीन होकर कठिन विषयों को सरल भाषा में अभिव्यक्त किया है। उनकी भाषा आडम्बर-हीन है। यहाँ गद्य और पद्य दोनों विधाओं का प्रयोग किया गया है। कुछ उपनिषद् पूरी तरह पद्यात्मक हैं तो कुछ पूरी तरह गद्यात्मक भी हैं। कुछ उपनिषद् जैसे मुण्डक, श्वेताश्वतर आदि उत्तम काव्यशिल्प के उदाहरण हैं। सभी उपनिषदों के प्रारम्भ और अन्त में शान्तिपाठ का विधान है। शान्तिपाठ के मन्त्र का निर्धारण वेदानुसार होता है।

उपनिषदों के ऋषियों ने गूढ़ विषयों को सरल रूप में प्रस्तुत करने के लिए जिन वर्णन-शैलियों का प्रयोग किया, वे इस प्रकार हैं -

1. **संवादविधि** - अनेक बार विषय को संवादात्मक शैली में प्रस्तुत किया गया है। यम - नचिकेता, आरुणि - श्वेतकेतु, नारद - सनत्कुमार, याज्ञवल्क्य - मैत्रेयी तथा याज्ञवल्क्य - जनक के संवाद अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं।

2. **कथाविधि** - कभी परमतत्त्व के विवेचन के लिए किसी कथा या आख्यान को आधार बनाया गया है। केनोपनिषद् का यक्षोपाख्यान और कठोपनिषद् का नचिकेतोपाख्यान इनमें प्रमुख हैं।

3. **समन्वय-विधि** - इस विधि द्वारा उपनिषदों में कई दृष्टिकोणों का समन्वय किया जाता है। छान्दोग्योपनिषद् में अश्वपति कैकेय ने सृष्टि-विज्ञान के छह सिद्धान्तों का तथा प्रश्नोपनिषद् में पिप्पलाद ऋषि ने छह ऋषियों के मतों का समन्वय किया है।

4 **अरुन्धती-न्याय-विधि** - जिज्ञासु शिष्य को शनैः-शनैः उच्चतर विद्या का उपदेश देना अरुन्धती-न्याय-विधि है। तैत्तिरीयोपनिषद् में वरुण ने भृगु को क्रमशः ब्रह्म को अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय बताकर सत्य का उद्घाटन किया है।

5. **उपमा-विधि** - जो बात तर्क से स्पष्ट नहीं हो पाती उसे उपमा के माध्यम से समझाया जाता है। याज्ञवल्क्य ने आत्मदर्शन की प्रक्रिया को समझाने के लिए ढोल, शंख या वीणा की उपमा दी है। आरुणि ने श्वेतकेतु को अपने उपमाओं द्वारा 'तत्त्वमसि' की व्याख्या की है।

6. **निर्वचन-विधि** - उपनिषदों में कभी-कभी शब्दों का वास्तविक अर्थ बताने के लिए उसके निर्वचन या निरुक्ति का आश्रय लिया जाता है। बृहदारण्यकोपनिषद् में प्राण, रुद्र, आदित्य आदि शब्दों के निहितार्थ को स्पष्ट करने के लिए निर्वचन किये गये हैं।

7. **विश्लेषणात्मक विधि** - उपनिषदों के ऋषि किसी वस्तु के कारण, आधार और प्रयोजन की खोज करते हैं। वे कारण के कारण और आधार के आधार की खोज करते हुए अन्त में उस तत्त्व तक पहुंचते हैं जो अकारण और निराधार है।

बोध प्रश्न

1. उपनिषद् वेद के किस भाग में आते हैं?
2. उपनिषदों को 'वेदान्त' क्यों कहा जाता है?
3. उपनिषदों के गूढ़ चिन्तन की पृष्ठभूमि वेद के किस ग्रन्थ से प्रारम्भ मानी जा सकती है?
4. उपनिषद को 'वेदान्त' के अतिरिक्त और किन नामों से अभिहित किया गया है?
5. 'उपनिषद्' शब्द की सामान्य व्युत्पत्ति क्या है?
6. 'उपनिषद्' शब्द की शंकराचार्य द्वारा की गयी विशेष व्युत्पत्ति क्या है?
7. उपनिषदों की न्यूनतम और अधिकतम संख्या क्या दी जा सकती है?
8. 108 उपनिषदों का वर्गीकरण किन दो आधारों पर किया जाता है?
9. योग के सिद्धान्तों पर निर्भर उपनिषदें किस वर्ग में रखी जाएगी?
10. उपनिषदों के प्रसिद्ध प्राचीन संस्कृत भाष्यकार का क्या नाम है?
11. ह्यूम ने कितने उपनिषदों का अनुवाद किया है?
12. उपनिषदों का मुख्य प्रतिपाद्य विषय क्या है?
13. उपनिषदों में भेदबुद्धि और एकत्व बुद्धि को क्रमशः क्या नाम दिये गये हैं?
14. क्या ब्रह्म में लीन होना उपनिषदों के अनुसार मोक्ष है?
15. उपनिषदों की भाषा कैसी है?
16. उपनिषद् गद्य में हैं या पद्य में?
17. शान्तिपाठ कहाँ पर प्रयुक्त किया जाता है?
18. उपनिषदों की किन्हीं दो प्रमुख वर्णन शैलियों के नाम बताइये?
19. याज्ञवल्क्य ने आत्मदर्शन की प्रक्रिया समझाने के लिए कौन सी विधि अपनायी?
20. बृहदारण्यक उपनिषद् में प्राण, रुद्र आदि शब्दों को किस विधि से समझाया गया है?

1.8 सारांश

1. भारतीय धर्म, संस्कृति और दर्शन का मूल स्रोत वेद हैं। वेद के ब्राह्मण भाग के अन्तर्गत उपनिषद् ग्रन्थ आते हैं। वे वेद का एक महत्त्वपूर्ण और अन्तिम भाग हैं।

2. उपनिषदों में ऋषियों के दार्शनिक चिन्तन की विशेष रूप से अभिव्यक्ति हुई है। उपनिषदों के उत्कृष्ट चिन्तन की पृष्ठभूमि वैदिक वाङ्मय के प्रथम ग्रन्थ ऋक्संहिता से ही प्रारम्भ हो जाती है। वेदों का अन्तिम भाग या वेदों का सार होने से उपनिषदों को वेदान्त भी कहा जाता है।

3. वेदान्त शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग मुण्डकोपनिषद् में ही हुआ है। बाद में 'वेदान्त' एक दर्शन

विशेष का नाम भी हो गया जिनका आधार उपनिषद् हैं। गुप्त ज्ञान के प्रतिपादक होने से उपनिषदों को 'गुह्य' और 'रहस्य' नाम से भी जाना जाता है।

4. सद् धातु में क्विप् प्रत्यय लगकरउप और नि उपसर्गों के साथ 'उपनिषद्' शब्द बनता है, जिसका अर्थ है - (गुरु के) पास सविनय बैठना। इसी आधार पर उपनिषद् वह ज्ञान है जो गुरु के पास सविनय बैठकर प्राप्त किया जाता है। शंकराचार्य की विशेष व्युत्पत्ति के अनुसार सद् धातु के तीन अर्थ हैं - विशरण, गति, अवसादन। अतः उपनिषद् वह ब्रह्मविद्या है जिससे अविद्या का नाश होता है, ब्रह्म की उपलब्धि होती है और जन्मबन्धन के दुःख शिथिल होते हैं।

5. उपनिषदों की संख्या सुनिश्चित नहीं है। यह 10 से लेकर 223 तक बतायी गयी हैं। मुक्तिकोपनिषद् के आधार पर सामान्य रूप से भारतीय परम्परा में 108 उपनिषदों की चर्चा की जाती है। मुक्तिकोपनिषद् में ही दस प्रमुख उपनिषदों के नाम भी दिये गये हैं।

6. मुक्तिकोपनिषद् में जिन 108 उपनिषदों का उल्लेख हुआ है उनको दो प्रकार से विभाजित किया जाता है - (अ) वेदानुसार, (आ) विषयानुसार। वेदानुसार में प्रत्येक वैदिक संहिता से सम्बद्ध उपनिषदों को रखा जाता है। विषयानुसार में उपनिषद् के मुख्य विषय को उसके सिद्धान्तों के आधार पर वेदान्त आदि सम्प्रदायों से जोड़ा जाता है।

7. प्राचीन काल से ही उपनिषदों पर अनेक भाष्य लिखे गये, जिनमें अद्वैतवादी शंकराचार्य और द्वैतवादी मध्वाचार्य के भाष्य प्रमुख हैं। उपनिषदों का प्राचीनतम अनुवाद सत्रहवीं शताब्दी में दाराशिकोह ने करवाया था जो फारसी में था। 1821 ई० में ह्यूम ने तेरह प्रमुख उपनिषदों का अनुवाद करा। आज अंग्रेजी, हिन्दी और दूसरी भाषाओं में उपनिषदों के अनेक व्याख्या और अनुवाद ग्रन्थ उपलब्ध हैं जो इनकी लोकप्रियता के प्रमाण हैं।

8. उपनिषद् ग्रन्थ भारतीय तत्त्वज्ञान और धार्मिक सिद्धान्तों के मूलस्रोत हैं। इनसे मानव की चेतना उर्ध्वगामी होती है। इनका उद्देश्य मोक्षप्राप्ति है। उपनिषदों को वेद का ज्ञानकाण्ड कहते हैं। दर्शन की सभी प्रमुख समस्याओं पर इनमें गहन चिन्तन किया गया है। इसीलिए इनको प्रस्थानत्रयी में गिना जाता है। ईशावास्योपनिषद् को सम्पूर्ण गीता का मूल माना जाता है। शोपेनहावर ने उपनिषदों को परम शान्ति के साधन बताया था।

9. उपनिषदों का मुख्य विषय ब्रह्मविद्या या आत्मविद्या है। उपनिषदों में ब्रह्म, आत्मा, दोनों की एकता, आत्मप्राप्ति के साधन, आवश्यकता, उद्देश्य आदि पर विस्तार से विचार किया गया है। आत्मविद्या से सम्बद्ध कुछ दार्शनिक, नैतिक और बौद्धिक विचार भी उपनिषदों में प्राप्त होते हैं। विद्या, अविद्या, प्रेयस्, श्रेयस्, ओम्, योग, प्राण आदि पर इनमें विचार किया गया है। ज्ञान, कर्म, पुनर्जन्म, परम शान्ति, सत-असत् आदि के बारे में भी यहाँ विस्तार से प्रतिपादन किया जाता है।

10. उपनिषद् कठिन विषय को सरल भाषा में प्रस्तुत करते हैं। इनमें गद्य और पद्य दोनों विधाओं का प्रयोग किया गया है। कुछ उपनिषद् केवल पद्यात्मक भी हैं तो कुछ केवल गद्यात्मक। उपनिषदों के

आरम्भ और अन्त में शान्तिपाठ का विधान है। उपनिषदों में कई प्रकार की वर्णन-शैलियां देखी जाती हैं अधिकतर उनका उद्देश्य विषय को सरल और रोचक बनाना है।

1.9 शब्दावली

वेद, ब्राह्मण, ज्ञानकाण्ड, कर्मकाण्ड, वेदान्त, वेदान्तविज्ञान, गुह्य, रहस्य, 'उपनिषद्' शब्द, शंकराचार्य, अविद्या, अवसादन, मुक्तिकोपनिषद्, उपनिषद्-वर्गीकरण, शाक्त, वैष्णव, दाराशिकोह, ह्यूम, डायसन, प्रस्थानत्रयी, सर्वपल्ली राधाकृष्णन्, शोपेनहावर, आत्मविद्या, ब्रह्मविद्या, ज्ञान, कर्म, मोक्ष, विद्या, श्रेयस्, प्रेयस, स्वर्ग, मोक्ष, शान्तिपाठ, संवादविधि, अरुन्धती-न्याय, निर्वचन-विधि।

1.10 बोध प्रश्नों के उत्तर

1. उपनिषद् वेद के अन्तिम (चौथे) भाग के अन्तर्गत आते हैं।
2. वेदों का अन्तिम भाग या वेदों का सार होने से उपनिषदों को वेदान्त कहते हैं। वेद और अन्त-इन दो शब्दों के योग से 'वेदान्त' शब्द बना है। अन्त शब्द के अर्थ हैं - अन्तिम और सार।
3. उपनिषदों के गूढ़ चिन्तन की पृष्ठभूमि का प्रारम्भ ऋक्संहिता से ही माना जा सकता है।
4. पनिषदों को वेदान्त के अतिरिक्त उपनिषदों में ही यदा कदा गुह्य और रहस्य नाम भी दिये गये हैं।
5. 'उपनिषद्' शब्द उप और नि उपसर्ग पूर्वक सद् बैठना धातु में क्विप् प्रत्यय लगकर बना है।
6. उप निषद् सद् (विशरण, गति, अवसादन) धातु में क्विप् प्रत्यय लगकर बना है ।
7. उपनिषदों की संख्या कम से कम दस, और अधिक से अधिक 223 तक देखी जाती है।
8. 108 उपनिषदों का वर्गीकरण वेदानुसार और विषयानुसार-सामान्यतया इन दो प्रकारों से किया जाता है।
9. योग के सिद्धान्तों पर निर्भर उपनिषदें उपनिषदों के विषयानुसार वर्गीकरण के अन्तर्गत रखी जाएगी।
10. आदि शंकराचार्य।
11. तेरह प्रमुख उपनिषदों का।
12. उपनिषदों का मुख्य प्रतिपाद्य ब्रह्मविद्या है।
13. पनिषदों के अनुसार भेदबुद्धि अज्ञान या अविद्या है और एकत्वबुद्धि ज्ञान या विद्या है।
14. ब्रह्म में लय होना ही मोक्ष है।
15. उपनिषदों की भाषा प्रायः सरल है।
16. उपनिषदों में गद्य और पद्य दोनों का प्रयोग देखा जाता है।
17. शान्तिपाठ का विधान उपनिषद् के प्रारम्भ और अन्त में होता है।

18. संवादशैली और कथाविधि को उपनिषदों की दो प्रमुख वर्णन-शैली कह सकते हैं।
19. याज्ञवल्क्य ने आत्मदर्शन की प्रक्रिया समझाने के लिए उपमाविधि अपनायी।
20. बृहदारण्यक उपनिषद् में प्राण, रुद्र, आदित्य आदि शब्दों के स्पष्टीकरण के लिए निर्वचन-विधि का आश्रय लिया गया है।

1.11 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. संस्कृत वाङ्मय का बृहद् इतिहास, प्रथम खण्ड 'वेद', प्रधानसम्पादक - आचार्य बलदेव उपाध्याय (प´चदश अध्याय - उपनिषत्साहित्य; द्वारा डॉ० शशि तिवारी) उत्तर प्रदेश संस्कृत संस्थान, लखनऊ, 1996 ई०।
2. वैदिक साहित्य और संस्कृति, बलदेव उपाध्याय, वाराणसी, 1958 ई०।
3. वैदिक साहित्य और संस्कृति, डॉ० कपिल देव द्विवेदी, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, 2000 ई०।
4. वैदिक साहित्य और संस्कृति का स्वरूप, डॉ० ओम प्रकाश पाण्डेय, विश्व प्रकाशन,
5. 1994 ई०।
6. मुण्डकोपनिषद्, डॉ० शशि तिवारी, मेहरचन्द्र लक्ष्मण दास, नई दिल्ली, 1971 ई०।

1.11 निबन्धात्मक प्रश्न

1. उपनिषदों के प्रतिपाद्य पर प्रकाश डालिए।
2. उपनिषदों के महत्व की विवेचना कीजिए ।
3. उपनिषदों के विषय क्षेत्र पर प्रकाश डालिए।

इकाई 2: प्रमुख उपनिषदों का सामान्य परिचय

इकाई की रूपरेखा

2.1 प्रस्तावना

2.2 उद्देश्य

2.3 विषयप्रवेश

- 2.3.1 प्रमुख उपनिषदों का वेदानुसार वर्गीकरण
- 2.3.2 ऋग्वेदीय उपनिषदें - सामान्य परिचय
- 2.3.3 सामवेदीय उपनिषदें - सामान्य परिचय
- 2.3.4 शुक्ल यजुर्वेदीय उपनिषदें - सामान्य परिचय
- 2.3.5 अथर्ववेदीय उपनिषदें - सामान्य परिचय

2.4 सारांश

2.5 शब्दावली

2.6 बोध प्रश्नों के उत्तर

2.7 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

2.8 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री

2.9 निबन्धात्मक प्रश्न

2.1 प्रस्तावना

आज उपनिषदों की संख्या 200 से अधिक गिनायी जाती है। भारतीय परम्परा में सामान्यतया 108 उपनिषदों की बात की जाती है। प्रायः ज्ञानकाण्ड-विषयक ग्रन्थों को 'उपनिषद्' संज्ञा देने का भी प्रचलन है। इसीलिए वेद के कई सूक्त उपनिषद् कोटि में रखे जाते हैं। उदाहरणार्थ, यजुर्वेद का परमात्मा सूक्त 'तदेव' उपनिषद् कहलाता है।

जब हम उपनिषद् वाङ्मय के प्रामाणिक ग्रन्थों की चर्चा करते हैं, तो जान पाते है कि अलग-अलग विद्वानों ने दस से लेकर चौदह तक प्रमुख उपनिषद् ग्रन्थ बताये हैं। अधिकतर प्राचीन आचार्यों, आधुनिक दार्शनिकों और अनुवादकर्ताओं ने उनका ही अध्ययन और प्रकाशन किया है।

2.2 उद्देश्य

इस इकाई में प्रमुख उपनिषदों का सामान्य परिचय प्राप्त करने के पश्चात् आप-

- उपनिषद् वाङ्मय के चौदह प्रमुख उपनिषदों का उद्देश्य और विषय संक्षेप में जान सकेंगे।
- प्रथम उपनिषद् के रूप में ईशावास्योपनिषद् के महत्त्व को समझ सकेंगे।
- छान्दोग्य उपनिषद् की प्रसिद्ध कथा और संवादों का परिचय पा सकेंगे।
- सामवेद के केनोपनिषद् में वर्णित यक्षोपाख्यान के रूपक को जान सकेंगे।
- कठोपनिषद् में नचिकेता के तीसरे वर के रूप में ब्रह्मज्ञान की जिज्ञासा की महत्ता समझ सकेंगे।
- कठोपनिषद् में आत्मारूपी रथी के द्वारा जीवन के लक्ष्य का परिचय पा सकेंगे।
- कठोपनिषद् में आत्मारूपी रथी के द्वारा जीवन के लक्ष्य का परिचय पा सकेंगे।
- मुण्डकोपनिषद् में 'मुण्डक' नाम की सार्थकता पर चिन्तन कर सकेंगे।
- मो 'ओम् की महिमा' माण्डूक्य उपनिषद् द्वारा जान पायेंगे।
- बृहदारण्यक उपनिषद् के मैत्रेयी-याज्ञवल्क्य-आख्यान का अवलोकन कर पाएंगे।
- कई प्रमुख उपनिषदों के प्रतिपाद्य द्वारा ब्रह्मज्ञान के मार्ग में आचार्य की महत्ता जान पाएंगे।
- उपनिषदों में अधिकारी शिष्य की उपादेयता क्यों स्वीकार की गयी है- इसकी जानकारी पा सकेंगे।

2.3 विषय-प्रवेश

प्रामाणिक और प्रमुख उपनिषदों को उपनिषद्-वाङ्मय में विशेष स्थान प्राप्त है। प्राचीन उपनिषद् मुक्तिकोपनिषद् में दस प्रमुख उपनिषद् इस प्रकार गिनाये गये हैं -

ईश-केन-कठ-प्रश्न-मुण्ड-माण्डूक्य-तित्तिरः।
ऐतरेयं च छान्दोग्यं बृहदारण्यकं च दश॥

अर्थात् ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, तैत्तिरीय, ऐतरेय, छान्दोग्य तथा बृहदारण्यक - ये दस (मुख्य) उपनिषद्-ग्रन्थ हैं।

आठवीं शताब्दी में हुए, अद्वैत मत के संस्थापक आदि आचार्य शंकर ने इन उपनिषदों पर अपना भाष्य लिखा है। उपनिषद्-विद्वान् ह्यूम ने श्वेताश्वतर उपनिषद् के भाष्य को आदि शंकराचार्य प्रणीत माना है। इस दृष्टि से इन दस उपनिषदों में श्वेताश्वतर उपनिषद् को जोड़कर प्रायः ग्यारह प्रामाणिक उपनिषद् बताये जाते हैं। कुछ भाष्यकार मुक्तिकोपनिषद् में उद्धृत दस उपनिषदों में कैवल्योपनिषद् को जोड़कर इन ग्यारह उपनिषदों को मुख्य कहते हैं। मणिप्रभाव्याख्या समेत, मोतीलाल बनारसीदास से प्रकाशित एकादशोपनिषद् इसका प्रमाण है। आचार्य शंकर ने अपने ब्रह्मसूत्र-भाष्य में कौषीतकि और मैत्रायणीय उपनिषद् को उद्धृत किया है। बाष्कल उपनिषद् अभी हाल में ही उपलब्ध हुई हैं। इस प्रकार उपनिषत्काल में प्रणीत वेदान्त उपनिषदों की संख्या चौदह तक जाती है।

2.3.1 प्रमुख उपनिषदों का वेदानुसार वर्गीकरण

उपलब्ध वैदिक शाखाओं की चौदह प्रमुख उपनिषदें निम्नलिखित हैं:

वेद	शाखा	उपनिषद्
ऋग्वेद -	शाकल -	ऐतरेय उपनिषद्
	वाष्कल -	(1) कौषीतकि उपनिषद्
		(2) वाष्कल उपनिषद्
सामवेद -	कौथुम -	छान्दोग्य उपनिषद्
	-जैमिनीय	-केनोपनिषद्
कृष्णयजुर्वेद	-तैत्तिरीय-	तैत्तिरीय उपनिषद्
	मैत्रायणी -	मैत्रायणी उपनिषद्
	कठ -	कठोपनिषद्
	श्वेताश्वतर	श्वेताश्वतरोपनिषद्
शुक्लयजुर्वेद	काण्व -	(1) ईशावास्योपनिषद्
		(2) बृहदारण्यकोपनिषद्
	माध्यन्दिन	
		(1) ईशावास्योपनिषद्
		(2) बृहदारण्यकोपनिषद्
		(2) बृहदारण्यकोपनिषद्
अथर्ववेद	पैप्पलाद -प्रश्नोपनिषद्	

शौनक -(1) मुण्डकोपनिषद्

(2) माण्डूक्योपनिषद्

प्रमुख चौदह उपनिषदों के स्वरूप, प्रतिपाद्य और विशेषताओं पर विचार करते हुए अब वेदानुक्रम से उनका संक्षिप्त परिचय दिया जाएगा।

2.3. 2 ऋग्वेदीय उपनिषदें - सामान्य परिचय

(1) ऐतरेय उपनिषद्

ऋग्वेदीय ऐतरेय आरण्यक के द्वितीय आरण्यक के अन्तर्गत चतुर्थ, पंचम और षष्ठ अध्यायों का नाम 'ऐतरेय उपनिषद्' है। इसके प्रथम अध्याय में तीन खण्ड हैं और द्वितीय तथा तृतीय अध्याय में एक-एक खण्ड हैं। इस प्रकार यह एक लघुकाय उपनिषद् है। मूलतः आरण्यक का भाग होने से यह गद्यात्मक है। ऋषि ऐतरेय महिदास को इसका प्रणेता माना जाता है क्योंकि वे ही ऐतरेय ब्राह्मण और ऐतरेय आरण्यक के प्रणेता हैं।

ऐतरेय उपनिषद् के प्रथम खण्ड में आत्मा से चराचर सृष्टि की उत्पत्ति का वर्णन किया गया है। सृष्टि के आदि में केवल परमात्मा ही था। उसने हिरण्यगर्भ को बनाया, देवों को प्रकट किया और स्वयं ही मनुष्य-शरीर में जीव रूप में प्रवेश कर गया। द्वितीय अध्याय में मनुष्य शरीर की अनित्यता दिखाकर वैराग्य उत्पन्न करने के लिए उसकी उत्पत्ति का वर्णन है। तृतीय अध्याय में हृदय, मन, संज्ञान, विज्ञान, प्रज्ञान, मेधा, दृष्टि, धृति, मति, मनीषा आदि सब की सब शक्तियों।

को प्रज्ञान स्वरूप परमात्मा के ही नाम बताया गया है। इस अध्याय में प्रज्ञान की विशेष महिमा गायी गयी है। प्रज्ञान ही ब्रह्म है - **प्रज्ञानं ब्रह्म (ऐत० उप० 3/3)**। इससे यह उपनिषद् ग्रन्थ आदर्शवाद का प्रतिपादक सिद्ध होता है। साक्षात् रूप में ब्रह्मविद्या का वर्णन न करते हुए भी यह उपनिषद् ग्रन्थ सृष्टि उत्पत्ति में ब्रह्म के कारण रूप और महिमा का वर्णन करने से महत्त्वपूर्ण माना जाता है।

कौषीतकि उपनिषद्

ऋग्वेद से सम्बद्ध कौषीतकि उपनिषद् ऋग्वेद के कौषीतकि आरण्यक अथवा शाङ्खायन आरण्यक के तृतीय, चतुर्थ, पंचम और षष्ठ अध्यायों से मिलकर बना है, इसीलिए इसे 'कौषीतकि ब्राह्मणोपनिषद्' भी कहते हैं। इसके उपदेष्टा ऋषि कुषीतक हैं। यह उपनिषद् पूर्णतया गद्य में है।

कौषीतकि उपनिषद् में चार अध्याय हैं। प्रथम अध्याय में देवयान और पितृयाण नामक दो मार्गों का वर्णन है, जिससे होकर यह आत्मा मृत्यु के उपरान्त गमन करता है। इसे 'पर्यङ्क-विद्या' भी कहते हैं। द्वितीय अध्याय में प्राणविद्या का निरूपण करते हुए उसे ब्रह्म और उक्थ कहा गया है। तृतीय अध्याय में काशिराज दैवोदास प्रतर्दन ने इन्द्र से आत्मविद्या का उपदेश ग्रहण किया है। चतुर्थ अध्याय में बृहदारण्यक उपनिषद् (2/1) में वर्णित आख्यान की आंशिक पुनरावृत्ति हुई है जिसमें काशिराज अजातशत्रु ने गार्ग्य को आत्मविद्या का उपदेश दिया है। आख्यान रोचक और संवाद शैली

में है। क्षत्रिय द्वारा ब्राह्मण को ज्ञानोपदेश देना वर्ण के स्थान पर विद्वत्ता की महत्ता दिखाता है। छोटे कलेवर का यह उपनिषद् सरल भाषा और रोचक शैली में सूक्ष्म तत्त्वों को प्रस्तुत करने के कारण विशेष महत्त्व रखता है।

वाष्कल उपनिषद्

वाष्कल उपनिषद् ऋग्वेद की अंशतः उपलब्ध बाष्कल शाखा से सम्बद्ध है । डायसन के मत में स्वरूपतया इस उपनिषद् का बाष्कलों से कोई स्पष्ट सम्बन्ध नहीं दिखायी देता है । छन्दोबद्ध होने से इसे 'बाष्कलमन्त्रोपनिषद्' भी कहते हैं । इसमें कुल 25 मन्त्र हैं, अतः यह एक लघुकाय उपनिषद् हैं। षड्विंश ब्राह्मण (1/2) में एक कथा है कि इन्द्र ने मेष का रूप धारण करके काण्व मेधातिथि का हरण किया था। यह कथा सम्भवतः एक ऋग्वेदीय मन्त्र (8/2/40) पर आधृत है । बाष्कल उपनिषद् ने औपनिषदिक दर्शन के सारभूत सिद्धान्तों के प्रतिपादन के लिए एक कथा से प्रारम्भ किया है, जिसमें इन्द्र ने आत्मा के प्रतिनिधि के रूप में उपदेश दिया है । बुद्धिमान् इन्द्र मेष के रूप में कण्वपुत्र मेधातिथि के पास पहुंचे और उसे उसकी इच्छा के विरुद्ध उठाकर स्वर्ग ले आए। तब मेधातिथि ने उत्तेजित होकर इन्द्र से कहा - 'क्या तुम जानते हो कि तुम कौन हो? कौन विश्वास

मेधातिथि ने उत्तेजित होकर इन्द्र से कहा - 'क्या तुम जानते हो कि तुम कौन हो? कौन विश्वास करेगा कि तुम मेष हो, क्योंकि वह पृथिवी पर चलता है और तुम पृथिवी को छुए बिना चलते हो। तुम सर्वज्ञ हो, अतः मुझे अपना परिचय दो ।' इन्द्र ने कहा - 'मैं तुम्हें अपने स्थान तक पहुंचाए बिना नहीं छोड़ सकता हूँ । तुम मुझे नहीं जानते हो । मैं तो मन्त्र हूँ, यज्ञ हूँ, अग्नि हूँ। मैं देवों का पालक हूँ। मैं सब भुवनों का पालक हूँ ।' और इस प्रकार इन्द्र ने इस उपनिषद् में विस्तार से आत्मतत्त्व का प्रतिपादन किया है । यहाँ आत्मा को ज्योति, हंस, साक्षी आदि कहा गया है जो गुहा में निहित है (निहितं गुहाचित् । बाष्कल० 18)।

डायसन के विचार में आडयार पुस्तकालय का संस्करण इसकी भाषागत प्राचीनता का प्रभाव छोड़ता है ।

2.3.3 सामवेदीय उपनिषदें - सामान्य परिचय

छान्दोग्य उपनिषद्

छान्दोग्य उपनिषद् प्राचीन उपनिषदों में नितान्त प्रौढ़ और प्रामाणिक है । यह बृहदारण्यकोपनिषद् के समान परिमाण में विशाल है । सामवेदीय छान्दोग्य ब्राह्मण के दस विभाग हैं, जिनको 'प्रपाठक' कहा गया है । उनमें से अन्तिम आठ प्रपाठक 'छान्दोग्योपनिषद्' के नाम से प्रसिद्ध हैं। इन आठ अध्यायों या प्रपाठकों में कुल 154 खण्ड हैं । यह उपनिषद् सम्पूर्णतया गद्यात्मक है ।

छान्दोग्य उपनिषद् को विषयवस्तु की दृष्टि से दो भागों में बांटा जा सकता है - प्रथम भाग में पांच अध्याय आते हैं, जिनमें ध्यान को प्रधानता देते हुए कर्मकाण्डीय उपासना का प्रमुख रूप से वर्णन है।

दूसरे भाग में अन्तिम तीन अध्याय आते हैं जिनमें वेदान्तदर्शन के मूलभूत सिद्धान्तों का विशेषतया प्रतिपादन है। छान्दोग्य उपनिषद् का प्रत्येक प्रपाठक विषय-विवेचन की दृष्टि से प्रायः स्वतन्त्र है। दो अध्यायों में सामोपासना है । प्रथम अध्याय में उद्गीथ-दृष्टि से ओंकार-उपासना, इस सम्बन्ध में शिलक, दाल्म्य और प्रवाहण का संवाद, उषस्ति चाक्रायण का आख्यान, हिंकार और स्तोभाक्षर की विवेचना है। द्वितीय अध्याय में पंचविध सप्तविध सामोपासना, गायत्रीसामोपासना, रथन्तर, वामदेव्य, वैरूप, वैराज, शक्वरी, रेवती, यज्ञायज्ञिय और राजन संज्ञक सामोपासना का प्रतिपादन है। तदनन्तर स्वर, वर्ण, उच्चारण-चिन्तन, धर्मस्कन्धत्रयी, त्रयीविद्या, व्याहृतित्रयी, सवनत्रयी का विवेचन है । इस अध्याय के अन्त में 'शैव उद्गीथ' है । तृतीय अध्याय के प्रारम्भिक खण्ड 'मधुविद्या' कहलाते हैं, जिनमें सूर्य की देवमधु के रूप में उपासना है। यहाँ ब्रह्म को विश्व का सूर्य कहा गया है । इस अध्याय का प्रसिद्ध सिद्धान्त है - 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' अर्थात् सब कुछ ब्रह्म ही है (3/14/1)। चतुर्थ अध्याय में राजा जानश्रुति को रैक्व ने वायु और प्राणविषयक दार्शनिक तथ्यों का उपदेश दिया है। इस आख्यान से यह भी दर्शाया गया है कि गुरु से उपदेश प्राप्त करने के लिए उनके प्रति आदरभाव का होना और उन्हें भेंट देना अनिवार्य है । इसके अतिरिक्त सत्यकाम जाबाल और उसकी माता की कथा एवं उपकोसल को सत्यकाम जाबाल से ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति का रोचक वर्णन भी इस अध्याय में है। पंचम अध्याय में पंचेन्द्रिय विवाद, प्राणविद्या, मन्थकर्म, श्वेतकेतु- जैबलि प्रवाहण संवाद, अग्निविद्या, देवयान, पितृयाण, जीवगति आदि का वर्णन है । इस अध्याय में ही कैकेय अश्वपति के पास उद्दालक की औपमन्यव आदि पांच परमज्ञानी ब्राह्मणों के साथ प्रत्यासत्ति और अश्वपति द्वारा वैश्वानरोपासना तथा सृष्टि-विषयक तथ्यों का निरूपण आख्यान के रूप में हुआ है । षष्ठ अध्याय में आरुणि उद्दालक ने अपने पुत्र श्वेतकेतु को ज्ञानोपदेश दिया है । जिस प्रकार याज्ञवल्क्य ऋषि बृहदारण्यकोपनिषद् के सर्वश्रेष्ठ अध्यात्म-उपदेष्टा है, उसी प्रकार आरुणि छान्दोग्य के प्रवर दार्शनिक है । 'तत्त्वमसि श्वेतकेतो' (6/7) रूप में आरुणि की अध्यात्म शिक्षा का मूल आत्मा का ऐक्य प्रतिपादन है। साथ ही सत् से उद्भूत अग्नि, जल एवं आहार आदि तत्त्वों की मीमांसा भी की गयी है। सप्तम अध्याय में सनत्कुमार तथा नारद का नितान्त प्रसिद्ध वृत्तान्त है, जिसमें मन्त्रविद् नारद आत्मविद्या की शिक्षा के लिए महर्षि सनत्कुमार के पास जाते हैं और वे नाम, वाक्, मन, संकल्प, चित्त, ध्यान, विज्ञान आदि सोलह स्तरों से क्रमशः उत्तरोत्तर श्रेष्ठ तत्त्व का वर्णन करते हुए अन्ततः 'भूमा' की सर्वश्रेष्ठता और सर्वात्मकता का प्रतिपादन करते हैं - 'यो वै भूमा तदमृतमथ यदल्पं तन्मर्त्यम्' (7/24)। इस अध्याय को 'भूमादर्शन' कह सकते हैं। अष्टम अध्याय में हृदय-पुण्डरीक देश में आत्मा का वर्णन और उसकी प्राप्ति के मार्ग एवं प्रजापति द्वारा इन्द्र और विरोचन को आत्मा के स्वरूप का क्रमिक और विस्तृत उपदेश दिया गया है । अन्त में ब्रह्मलोकप्राप्ति तथा पुनरागमन की निवृत्ति की कामना की गयी है ।

छान्दोग्य उपनिषद् की भाषा प्रवाहपूर्ण, सरल और मन्त्रों की भाषा के समकक्ष है। आख्यायिकाएं विशेषरूप से मार्मिक और आकर्षक है। साहित्यिक दृष्टि से कवित्व का इस ग्रन्थ में अभाव नहींहै।

तरह-तरह के फूलों से रस लेकर मधुमक्खियों द्वारा शहद-निर्माण का दृष्टान्त एकात्मकता के स्पष्टीकरण के लिए सुन्दर काव्योद्भावना है । आत्मा के सर्वत्र होते हुए भी उसे न देख पाने को समझाने के लिए आरुणि द्वारा दिया गया पानी में घुली नमक की डली का दृष्टान्त अत्यधिक प्रभावी और रोचक है। संवादों में सहजता और सरलता ने गम्भीर दार्शनिक विषयों को बोधगम्य बनाया है ।

(5) केन उपनिषद्

केन उपनिषद् सामवेदीय तलवकार शाखा से सम्बद्ध है। जैमिनीय तलवकार ब्राह्मण का नवम अध्याय ही यह उपनिषद् है। इसीलिए इसे 'तलवकारोपनिषद्' तथा 'ब्राह्मणोपनिषद्' भी कहते हैं। 'केनेषितं पतति प्रेषितं मनः......' इस प्रथम मन्त्र के 'केन' पद से आरम्भ होने के कारण यह उपनिषद् 'केनोपनिषद्' नाम से अधिक प्रसिद्ध है। इसके प्रणेता जैमिनि शिष्य तलवकार को समझना चाहिए । केनोपनिषद् में आरम्भ से अन्त पर्यन्त परम ब्रह्म के स्वरूप और प्रभाव का वर्णन है। इस उपनिषद् का मूलस्रोत अथर्ववेदीय केनसूक्त (10/2) माना जा सकता है। उसका प्रारम्भ भी 'केन' पद से हुआ है। उसमें यह भाव प्रकट किया गया है कि जीवों के शरीर तथा सूर्यादि दिव्यशक्तियों की सृष्टि ब्रह्म से हुई है। इस उपनिषद् में भी यही भाव है कि ब्रह्म सर्वज्ञ और नियन्ता है और उसी के आश्रय में सब दिव्यशक्तियां कार्य कर रही हैं ।

केनोपनिषद् में चार खण्ड हैं । उनमें से दो पद्यात्मक हैं और अन्तिम दो गद्यात्मक हैं । चार खण्डों में 34 मन्त्र हैं । पहले दो खण्डों में सर्वाधिष्ठान परब्रह्म के पारमार्थिक स्वरूप का लक्षणा से निर्देश करते हुए परमार्थज्ञान की अनिर्वचनीयता तथा ज्ञेय के साथ उसका अभेद प्रदर्शित किया गया है। तीसरे तथा चौथे खण्ड में यक्षोपाख्यान द्वारा ब्रह्म का सर्वप्रेरकत्व और सर्वकर्तृत्व दर्शाया गया है। गद्य भाग की आख्यायिका रूपक शैली में पद्य भाग में वर्णित भावों का ही समर्थन करती है ।

छोटी होने पर भी केनोपनिषद् दार्शनिक दृष्टि से विलक्षण है । प्रथम खण्ड इस जिज्ञासा से प्रारम्भ होता है कि मन, प्राण, वाक्, नेत्र और कर्ण को अपने अपने कर्मों में कौन प्रवृत्त करता है । सम्पूर्ण सृष्टि और तत्सम्बद्ध गतिविधियों का एकमात्र नियामक और सर्जक ब्रह्म ही हैं। द्वितीय खण्ड में जिज्ञासु को सावधान किया गया है कि इसी जीवन में ब्रह्म के वास्तविक रूप को जानना नितान्त आवश्यक है । जो स्वयं को ब्रह्म का जानकार मानता है, वह ब्रह्म-ज्ञान-शून्य है और जो उसे अज्ञात मानता है, वही ब्रह्म को जानता है । तृतीय खण्ड में ब्रह्म के वास्तविक स्वरूप को समझने की महत्ता बताने के लिए देवताओं द्वारा उसे जानने के प्रयत्न की चर्चा यक्षोपाख्यान के माध्यम से की गयी है। 'यक्ष' के रूप में प्रस्तुत हुए ब्रह्म को शक्तिमान् अग्नि और वायु पहचानने में जब असमर्थ रहे, तब इन्द्र उसके पास गये। इन्द्र के पहुंचते ही यक्ष अदृश्य हो गया और आकाश में उस स्थान पर हैमवती उमा प्रकट हुयीं। इन्द्र ने उनसे यक्ष का परिचय पूछा। चौथे खण्ड में हैमवती उमा इन्द्र को बताती हैं कि यक्ष और कोई नहीं 'ब्रह्म' ही है, उसी की विजय से देवताओं को महिमा मिली है। तब वे उनके आध्यात्मिक स्वरूप की चर्चा करती हैं ।

ब्रह्मप्राप्ति के तप दम, कर्म, वेद-वेदाङ्ग और सत्य - आधार हैं । इस प्रकार ब्रह्म के स्वरूप के प्रतिपादन के साथ-साथ यह उपनिषद् उसकी प्राप्ति के साधनों पर भी प्रकाश डालती है। ज्ञान के अनुभवात्मक पहलू पर बल देना इस उपनिषद् के दर्शन की विशेषता है ।

केनोपनिषद् का महत्त्व संरचना की दृष्टि से भी है । प्रथम दो खण्डों में गुरु-शिष्य का संवाद नाटकीय परिसंवाद की शैली में हुआ है। परन्तु केनोपनिषद् का यक्षोपाख्यान यक्ष, अग्नि, वायु, इन्द्र, उमा आदि पात्रों को विविध सत्ताओं और शक्तियों के प्रतीक रूप में प्रस्तुत करता है। प्रस्तुति की नाटकीयता गम्भीर विषय को सरल बना देती है ।

6. कृष्णयजुर्वेदीय उपनिषदें - सामान्य परिचय

तैत्तिरीय उपनिषद्

कृष्णयजुर्वेदीय तैत्तिरीयारण्यक के सप्तम, अष्टम और नवम प्रपाठकों का नाम 'तैत्तिरीयोपनिषद्' है। इन प्रपाठकों को क्रमशः शिक्षावल्ली, ब्रह्मानन्दवल्ली और भृगुवल्ली भी कहते हैं। प्रपाठकों का विभाजन अनुवाकों में हुआ है। आरण्यक में शिक्षावल्ली को 'सांहिती उपनिषद्' और ब्रह्मानन्दवल्ली तथा भृगुवल्ली को 'वारुणी उपनिषद्' कहा गया है । इनमें महत्त्व की दृष्टि से वारुणी उपनिषद् प्रधान है, क्योंकि उसमें विशुद्ध रूप से ब्रह्मविद्या का निरूपण हुआ है ।

शिक्षावल्ली के प्रारम्भ में परब्रह्म की भिन्न-भिन्न नामों और रूपों में स्तुति और प्रार्थना है । वेद के उच्चारण के नियमों का वर्णन भी किया गया है । इसके चतुर्थ अनुवाक में लोक और परलोककी उन्नति का उपाय, परमात्मा की प्रार्थना और उसके साथ-साथ हवन के विषय में कहा गया है। पंचम अनुवाक में बताया गया है कि जगद्व्यापी समस्त प्राण ही मानों तीनों व्याहृतियां हैं और अन्न 'महः' रूप चतुर्थ व्याहृति है। अष्टम अनुवाक में बताया गया है कि ओम् परब्रह्म परमात्मा का नाम होने से साक्षात् ब्रह्म ही है और जगत् ओम् का स्थूल रूप है। स्वाध्याय और प्रवचन की आवश्यकता का प्रतिपादन नवम अनुवाक का विषय है । एकादश अनुवाक समाप्तविद्य स्नातक के लिये आचार्य के महत्त्वपूर्ण 'उपदेश' और 'अनुशासन' को वेदों के रहस्य के रूप में उपन्यस्त करता है। 'ब्रह्मानन्दवल्ली' 'ब्रह्मविद्' की परप्राप्ति के उल्लेख से प्रारम्भ होती है और इसमें ब्रह्म, ब्रह्मज्ञान और उसके फल के निरूपण के बाद अन्न, प्राणमय शरीर और प्राण की महिमा वर्णित है। साथ ही अन्तर्यामी परमेश्वर और पंचकोशों के स्वरूप का इस वल्ली में विस्तृत विवेचन है। इसके अष्टम अनुवाक में जो आनन्द-मीमांसा की गयी है, उसका पश्चकालीन साहित्य पर बड़ा प्रभाव पड़ा है। भृगुवल्ली में वरुण ने अपने पुत्र भृगु ऋषि को ब्रह्मविद्या का उपदेश दिया है। यहाँ संवाद रूप में 'पंचकोशविवेक' को ब्रह्मप्राप्ति का मुख्य साधन बताया गया है।

तैत्तिरीयोपनिषद् सम्पूर्णतया गद्य में है । गूढ़ अध्यात्मतत्त्व के प्रतिपादनार्थ इस उपनिषद् का विशेष महत्त्व है । द्रष्टव्य है कि यहाँ अन्तेवासी शिष्य को समावर्तन संस्कार के लिये आदेश देते हुये आचार्य

ने गृहस्थोचित कर्मों, शिष्टाचारों और धर्माचरणादि की शिक्षा भी दी हो।

(7) मैत्रायणी उपनिषद्

मैत्रायणी उपनिषद् कृष्णयजुर्वेद की मैत्रायण या मैत्रायणी शाखा से सम्बद्ध है। इसे मैत्रायणीय उपनिषद् भी कहते हैं। इस उपनिषद में सात प्रपाठक हैं, जिनमें कुल 76 खण्ड हैं।

मैत्रायणी उपनिषद् का भी मुख्य विषय आत्मविद्या है। उपनिषद् का प्रारम्भ इक्ष्वाकुवंशीय राजा बृहद्रथ और मुनि शाकायन्य के प्रसङ्ग से होता है - राजा पुत्र को सिंहासन सौंपकर इस देह की क्षणभंगुरता को हृदयगत करके मुनि के आश्रम में जाकर वैराग्य का उपदेश ग्रहण करते हैं। राजा की जिज्ञासा के उत्तर में मुनि ने भगवान् मैत्री द्वारा निर्दिष्ट ब्रह्मविद्या का उपदेश दिया है, जो मुख्यरूप से तीन प्रश्नों के उत्तर में समाहित है - प्रथम प्रश्न है कि आत्मा किस प्रकार शरीर में प्रवेश करता है? उत्तर में कहा गया है कि प्रजापति स्वयंरचित शरीरों में जीवन संचार के लिए पांच प्राणों के रूप में प्रविष्ट होता है। द्वितीय प्रश्न है - परमात्मा किस प्रकार भूतात्मा बनता है? इसका समाधान सांख्य की मान्यताओं के अनुसार किया गया है कि आत्मा प्रकृति के विविध गुणों से पराभूत होकर आत्मरूप को भूल जाता है। अनन्तर आत्मबोध और मुक्ति के लिए प्रयास करता है। तृतीय प्रश्न है - सांसारिक दुःखों से मुक्ति का मार्ग क्या है? इसका उत्तर सांख्य और वेदान्त के सिद्धान्तों के आधार पर दिया गया है। ब्रह्मज्ञान, तपस् और ध्यान द्वारा मुक्ति को पा सकते हैं। चतुर्थ प्रपाठक के अन्तिम भाग में वर्णन है कि ब्राह्मणकाल के प्रमुख तीन देवता - अग्नि, वायु एवं सूर्य; तीन भावरूप सत्ताएं-काल, प्राण और अन्न; और तीन प्रचलित देवता - ब्रह्मा, रुद्र और विष्णु - सब ब्रह्म का बोध कराने वाले हैं। बाद के प्रपाठकों में प्राणाग्निहोत्रम्, योग, अन्न, प्रकृति, पुरुष, काल, आत्मा इत्यादि का विवेचन है, जिनमें अनन्तर विकसित सांख्य और योगदर्शन के सिद्धान्तों की स्पष्ट झलक दिखायी देती हैं।

शङ्कराचार्य इस उपनिषद् के विषय में पूर्णतया मौन हैं। इसमें सांख्यदर्शन में विकसित तत्त्वों की उपलब्धि होती है। वेदविरुद्ध सम्प्रदायों का इसमें उल्लेख हुआ है, विशेषकर बौद्धमत का। इसलिए इस उपनिषद् को प्राचीन उपनिषदों की तुलना में उत्तरकालीन माना जाता है।

(8) कठोपनिषद्

कठोपनिषद् सर्वाधिक स्पष्ट और प्रसिद्ध उपनिषद् हैं। इसका सम्बन्ध कृष्णयजुर्वेद की कठ शाखा से है। इसके नाम ‘कठोपनिषद्’ का यही आधार है। इस उपनिषद् को ‘काठक’ नाम से भी जाना जाता है। अतः इसके प्रणेता कठ ऋषि माने जा सकते हैं। इस उपनिषद् में दो अध्याय हैं और प्रत्येक में तीन-तीन वल्लियां हैं। सम्पूर्ण उपनिषद् में 119 मन्त्र हैं, जो प्रायः पद्यात्मक ही हैं।

कठोपनिषद् में यम और नचिकेता के संवाद रूप में आत्मा और परमात्मा के गूढ़ उच्चज्ञान का विशद और गम्भीर उपदेश दिया गया है। मरने के अनन्तर जीवात्मा की सत्ता रहती है या नहीं? इस प्रश्न को, जो प्रतिदिन मनुष्यों के हृदयों में उत्पन्न होता रहता है, यहाँ बहुत ही रोचक रूप में बताया गया है। उपनिषद् का प्रारम्भ एक आख्यायिका से होता है। कथा इस प्रकार है - वाजश्रवस् गौतम

नामक ऋषि ने 'सर्ववेदस्' यज्ञ किया, जिसमें सर्वस्व दान दिया जाता है। वाजश्रवा ने लोभवश जीर्ण-शीर्ण गायों को भी दान में दिया, जिससे पुत्र नचिकेता ने पिता से बूढ़ी गायों केदान पर आपत्ति की और पूछा - 'पिताजी! मुझे आप किसे देंगे?' पिता ने झुंझला कर कहा - 'तुझे मैं मृत्यु को देता हूँ।' नचिकेता पिता की आज्ञा का पालन करने के लिए यमराज के घर पर पहुंच गया । यमराज के घर पर न होने के कारण उसने तीन रात्रियों तक घर के बाहर उनकी प्रतीक्षा की । यमराज ने आने पर अतिथि नचिकेता से तीन वर मांगने को कहा । नचिकेता ने प्रथम वर मांगा कि मेरे पिता की चिन्ता दूर हो जाए, वे मेरे प्रति क्रोधरहित हों और मेरे लौटने पर मुझे पहचान कर मेरा स्वागत करें। यम ने यह वर स्वीकार कर लिया। नचिकेता ने दूसरे वर द्वारा स्वर्ग की साधनभूत अग्नि का ज्ञान (अग्निविद्या) प्राप्त करना चाहा। यम ने नचिकेता को पूर्ण विवरण के साथ यज्ञ-प्रक्रिया समझायी । इन दो वरों को देने में यम भगवान् ने कोई आनाकानी नहीं की । तीसरे वरदान में नचिकेता ने आत्मबोध चाहा ।

उसका प्रश्न था - येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्येऽस्तीत्येके नायमस्तीति चैके। (कठ० उप० 1/1/20) अर्थात् 'मनुष्य के मरने पर यह जो सन्देह है, कुछ कहते हैं, वह रहता है, कुछ कहते हैं वह नहीं रहता है - तुम्हारे द्वारा उपदेश दिया गया, मैं इसे जानूँ। वरों में यह तीसरा वर है।' यमराज ने कहा - 'यह एक ऐसा प्रश्न है, जिसके विषय में देवताओं में भी सन्देह है। यह अत्यन्त सूक्ष्म विषय है। अतः तुम कुछ और मांग लो।' यमराज ने उसकी जिज्ञासा की परीक्षा के लिए तरह-तरह के प्रलोभन देकर नचिकेता को इस प्रश्न के उत्तर के स्थान पर कुछ और मांग लेने को कहा, परन्तु विवेकी नचिकेता अपने प्रण से तनिक भी विचलित नहीं हुआ। ज्ञान का अधिकारी और सच्चा जिज्ञासु जानकर यमराज ने नचिकेता को आत्मज्ञान का उपदेश दिया। कठोपनिषद् के नचिकेता-उपाख्यान का प्रथम संकेत ऋग्वेद (10/135) में प्राप्त होता है। अनन्तर यह कथा तैत्तिरीय ब्राह्मण (3/11/8) में बहुत ही स्पष्ट रूप में मिलती है। उपनिषद् का आख्यान अधिकांशतः तैत्तिरीय ब्राह्मण पर ही आधृत माना जाता है।

आत्मविद्या के विवेचन के साथ-साथ उपनिषद् ने कई दूसरे विषयों का प्रतिपादन भी किया है। योग उसके साक्षात्कार का प्रधान साधन है। आत्मा के स्वरूप को जानने से पूर्व उसके साधन प्रणव का ज्ञान आवश्यक है। ब्रह्म-प्राप्ति के साधन को रथ-रथी के रूपक द्वारा समझाया गया है - शरीर रथ है, आत्मा रथी है, बुद्धि सारथि है, मन लगाम है, इन्द्रियां घोड़े हैं, इन्द्रिय-विषय घोड़ों के मार्ग हैं। इन्द्रिय और मन से युक्त आत्मा ही 'भोक्ता' कहा गया है । संसार का अश्वत्थ वृक्ष के रूप में चित्रण है, जिसका मूल 'ब्रह्म' ऊपर है। इस प्रकार बड़ी सूक्ष्मता से इस उपनिषद् में ब्रह्म, जीव और जगत् से सम्बद्ध विषयों पर विचार किया गया है । इसकी वर्णन-शैली सुबोध है और भाषा में वैदिक रूपों की झलक है। कभी-कभी भाषा इतिहास-पुराणों की भाषा से मिलती-जुलती सी लगती है। इसके कई मन्त्रों की छाया श्रीमद्भगवद्गीता में शब्दतः या अर्थतः दिखायी देती है ।

(9) श्वेताश्वतर उपनिषद्

श्वेताश्वतरोपनिषद् कृष्ण यजुर्वेद की श्वेताश्वतर शाखा से सम्बद्ध है । यह शाखा और इसका ब्राह्मण-ग्रन्थ अनुपलब्ध हैं । सम्भवतः इसीलिए कुछ विद्वानों ने इसे कृष्ण यजुर्वेद की तैत्तिरीय शाखा से

सम्बद्ध माना है । आचार्य शंकर ने इसे श्वेताश्वतरों की 'मन्त्रोपनिषद्' ही बताया है। इस उपनिषद् के प्रणेता ऋषि श्वेताश्वतर है । उपनिषद् के अन्तिम अध्याय (6/21) में कहा गया है कि श्वेताश्वतर नामक ऋषि ने अपनी तपस्या के प्रभाव और परमात्मा की कृपा से ब्रह्म को जाना था और परमहंस संन्यासियों को इसका उपदेश दिया था। प्रतीत होता है कि उनके नाम पर ही उपनिषद् का नाम पड़ा है। 'अश्वतर' का अर्थ 'खच्चर' है, तदनुसार यह उस ऋषि का नाम है जिसका खच्चर सफेद रंग का है। ऋषि नाम की प्रतीकात्मक व्याख्या टीकाकार शंकरानन्द ने की है - 'वह ऋषि जिसकी इन्द्रियां अन्तर्मुखी हैं ।'

श्वेताश्वतर उपनिषद् का सम्बन्ध रुद्र-शिव से है। शैव मत के गौरव की प्रतिपादिका होने से इसे साम्प्रदायिक उपनिषदों की परम्परा में पहली उपनिषद् माना जाता है। कुछ मन्त्रों को छोड़कर सम्पूर्ण उपनिषद् पद्यात्मक हैं। यह छह खण्डों में विभक्त है। प्रारम्भ में प्रश्न किया गया है कि क्या इस जगत् का मुख्य कारण ब्रह्म है? हम किससे उत्पन्न हुए हैं? किससे जीवित हैं? और किसमें हमारी सम्यक् प्रकार से परिणति है? किसके अधीन रहकर हम सुख और दुःख की व्यवस्था में विद्यमान रहते हैं? प्रतिपादित किया गया है कि देवात्मशक्ति ही एक ऐसा तत्त्व है, जिसके द्वारा सृष्टि का निर्माण किया गया है। चक्र और नदी के प्रतीकों द्वारा संसार के प्रपंच को समझाया गया है। अनन्तर भोक्ता, भोग्य तथा प्रेरयिता से युक्त त्रिविध ब्रह्म का प्रतिपादन किया गया है । ओंकार द्वारा साधक किस प्रकार परमात्मा का साक्षात्कार करें - यह भी बताया गया है ।

पंचम अध्याय इस घोषणा से प्रारम्भ होता है कि अनन्त ब्रह्म अक्षर में विद्या और अविद्या निहित हैं। क्षर अविद्या है और अमृत ही विद्या नाम से जाना जाता है। विद्या और अविद्या पर जो शासन करता है - वह इन दोनों से सर्वथा विलक्षण है। अपने प्रतिपाद्य में सांख्य, योग, वेदान्त, भक्ति और शैव तत्त्वों के साम´जस्य के कारण श्वेताश्वतोपनिषद् उपनिषद्-साहित्य में अद्वितीय है ।

इस उपनिषद् का काव्य बहुत ही उत्तम कोटि का है। इसमें कठिन से कठिन विषय को भी सरल ढंग से प्रस्तुत किया गया है और उसके लिए रोचक आख्यानों, साधारण उपमानों और सुन्दर प्रतीकों को आधार बनाया गया है । प्रतीक-योजना इस उपनिषद् की अपनी विशेषता है।

2.3.4 शुक्लयजुर्वेदीय उपनिषदें - सामान्य परिचय

(10) ईशावास्य उपनिषद्

मुक्तिकोपनिषद् में निर्दिष्ट क्रम के अनुसार ईशावास्योपनिषद् उपनिषद्-ग्रन्थों में प्रमुख और अग्रगण्य है। भारतीय परम्परा में उपनिषद्-गणना का जो सामान्य क्रम प्रचलित है, उसमें भी अपने विशेष महत्त्व के कारण इसे प्रथम स्थान पर रखा जाता है। यह उपनिषद् शुक्लयजुर्वेद की काण्व- संहिता और माध्यन्दिन-संहिता के अन्तिम चालीसवें अध्याय के रूप में प्राप्त होती है । दोनों में स्वर, पाठ, क्रम और मन्त्रसंख्या की दृष्टि से भेद है। इस समय शुक्लयजुर्वेदीय काण्वसंहिता का चालीसवां अध्याय ही 'ईशावास्योपनिषद्' के नाम से अधिक प्रसिद्ध है । अधिकांश आचार्यों ने इसी पर भाष्य

एवं टीकाएं लिखी हैं। ईशावास्योपनिषद् एक लघुकाय उपनिषद् है, जिसमें कुल 18 मन्त्र हैं। यह उपनिषद् ही एक मात्र 'मन्त्रोपनिषद्' है, क्योंकि यह संहिता के अन्तर्गत मन्त्रभाग में प्राप्त होती है। छन्दोबद्ध होने से भी इसका यह नाम माना जा सकता है। वाजसनेयिसंहिता की माध्यन्दिन शाखा के भाष्यकार उवट और महीधर तथा काण्वशाखीय पाठ के भाष्यकार आनन्दभट्ट और अनन्ताचार्य ने यजुर्वेद की सर्वानुक्रमणी (36) के आधार पर चालीसवें अध्याय का द्रष्टा 'दध्यङ्ङाथर्वण' ऋषि बताया है, अतः इन्हें ही इस उपनिषद् का प्रणेता माना जाना चाहिए।

वर्ण्यविषय की दृष्टि से ईशोपनिषद् को चार भागों में विभक्त किया जा सकता है- प्रथम भाग में 1-3 सङ्ख्यक मन्त्र, द्वितीय भाग में 4-8 सङ्ख्यक मन्त्र, तृतीय भाग में 9-14 सङ्ख्यक मन्त्र और चतुर्थ भाग में 15-18 सङ्ख्य मन्त्र। जो कुछ अध्यात्मविषयक विशेष वक्तव्य है, वह सूत्ररूप में प्रथम तीन मन्त्रों में कह दिया गया है, अनन्तर उन तथ्यों का ही विस्तार और स्पष्टीकरण किया गया है। प्रथम मन्त्र में सर्वत्र आत्मदृष्टि और त्याग का उपदेश है, तो द्वितीय मन्त्र में मनुष्यत्वाभिमानी के लिए कर्मनिष्ठा का उपदेश है। तृतीय मन्त्र में आत्मज्ञान-शून्य जन की निन्दा की गयी है। आत्मतत्त्व के स्वरूप-विवेचन के अन्तर्गत अगले मन्त्रों में आत्मा की असीम सत्ता, अनन्तरूपता, और सर्वव्यापकता का प्रतिपादन और सर्वात्मभावना का फल बतलाया गया है। विद्या और अविद्या एवं सम्भूति और असम्भूति का उपदेश इस उपनिषद् का मुख्य प्रतिपाद्य है, जिसकी व्याख्या अनेक प्राचीन आचार्यों और आधुनिक विद्वानों ने कर्म और ज्ञान के समन्वय के उपदेश के रूप में की है। शंकराचार्य ने इस उपनिषद् में ज्ञाननिष्ठा और कर्मनिष्ठा का पृथक्तया प्रतिपादन माना है। डॉ० राधाकृष्णन् के अनुसार ब्रह्म और जगत् की एकता का उपदेश इस उपनिषद् का मुख्य विषय है। श्री अरविन्द के मत में न केवल ज्ञान और कर्म, अपितु कई विरोधी विचारों का समन्वय प्रस्तुत करना इस उपनिषद् का प्रमुख सिद्धान्त है। उपनिषद् के अन्तिम चार मन्त्रों में सत्य के साक्षात्कार के इच्छुक मरणोन्मुख उपासक की मार्गयाचना का वर्णन है।

इसकी पद्यरचना और वर्णन-शैली की विशिष्टता है कि उसमें गुण, रीति, अलंकार और ध्वनि के तत्त्व सहज रूप से अन्तर्निहित दिखायी देते हैं।

(11) बृहदारण्यक उपनिषद्

बृहदारण्यकोपनिषद् सर्वाधिक प्रामाणिक, प्राचीन और महत्त्वपूर्ण उपनिषद् है। यह आकार, प्रकार और प्रतिपाद्य विषय की दृष्टि से 'बृहत्' है। यह शुक्लयजुर्वेद से सम्बद्ध है और शतपथ ब्राह्मण का अन्तिम भाग है। शतपथ ब्राह्मण इस समय दो शाखाओं में उपलब्ध होता है - माध्यन्दिन और काण्व। शतपथ ब्राह्मण की दोनों शाखाओं के अन्तिम छह अध्याय 'बृहदारण्यक' या 'बृहदारण्यकोपनिषद्' कहलाते हैं। आरण्यक भाग की अपेक्षा इसमें उपनिषद् भाग अधिक ळें शंकराचार्य के भाष्य के कारण दोनों में से काण्वशाखा की बृहदारण्यकोपनिषद् ही टीकाकारों में अधिक प्रचलित है। यह ब्रह्मविद्या की प्राप्तिरूप प्रयोजन वाली होने से यदि 'उपनिषद्' है, तो अरण्य

में कही जाने के कारण ‘आरण्यक’ है और अन्य उपनिषदों की अपेक्षा आकार में बड़ी (बृहत्) होने से ‘बृहदारण्यक’ है।

इस उपनिषद् के छह अध्यायों में दो-दो अध्यायों के तीन काण्ड हैं, जिनको क्रमशः मधुकाण्ड, याज्ञवल्क्यकाण्ड और खिलकाण्ड कहा जाता है। प्रथम अध्याय (छह ब्राह्मण) में अश्वमेध के अश्व को पुरुष रूप में मानकर उसकी आध्यात्मिक व्याख्या की गयी है। द्वितीय अध्याय (छह ब्राह्मण) के आरम्भ में अभिमानी गार्ग्य तथा शान्तस्वभाव काशिराज अजातशत्रु का संवाद है। काशिराज तत्त्वज्ञ था और गार्ग्य बालाकि दृप्त-ज्ञानाभिमानी। अजातशत्रु द्वारा गार्ग्य के विचारों का प्रत्याख्यान किया गया है। ब्रह्म के मूर्तामूर्त रूपों का यहाँ सांगोपांग वर्णन है। इसी अध्याय के चतुर्थ ब्राह्मण में याज्ञवल्क्य और मैत्रेयी का अति प्रसिद्ध संवाद है। सम्प्रदाय-भेद से यही प्रसङ्ग चतुर्थ अध्याय के पचम ब्राह्मण में पुनः आया है। महर्षि याज्ञवल्क्य के दो पत्नियां थीं - मैत्रेयी और कात्यायनी। मैत्रेयी ब्रह्मवादिनी थी और कात्यायनी स्त्रियों के समान सामान्य बुद्धिवाली। जब याज्ञवल्क्य ने संन्यास की इच्छा की तब अपनी सम्पत्ति दोनों पत्नियों में बांटने का प्रस्ताव किया। कात्यायनी प्रेयःकामिनी थी, अतः उसने कुछ नहीं कहा, परन्तु मैत्रेयी श्रेयः कामिनी थी, अतः उसने कहा - ‘यदि धन से भरी हुई सारी पृथिवी मेरी हो जाए, तो क्या मैं अमर हो जाऊंगी।’ - ‘यन्नु म इयं भगोः सर्वा पृथिवी वित्तेन पूर्णा स्यात् कथं तेनामृता स्यामिति’ (बृह० 2/4/2)। जब याज्ञवल्क्य ने कहा कि धन से अमरता की आशा नहीं की जा सकती है, तब उसने अमरत्व-प्राप्ति के लिए महर्षि से ब्रह्मज्ञान का उपदेश प्राप्त किया। मधुकाण्ड के अन्त में वंशवर्णन है।

तृतीय और चतुर्थ अध्याय याज्ञवल्कीय काण्ड हैं। तृतीय अध्याय (नौ ब्राह्मण) के प्रारम्भ में राजा जनक के बहुत दक्षिणा वाले यज्ञ का प्रसङ्ग है। सभा में नाना ब्रह्मवादी विद्वान् और ब्रह्मवादिनी गार्गी याज्ञवल्क्य से प्रश्न करते हैं, वे सबका उत्तर देकर अन्य लोगों को आमन्त्रित करते हैं। इस अध्याय में महाराज जनक केवल तटस्थ श्रोता हैं। चतुर्थ अध्याय (छह ब्राह्मण) में जनक स्वयं महर्षि याज्ञवल्क्य से प्रश्न करते हैं और महर्षि विराट् का वर्णन करते हुए उस सर्वात्मा का प्रत्यगात्मा में उपसंहार करके परब्रह्म का उपदेश देते हैं। इन अध्यायों का मुख्य विषय आत्मज्ञान है। इस काण्ड का अन्त वंशपरम्परा के वर्णन से हुआ है।

पंचम और षष्ठ अध्याय ‘खिलकाण्ड’ कहलाते हैं। सम्भव है ये मूल लेखक की रचना न होकर उत्तरकालीन शिष्यादि की रचना हों। पंचम अध्याय (पन्द्रह ब्राह्मण) में कई प्रकार की उपासनाओं का वर्णन है। आरम्भ में प्रजापति के एक अक्षर ‘द’ के उपदेश को देव, असुर और मनुष्यों द्वारा क्रमशः अपनी-अपनी प्रकृति के अनुसार दमन, दया, और दान के अर्थ में ग्रहण करने का रोचक आख्यान है।

षष्ठ अध्याय (पांच ब्राह्मण) के प्रथम ब्राह्मण में इन्द्रियों के विवाद द्वारा प्राण की उत्कृष्टता दिखायी गयी है और द्वितीय ब्राह्मण में श्वेतकेतु और प्रवाहण का दार्शनिक संवाद है। इस प्रकार इस उपनिषद् में अनेक दार्शनिक और व्यावहारिक सिद्धान्तों के तत्त्व प्राप्त होते हैं।

वृहदारण्यकोपनिषद् पूर्णरूपेण विकसित गद्य में निबद्ध है। इसमें कई वर्णन-शैलियों का आश्रय लिया गया है। याज्ञवल्क्य-मैत्रेयी, याज्ञवल्क्य-उषस्ति, याज्ञवल्क्य-कहोल, याज्ञवल्क्य-भुज्यु, याज्ञवल्क्य - विदग्ध तथा याज्ञवल्क्य - आर्तभाग आदि संवाद संवादात्मक शैली में हैं, तो दृष्टान्त, उपमा, निर्वचन, स्वगत भाषण, प्रश्नोत्तर आदि प्रणालियों को भी यत्र तत्र अपनाया गया है। इसमें अकसर अध्यात्म विषयों की काव्यात्मक प्रस्तुति है । आख्यानों और रोचक प्रसङ्गों द्वारा भारतीय जनजीवन पर इस उपनिषद् से प्रकाश पड़ता है ।

2.3.5 अथर्ववेदीय उपनिषदें - सामान्य परिचय

(12) प्रश्न उपनिषद्

अथर्ववेदीय पैप्पलाद शाखा के ब्राह्मण ग्रन्थ का एक भाग प्रश्नोपनिषद् है । इस उपनिषद् के प्रवक्ता पैप्पलाद संहिता के प्रवर्तक ऋषि पिप्पलाद हैं । यह उपनिषद् छह भागों में विभाजित है । इन भागों को 'प्रश्न' कहते हैं । उपनिषद् मुख्यतः गद्यात्मक है । किन्तु इसमें पद्य का सर्वथा अभाव नहीं है। इसमें छह ऋषि ब्रह्मविद्या की खोज में महर्षि पिप्पलाद के समीप जाते हैं और उनसे अध्यात्म विषयक प्रश्नों का उत्तर पूछते हैं । प्रश्नों के उत्तर के रूप में निबद्ध होने से इसका 'प्रश्न' उपनिषद् नाम सर्वथा सार्थक है। प्रश्नों का विषय अध्यात्म जगत् की मान्य समस्याएं हैं, जिनके समीक्षण के कारण ऋषि पिप्पलाद एक उदात्त तत्त्वज्ञानी के रूप में हमारे सामने आते हैं ।

ऋषि पिप्पलाद के पास भरद्वाजपुत्र सुकेशा, शिविकुमार सत्यकाम, गर्ग गोत्र में उत्पन्न सौर्यायणी, कोसलदेशीय आश्वलायन, विदर्भनिवासी भार्गव और कत्य ऋषि का प्रपौत्र कबन्धी - ये छह ऋषि हाथ में समिधा लेकर ब्रह्मजिज्ञासा से पहुंचे। ऋषि की आज्ञानुसार उन सबने एक वर्ष तक श्रद्धा, ब्रह्मचर्य और तपस्या के साथ विधिपूर्वक वहाँ निवास किया। अनन्तर एक-एक करके प्रत्येक ऋषि ने अत्यन्त श्रद्धाभाव से महर्षि से प्रश्न पूछा और ऋषि पिप्पलाद ने उन प्रश्नों का एक-एक करके उत्तर दिया । प्रश्नोपनिषद् के प्रथम प्रश्न में कात्यायन कबन्धी का प्रश्न है - 'किस कारण विशेष से यह सम्पूर्ण प्रजा नाना रूपों में उत्पन्न होती है?' महर्षि पिप्पलाद ने उत्तर में परमात्मा से हुई सृष्टि की विवेचना की ।

उपनिषद् के द्वितीय प्रश्न में वैदर्भि भार्गव का प्रश्न है - 'कुल कितने देवता प्रजा को धारण करते हैं? उनमें से कौन कौन इसे प्रकाशित करते हैं? इन सबमें कौन सर्वश्रेष्ठ है?' महर्षि ने बताया प्रसिद्ध आकाश और दूसरे वायु आदि चारों महाभूतों से स्थूल शरीर बना है, इसलिए ये धारक देवता हैं । पांचों कर्मेन्द्रियां, पांचों ज्ञानेन्द्रियां और मन आदि चार अन्तःकरण - ये चौदह देवता शरीर के प्रकाशक देवता हैं ।

तृतीय प्रश्न में कौशल्य आश्वलायन ने प्राणविषयक छह जिज्ञासाएं की, जैसे - प्राण किससे उत्पन्न होता है? वह मनुष्य शरीर में कैसे प्रवेश करता है? अपने को विभाजित करके किस प्रकार शरीर में स्थित रहता है? दूसरे शरीर में जाते समय पहले शरीर से कैसे निकलता है? इत्यादि। महर्षि ने उत्तर में

विस्तार से प्राण विषयक ज्ञान और उसके फल की विवेचना की गयी है। चतुर्थ प्रश्न में गार्ग्य सौर्यायणी ने निद्रा, जागरण और स्वप्न से सम्बद्ध प्रश्न पूछे हैं, जैसे निद्रा के समय मनुष्य-शरीर में कौन-कौन से देवता सोते हैं? कौन-कौन से जागते हैं? स्वप्नावस्था में कौन देवता स्वप्न देखता है? निद्रासुख का अनुभव किसे होता है? इत्यादि। महर्षि ने प्रतिपादित किया है कि निद्रा के समय दसों इन्द्रिय रूप देवता परमदेव मन में विलीन हो तद्रूप हो जाते हैं। उस समय पांच प्राण रूप अग्नियां ही जागती रहती हैं। निद्राजनित सुख का अनुभव जीवात्मा को ही होता है। पंचम प्रश्न में शैव्य सत्यकाम ने ओंकार की उपासना और इससे होने वाले लोकों की प्राप्ति के सम्बन्ध में प्रश्न किया। महर्षि ने स्पष्ट किया कि ओंकार ही परब्रह्म और अपरब्रह्म है। षष्ठ प्रश्न में भारद्वाज सुकेशा ने जिज्ञासा की है कि षोडशकला सम्पन्न पुरुष (षोडशकलं पुरुषम्) कहाँ है और उसका क्या स्वरूप है? महर्षि पिप्पलाद ने उत्तर में समझाया कि सोलह कलाएं जिनसे प्रकट होती हैं, वह पुरुष रूप परब्रह्म तो यहाँ इस शरीर के भीतर ही विराजमान है।

इस प्रकार प्रश्नोपनिषद् में परब्रह्म, ओंकार, सृष्टिक्रम, प्राण, जीवन आदि से सम्बद्ध तत्त्वों की मीमांसा की गयी है और अक्षर ब्रह्म को ही जगत् की प्रतिष्ठा बताया गया है।

(13) मुण्डक उपनिषद्

मुण्डकोपनिषद् अथर्ववेद की शौनक शाखा से सम्बद्ध है। यह उपनिषद् मुख्य रूप से तीन भागों में विभाजित है। इन भागों को 'मुण्डक' कहा गया है। प्रत्येक मुण्डक में दो-दो खण्ड हैं। सम्पूर्ण उपनिषद् में कुछ 64 मन्त्र हैं। कुछ अपवादों को छोड़कर प्रधानतया यह उपनिषद् छन्दोबद्ध है। इसे 'मन्त्रोपनिषद्' भी कहा गया है क्योंकि यह मन्त्र रूप में है। उपनिषद् के 'मुण्डक' नाम की व्याख्या कई तरह से की गयी है। इस उपनिषद् में प्रतिपादित उपदेश और सिद्धान्त छुरी के समान तीक्ष्ण हैं, जो व्यक्ति उनका ग्रहण कर लेता है, उसका मुण्डन हो जाता है अर्थात् वह समस्त अज्ञान और अविद्या से मुक्त हो जाता है। दूसरी व्याख्या के अनुसार यह उपनिषद् मुण्डकों के लिये निर्मित है। 'मुण्डक' का लाक्षणिक अर्थ संन्यासी से है। संन्यासी का शिरोमुण्डन उसके सर्वत्याग का संसूचक है। केशरूप अज्ञान के निराकरण से मनुष्य ब्रह्मज्ञान के योग्य होता है। अतः मुण्डकोपनिषद् उन शिरोमुण्डन सम्पन्न संन्यासियों को लक्ष्य करके रची गयी है, जो राग-द्वेष आदि से मुक्त है और ब्रह्मविद्या की प्राप्ति के प्रति निष्ठावान् हैं। अथर्ववेदीय उपनिषदों में मूर्धन्य या शीर्षस्थानीय (मुण्डभूत) होने से भी इसका नाम 'मुण्डकोपनिषद्' है।

मुण्डकोपनिषद् के प्रारम्भ में ग्रन्थोक्त विद्या की आचार्य-परम्परा का वर्णन है। बताया गया है कि यह विद्या ब्रह्मा से ऋषि अथर्वा को प्राप्त हुई और फिर अथर्वा से क्रमशः अङ्गी, भारद्वाज और अङ्गिरा ऋषि को प्राप्त हुई। अङ्गिरा ऋषि ने अधिकारी शिष्य जानकर महागृहस्थ शौनक को उनके प्रश्न के उत्तर में इस उपनिषद् का उपदेश दिया। उनका प्रश्न है - 'कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवतीति' (1/1/3) अर्थात् ''हे भगवन्! निश्चय से किसके जान लिए जाने पर यह सब कुछ विशेष

रूप से ज्ञात हो जाता है।'' मुण्डकोपनिषद् का प्रतिपाद्य विषय व्यवस्थित, गम्भीर और उत्कृष्ट है। इसमें मुख्य रूप से ब्रह्म के स्वरूप और इसकी प्राप्ति के साधनों का विवेचन है। इसमें याज्ञिक कर्मकाण्ड की महत्ता और ज्ञान की अपेक्षा उसकी हीनता भी बतायी गयी है।

प्रथम मुण्डक में अपरा विद्या और परा विद्या के स्वरूप और फल का वर्णन है। द्वितीय मुण्डक में परा विद्या के विषय 'ब्रह्म' का वर्णन है और उसके ज्ञान के साधनों का उल्लेख है। ज्ञान के साधनों में 'प्रणव' का सर्वाधिक महत्त्व है। प्रणव का अवलम्बन करके आत्मा और ब्रह्म के ऐक्य पर चित्त का समाधान करना चाहिए। तृतीय मुण्डक में मुख्यतः आत्मज्ञान के साधनों के विस्तृत निरूपण के अन्तर्गत सत्य की महिमा गायी गयी है और ब्रह्मज्ञान के फल रूप में 'मुक्ति' की चर्चा है।

वेदान्त-सूत्र के रचयिता भगवान् वादरायण व्यास ने अपने सूत्रों में मुण्डकोपनिषद् के एक मन्त्र (1/1/6) पर एक सूत्र (1/2/21) से विचार किया है, जिससे इस उपनिषद् की प्रामाणिकता व्यक्त होती है। मुण्डकोपनिषद् का प्रश्न, कठ और श्वेताश्वतर उपनिषदों से कई स्तरों पर निकट का सम्बन्ध दिखायी देता है ।

इस उपनिषद् की वर्णन-शैली अत्यन्त उदात्त, हृदयहारिणी और स्पष्ट है । इसकी भाषा सरल है, यद्यपि उसमें कई छान्दस प्रयोग भी हैं। सुन्दर उपमाओं और दृष्टान्तों की छटा इसमें दिखायी देती है। तत्त्वज्ञान के प्रतिपादन का प्रारम्भ संवादपद्धति के माध्यम से किया गया है। इस उपनिषद् में सांख्य दर्शन के कई तथ्यों के संकेत उपलब्ध होते हैं। श्रीमद्भगवद्गीता पर मुण्डकोपनिषद् का विशेष प्रभाव माना जाता है।

(14) माण्डूक्य उपनिषद्

माण्डूक्योपनिषद् अथर्ववेद की शौनक शाखा से सम्बद्ध है। इसमें केवल 12 खण्ड या वाक्य हैं। आकार की दृष्टि से यह एक छोटा उपनिषद् ग्रन्थ है, परन्तु वर्ण्यविषय की दृष्टि से अत्यन्त महनीय है। इसकी प्रसिद्धि का प्रमाण गौड़पाद द्वारा लिखी 'माण्डूक्यकारिका' है। इसे सभी उपनिषदों में सर्वश्रेष्ठ बताते हुए मुक्तिकोपनिषद् (1/26-27) में लिखा है कि माण्डूक्य ही मुमुक्षुओं के लिए पर्याप्त है, यदि उससे ज्ञान की प्राप्ति न हो, तब दस उपनिषदों को पढ़ना चाहिए ।

माण्डूक्योपनिषद् में ओंकार की मार्मिक व्याख्या की गयी है । प्रथम मन्त्र में ब्रह्म के नाम ओम् की अपार महिमा गाते हुए उसे परब्रह्म से अभिन्न माना गया है । 'सर्वमोङ्कार एव,' अर्थात् 'ओम्' यह अक्षर अविनाशी पूर्ण ब्रह्म है। यह दृश्यमान् सम्पूर्ण जगत् उसका ही उपव्याख्यान है। भूत, वर्तमान और भविष्यत् जगत् सबका सब ओंकार ही है, जो कुछ त्रिकालातीत है, वह भी वही है।' परब्रह्म के समग्र रूप के स्पष्टीकरण के लिए उसके चार पादों की कल्पना भी की गयी है। नाम और नामी को एकता का प्रतिपादन करने के लिए ओम् की अ, उ और म्-इन तीनों मात्राओं के साथ और मात्रारहित उसके अव्यक्त रूप के साथ परब्रह्म के एक-एक पाद की समता दिखलायी गयी है। चैतन्य की चार अवस्थाएं होती हैं - जागरित, स्वप्न, सुषुप्ति और अव्यवहार्य चतुर्थ दशा। इन का आधिपत्य

धारण करने वाला परमात्मा भी क्रमशः चार प्रकार का होता है - वैश्वानर, तैजस, प्राज्ञ तथा प्रप´चोपशम शिव। ओंकार की पहली मात्रा 'अ' ही पूर्ण ब्रह्म परमात्मा का जागरित स्थान 'वैश्वानर' नामक प्रथम पाद है। ओंकार की दूसरी मात्रा 'उ' ब्रह्म का स्वप्नस्थान 'तैजस' नामक द्वितीय पाद है। ओंकार की तीसरी मात्रा 'म्' ब्रह्म का सुषुप्तस्थान 'प्राज्ञ' नामक तीसरा पाद है और मात्रारहित 'अमात्र' ओंकार ही अव्यवहार्य प्रप´चोपशम शिव नामक पूर्ण ब्रह्म का चतुर्थ पाद है। इस प्रकार इस उपनिषद् में केवल नाम और नामी की सब प्रकार की एकता ही नहीं दिखायी गयी है, अपितु साथ ही ब्रह्म के स्थूल, सूक्ष्म और कारण - इन तीनों सगुण रूपों और निर्गुण निराकार निर्विशेष रूप की भी एकता प्रतिष्ठित की गयी है।

यह उपनिषद् गद्यात्मक है। इसमें प्रयुक्त भाषा और लौकिक संस्कृत प्रयोगों की छटा इसे अपेक्षाकृत बाद का सिद्ध करती है।

बोधप्रश्न

1. प्रमुख और प्रामाणिक उपनिषदों की संख्या कितनी हैं?
2. मुक्तिकोपनिषद् में गिनाये गये उपनिषदों के नाम बताये?
3. मुक्तिकोपनिषद् में उक्त दस उपनिषदों के अतिरिक्त अन्य चार प्रमुख उपनिषद् कौन से है?
4. ऋग्वेदीय उपनिषदों के नाम बताये।
5. ऐतरेय उपनिषद् के प्रणेता आचार्य कौन हैं?
6. 'प्रज्ञान ब्रह्म' की चर्चा किस उपनिषद् में है?
7. कुषीतक ऋषि द्वारा प्रणीत उपनिषद् का क्या नाम है?
8. मेष रूप में इन्द्र ने किस उपनिषद् में आत्मतत्त्व का विवेचन किया है?
9. सामवेद से सम्बद्ध प्रमुख उपनिषद् कौन से हैं?
10. छान्दोग्य उपनिषद् किस ब्राह्मण ग्रन्थ के अन्तर्गत प्राप्त होता है?
11. यक्षोपाख्यान किस उपनिषद् में प्राप्त होता हैं?
12. कृष्णयजुर्वेद के प्रमुख चार उपनिषदों के नाम बताइये।
13. तैत्तिरीय उपनिषद् में कितनी वल्ली हैं और आचार्य का शिष्य के लिए 'अनुशासन' किस वल्ली में प्राप्त होता है?
14. राजा बृहद्रथ और मुनि शाकायन्य के प्रसङ्ग से किस उपनिषद् का प्रारम्भ होता है?
15. कठोपनिषद् में बालक नचिकेता ने तीसरे वर के रूप में यमाचार्य से क्या मांगा?
16. किस उपनिषद् का सम्बन्ध रुद्र-शिव से है ?
17. 'मन्त्रोपनिषद्' किस उपनिषद् को कहते हैं ?
18. सबसे बड़ा उपनिषद् कौन सा है ?
19. याज्ञवल्क्य-मैत्रेयी-संवाद किस उपनिषद् में प्राप्त होता है ?
20. ऋषि पिप्पलाद से सम्बद्ध उपनिषद् का क्या नाम है ?

21. प्रश्नोपनिषद् में कितने ऋषियों ने ऋषि पिप्पलाद से प्रश्न किया है ?
22. आचार्य गौडपाद ने 'माण्डूक्यकारिका' किस उपनिषद् के आधार पर लिखी है ?
23. प्रमुख चौदह उपनिषदों में सबसे छोटा उपनिषद् कौन सा है और क्यों ?

2.4 सारांश

1. उपनिषदों की संख्या 200 से लेकर 108 तक बतायी जाती है, परन्तु प्रामाणिक और प्रमुख उपनिषदों के रूप में चौदह उपनिषदों को ही लिया जाता है।

2. ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, तैत्तिरीय, ऐतरेय, छान्दोग्य और बृहदारण्यक - ये दस उपनिषदें मुक्तिकोपनिषद् में गिनायी गयी हैं। इन्हीं पर आचार्य शंकर ने भाष्य लिखा है। इसके अतिरिक्त कुछ विद्वान् श्वेताश्वतर उपनिषद् के भाष्य को भी आचार्य शंकर द्वारा लिखित मानते हैं। कौषीतकि और मैत्रायणीय उपनिषद् की चर्चा उनके ब्रह्मसूत्र भाष्य में आई है। हाल में प्राप्त वाष्कल उपनिषद् भी वेदान्तपरक उपनिषदों में रखने योग्य है। इस प्रकार प्रमुख उपनिषद् चौदह तक स्वीकार्य हैं।

3. प्रमुख चौदह उपनिषदों को वेद और उनकी शाखा के अनुसार समझा जाना चाहिए। इस दृष्टि से पांच वैदिक संहिताओं और उनकी बारह शाखाओं के अन्तर्गत इन चौदह उपनिषदों को रखा जाता है।

4. ऋग्वेदीय उपनिषदें तीन हैं - ऐतरेय, कौषीतकि और वाष्कल। ऐतरेय उपनिषद् के ऋषि ऐतरेय हैं। इसमें ब्रह्म से सृष्टि-उत्पत्ति का वर्णन किया गया है और ब्रह्म को 'प्रज्ञान' कहा गया है। कौषीतकि उपनिषद् के उपदेष्टा, ऋषि कुषीतक है। यह उपनिषद् गद्यमय है और इसमें चार अध्याय हैं। वाष्कल उपनिषद् में मेष रूप में इन्द्र ने मेधातिथि को आत्मतत्त्व का प्रतिपादन किया है।

5. सामवेद के दो प्रमुख उपनिषद्-ग्रन्थ हैं। कौथुम शाखा का छान्दोग्य उपनिषद् और जैमिनीय शाखा का केनोपनिषद्। छान्दोग्य उपनिषद् छान्दोग्य ब्राह्मण का ही भाग है और यह गद्यात्मक है। इसमें सामोपासना, उद्गीथ, मधुविद्या आदि का वर्णन हैं। 'सर्वं खलु इदं ब्रह्म' प्रसिद्ध महावाक्य यही प्राप्त होता है। राजा जानश्रुति और रैक्व की कथा, सत्यकाम जाबाल की कथा, श्वेतकेतु का वृत्तान्त, सनत्कुमार और नारद का संवाद आदि कई प्रसिद्ध प्रसंग इस उपनिषद् में प्राप्त हैं, जिनसे दार्शनिक विषयों को सरल तरह से समझाया गया है। सामवेद के ही उपनिषद् 'केन' में चार खण्ड हैं। पहले और दूसरे खण्ड में ब्रह्म के पारमार्थिक स्वरूप का वर्णन है तो तीसरे और चौथे खण्ड में यक्षोपाख्यान द्वारा ब्रह्म के सर्वप्रेरक स्वरूप को एक रूपक द्वारा स्पष्ट किया गया है।

6. कृष्णयजुर्वेद की उपलब्ध चार शाखाओं के चार प्रमुख उपनिषद् प्राप्त होते हैं - तैत्तिरीय शाखा का तैत्तिरीय उपनिषद्, मैत्रायणी शाखा का मैत्रायणी उपनिषद्, कठ शाखा का कठ उपनिषद्, और

श्वेताश्वतर शाखा का श्वेताश्वतर उपनिषद् । तैत्तिरीय उपनिषद् तैत्तिरीयारण्यक का भाग है। इसमें तीन वल्ली हैं - शिक्षावल्ली, ब्रह्मानन्दवल्ली और भृगुवल्ली । शिक्षावल्ली में आचार्य द्वारा शिष्य को महत्त्वपूर्ण अनुशासन दिया गया है। मैत्रायणी उपनिषद् का मुख्य विषय आत्मविद्या है इसमें राजा

बृहद्रथ और मुनि शाकायन्य के संवाद को माध्यम बनाया गया है। इसमें साङ्ख्य और योग के सिद्धान्तों की झलक मिलती है। कठोपनिषद् के प्रारम्भ में यम और बालक नचिकेता की प्रसिद्ध कथा है। तीसरे वर के रूप में नचिकेता ने आचार्य यम से आत्मज्ञान का उपदेश चाहा है। वैराग्य की परीक्षा करने के बाद यमाचार्य ने बालक को आत्मज्ञान का उपदेश दिया। इसके कई मन्त्र कुछ भिन्न रूप में गीता में मिलते हैं। श्वेताश्वतर उपनिषद् के प्रणेता ऋषि श्वेताश्वतर हैं । इस उपनिषद् का सम्बन्ध रुद्र-शिव से है और इसमें कुछ दूसरे दर्शनों के सिद्धान्त बीजरूप में प्राप्त होते हैं ।

7. शुक्ल यजुर्वेद की दोनों शाखाओं-काण्व और माध्यन्दिन के दो प्रमुख उपनिषद् प्राप्त होते हैं - ईशावास्य उपनिषद् और बृहदारण्यक उपनिषद्। शाखाभेद से दोनों के स्वरूप में कुछ भेद दिखता है, पर काण्व शाखा का ईशावास्य उपनिषद् अधिक प्रचलित है। यजुर्वेदसंहिता का भाग होने से इसे मंत्रोपनिषद् भी कहते हैं । इसमें आत्मा की एकता, कर्मनिष्ठा और उपासनाओं के समुच्चय पर बल दिया गया है । बृहदारण्यक उपनिषद् तो शतपथ ब्राह्मण का ही भाग है पर उपनिषद् रूप में यह सबसे बड़ा उपनिषद् ग्रन्थ है । इसमें अनेक प्रसिद्ध संवाद प्राप्त होते हैं, जैसे याज्ञवल्क्य - मैत्रेयी, याज्ञवल्क्य-उषस्ति आदि के संवाद ।

8. अथर्ववेद की तीन प्रमुख उपनिषदें हैं - पैप्पलाद शाखा का प्रश्नोपनिषद् और शौनक शाखा का मुण्डकोपनिषद् और माण्डूक्योपनिषद्। प्रश्नोपनिषद् में छह ऋषियों ने ब्रह्मविद्या की जिज्ञासा से ऋषि पिप्पलाद से प्रश्न किये हैं और ऋषि ने उत्तर में अध्यात्म के गहन विषय पर प्रवचन किया है। मुण्डकोपनिषद् में तीन भाग हैं जिनको 'मुण्डक' कहते हैं। इसमें अङ्गिरा ऋषि ने महागृहस्थ शौनक को आत्मविद्या का उपदेश दिया है। जिससे अक्षरब्रह्म का ज्ञान हो सके उस विद्या में 'परा' विद्या कहा गया है । 'अपरा' विद्या का चरम फल स्वर्ग की प्राप्ति बताया गया है। माण्डूक्य उपनिषद् सबसे छोटा उपनिषद् है पर इस पर लिखी गयी 'माण्डूक्य कारिका' के कारण वेदान्त दर्शन में इसके विशेष महत्त्व को स्वीकार किया जाता है।

2.5 शब्दावली

प्रामाणिक-उपनिषद्, मुक्तिकोपनिषद्, वाष्कल, ह्यूम, शंकर, वेदशाखा, ऐतरेय, कौषीतकि, प्रज्ञान, कुषीतक, डायसन, मेषरूप इन्द्र, कौथुम, जैमिनीय, छान्दोग्य, प्रपाठक, उद्गीथ, सामोपासना, जानश्रुति, रैक्व, जाबाल, श्वेतकेतु, सनत्कुमार, केन, यक्षोपाख्यान, तैत्तिरीय, शिक्षावल्ली, अनुशासन, मैत्रायणी, शाकायन्य, यमाचार्य, कठ, नचिकेता, अग्निविद्या, आत्मारूपी रथी, श्वेताश्वतर, रुद्र-शिव, बृहदारण्यक, मन्त्रोपनिषद्, ईशावास्य, याज्ञवल्क्य, मैत्रेयी, प्रश्नोपनिषद्,

पैप्पलाद, प्रश्न, पिप्पलाद, मुण्डक, अथर्वा, शौनक, प्रणव, परा, अपरा, माण्डूक्य, ओम्, माण्डूक्यकारिका।

2.6 बोधप्रश्नों के उत्तर

1. प्रमुख और प्रामाणिक उपनिषदों की संख्या चौदह तक स्वीकार्य है।

2 मुक्तिकोपनिषद् में गिनाये गये दस उपनिषदों के नाम हैं - ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, तैत्तिरीय ऐतरेय, छान्दोग्य और बृहदारण्यक।

3. मुक्तिकोपनिषद् में गिनाये गये दस उपनिषदों के अतिरिक्त श्वेताश्वतर, मैत्रायणीय, कौषीतकि और वाष्कल उपनिषदों को भी प्रमुख उपनिषदों में रखा जाता है।

4. ऋग्वेदीय उपनिषदें हैं - ऐतरेय, कौषीतकि, वाष्कल।

5. ऐतरेय उपनिषद् के प्रणेता ऋषि ऐतरेय महिदास है।

6. 'प्रज्ञान ब्रह्म' की चर्चा ऐतरेय उपनिषद् में है।

7. कुषीतक ऋषि-प्रणीत उपनिषद् का नाम कौषीतकि उपनिषद् है।

8. मेष रूप में इन्द्र ने मेधातिथि के लिए आत्मतत्त्व का विवेचन वाष्कल उपनिषद् में किया है।

9. सामवेद से सम्बद्ध प्रमुख उपनिषद दो हैं - छान्दोग्य और केन।

10. छान्दोग्य उपनिषद् छान्दोग्य ब्राह्मण का ही एक भाग है।

11. यक्षोपाख्यान केन उपनिषद् में प्राप्त होता है।

12. कृष्णयजुर्वेद के प्रमुख चार उपनिषद् हैं -
तैत्तिरीय, मैत्रायणी, कठ और श्वेताश्वतर।

13. तैत्तिरीय उपनिषद् में तीन वल्ली हैं। आचार्य का 'अनुशासन' शिक्षावल्ली में प्राप्त होता है।

14. राजा बृहद्रथ और मुनि शाकायन्य के प्रसङ्ग से मैत्रायणी उपनिषद् का प्रारम्भ होता है।

15. कठोपनिषद् में नचिकेता ने तीसरे वर के रूप में यमाचार्य से आत्मज्ञान मांगा।

16. श्वेताश्वतर उपनिषद् का सम्बन्ध रुद्र-शिव से है।

17. ईशावास्य-उपनिषद् (ईशोपनिषद्) को 'मन्त्रोपनिषद्' भी कहते हैं।

18. आकार में सबसे बड़ा उपनिषद् बृहदारण्यक उपनिषद् है।

19. याज्ञवल्क्य-मैत्रेयी-संवाद बृहदारण्यक उपनिषद् में प्राप्त होता है।

20. ऋषि पिप्पलाद से सम्बद्ध उपनिषद् का नाम प्रश्नोपनिषद् है।

21. प्रश्नोपनिषद् में छह ऋषियों ने ऋषि पिप्पलाद से प्रश्न किये हैं।

22. आचार्य गौड़पाद ने माण्डूक्य उपनिषद् के आधार पर 'माण्डूक्यकारिका' लिखी है।

23. प्रमुख चौदह उपनिषदों में माण्डूक्य उपनिषद् सबसे छोटा है क्योंकि इसमें केवल बारह वाक्य (खण्ड) हैं।

2.7 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. उपनिषत्सङ्ग्रहः, (108 उपनिषदों का संग्रह), सं० - पण्डित जगदीश शास्त्री, मोतीलाल बनारसी दास, 1984 ई०।

2. संस्कृत वाङ्मय का बृहत् इतिहास, प्रथम खण्ड - वेद, प्रधान सम्पादक - आचार्य बलदेव उपाध्याय, (पंचदश अध्याय - उपनिषद्-साहित्य द्वारा डॉ० शशि तिवारी) उत्तर प्रदेश संस्कृत संस्थान, लखनऊ, 1996 ई०।

3. वैदिक साहित्य एवं संस्कृति, डॉ० कपिल देव द्विवेदी, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, 2000 ई०।

4. वैदिक साहित्य का इतिहास, डॉ० पारसनाथ द्विवेदी, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली, 2000 ई०।

2.8 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. उपनिषत्सङ्ग्रहः, (108 उपनिषदों का संग्रह), सं० - पण्डित जगदीश, मोतीलाल बनारसी दास, 1984 ई०।

2. संस्कृत वाङ्मय का बृहत् इतिहास, प्रथम खण्ड - वेद, प्रधान सम्पादक - आचार्य बलदेव उपाध्याय, (पंचदश अध्याय - उपनिषद्-साहित्य द्वारा डॉ० शशि तिवारी) उत्तर प्रदेश संस्कृत संस्थान, लखनऊ, 1996 ई०।

3. वैदिक साहित्य एवं संस्कृति, डॉ० कपिल देव द्विवेदी, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, 2000 ई०।

4. वैदिक साहित्य का इतिहास, डॉ० पारसनाथ द्विवेदी, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली, 2000 ई०।

2.9 निबन्धात्मक प्रश्न

1 .प्रमुख उपनिषदों पर एक निबन्ध लिखिए।

2. यजुर्वेदीय उपनिषदों की विवेचना कीजिए।

3. सामवेदीय उपनिषदों पर प्रकाश डालिए।

इकाई 3: भारतीय दर्शन में उपनिषदों का योगदान

इकाई की रूपरेखा

3.1 उद्देश्य
3.1 प्रस्तावना
3.2 विषय प्रवेश
3.3 वेदान्तदर्शन के विविध सिद्धान्तों के उद्भव और विकास में उपनिषदों का योगदान
 3.3.1 आत्मज्ञान का महत्त्व
 3.3.2 अद्वैतवाद
 3.3.3 द्वैतवाद और अद्वैतवाद
 3.3.4 जीवन का लक्ष्य-मोक्ष
 3.3.5 कर्मकाण्ड की हीनता
 3.3.6 उपासना और भक्तिमार्ग
 3.3.7 कर्मफल और पुनर्जन्म
 3.3.8 सृष्टि-उत्पत्ति
 3.3.9 प्राणविद्या
 3.3.10 नैतिकता और अनुशासन
3.4 दूसरी प्रमुख दर्शनधाराओं के विकास में उपनिषदों का योगदान
 3.4.1 साङ्ख्यदर्शन पर प्रभाव
 3.4.2 योगदर्शन पर प्रभाव
 3.4.3 शैव दर्शन पर प्रभाव
5. सारांश
6. बोधप्रश्न
7. शब्दावली
9. बोधप्रश्नों के उत्तर
8. उपयोगी पुस्तकें

3.1 प्रस्तावना

भारतीय दर्शन-परम्परा की आस्तिक धारा के छह दर्शन हैं: वेदान्त, योग, साङ्ख्य, वैशेषिक, न्याय और मीमांसा। ये सभी वेद को परम प्रमाण मानते हैं और उपनिषदों के दर्शन से भी अपने सिद्धान्तों की पुष्टि करते हैं। उपनिषदों में दर्शन के मुख्य तत्त्व- ईश्वर, जीव, प्रकृति, सृष्टि-उत्पत्ति, जन्म, मृत्यु, पुनर्जन्म, मोक्ष, स्वर्ग, नरक आदि पर ब्रह्मविद्या के अन्तर्गत विचार किया गया है और यही आस्तिक दर्शनों के भी विचारणीय विषय हैं । 'अनन्तार्था हि वेदाः' अर्थात् 'वैदिक मन्त्रों के अनन्त अर्थ निकल सकते हैं' - के अनुसार दार्शनिक आचार्य अपने-अपने दृष्टिकोण से वेदार्थ को ग्रहण करते हैं। यही उनके सैद्धान्तिक भेदों का कारण होता है। फिर भी ध्यातव्य है कि सभी दर्शन वेद और उपनिषद् को प्रामाणिक मानकर उसके प्रसङ्गों का यथास्थान ग्रहण करते हैं।

3.2 उद्देश्य

इस इकाई में भारतीय दर्शन के विकास में उपनिषदों के योगदान के अध्ययन के बाद आप-

- उपनिषदों के वर्ण्यविषय का दर्शन के सम्बन्ध में विश्लेषण कर सकेंगे।
- जान सकेंगे कि वेदान्त दर्शन के अद्वैतवाद का मूल आधार उपनिषद् हैं।
- वेदान्त दर्शन के द्वैत मत के आधार के रूप में कुछ मन्त्रों को जान पाएंगे।
- दर्शनों में आत्मज्ञान की महिमा का कारण समझ पायेंगे।
- मोक्ष-प्राप्ति के उपनिषदों में वर्णित दार्शनिक स्वरूप की जानकारी पा सकेंगे।
- कर्म-सिद्धान्त और पुनर्जन्म के दार्शनिक आधार के रूप में उपनिषदों का परिचय पा सकेंगे।
- अध्यात्म-पथ में नैतिकता की भूमिका पर उपनिषदों की दृष्टि से विचार कर पायेंगे।
- साङ्ख्यदर्शन के विकास में श्वेताश्वतर आदि उपनिषदों के योगदान का परिचय पा सकेंगे।
- योगदर्शन के विकास में कठ आदि उपनिषदों के योगदान का परिचय पा सकेंगे।
- शैव दर्शन के मूल स्वरूप को श्वेताश्वतर उपनिषद् में देख सकेंगे।

3.2 विषयप्रवेश

वेदान्त दर्शन और उसके अद्वैत, द्वैत, विशिष्टाद्वैत, भेदाभेद आदि सम्प्रदाय उपनिषदों से ही निकले हैं, इसलिए उपनिषद् के 'वेदान्त' नाम से ही इस दर्शन को जाना जाता है। यहाँ वेदान्त दर्शन के विविध प्रमुख दार्शनिक सिद्धान्तों के उद्भव में उपनिषदों के योगदान पर विचार किया जाएगा। साङ्ख्यदर्शन चेतन परमात्मा को 'पुरुष' और सृष्टि के मूल उपादान कारण अचेतन प्रधान को 'प्रकृति' कहता है।

श्वेताश्वतर उपनिषद् में प्रकृति की चर्चा है । योगदर्शन ने जीवात्मा की मोक्ष-उपलब्धि का एकमात्र उपाय 'योग' माना है। योगदर्शन के इस प्रमुख सिद्धान्त को कठोपनिषद् में देख सकते हैं। इसी प्रकार उत्तर काल में विकसित शैव दर्शन के प्रमुख तत्त्व भी श्वेताश्वतर उपनिषद में प्राप्त होते हैं। प्रमुख उपनिषदों के प्रतिपाद्य को आधार बनाकर इन तीन दर्शनों पर उपनिषदों के प्रभाव का यहाँ विश्लेषण किया जाएगा ।

प्रथम इकाई में 108 उपनिषदों के विषयानुसार वर्गीकरण में दिखाया जा चुका है कि किस प्रकार प्रमुख उपनिषदों के अतिरिक्त भी अनेक उत्तरवर्ती उपनिषदें वेदान्त, साङ्ख्य, योग, शैव, शाक्त, वैष्णव आदि सम्प्रदायों एवं दर्शनों के सिद्धान्तों की व्याख्या में सहायक रही हैं।

3.3 वेदान्तदर्शन के विविध सिद्धान्तों के उद्भव और विकास में उपनिषदों का योगदान

वेदान्त दर्शन के कुछ प्रमुख दार्शनिक सिद्धान्त उपनिषदों के सन्दर्भ में यहाँ विचारणीय हैं -

3.3.1 आत्मज्ञान का महत्त्व

उपनिषद् वाङ्मय में सर्वत्र आत्मज्ञान की महिमा गायी गयी है। आख्यानों के द्वारा स्पष्ट किया गया है कि ज्ञान का मार्ग अत्यन्त कठिन है (कठ० उप० 1/3/14)। इसको समझना सरल नहीं है। इसके लिए उपदेष्टा आचार्य की आवश्यकता होती है जो ब्रह्मनिष्ठ और श्रोत्रिय होना चाहिये। छान्दोग्य उपनिषद् के अष्टम अध्याय में बताया गया है कि इन्द्र आत्मज्ञान प्राप्त करने के लिए अपने गुरु के साथ सौ साल तक रहे। केनोपनिषद् में यक्षोपाख्यान के माध्यम से यह स्पष्ट किया गया है कि ब्रह्मज्ञान बुद्धि का विषय नहीं, अपितु आत्मा की अनुभूति का विषय है।

इसी दृष्टि से उपनिषदों में ज्ञानी या आत्मज्ञानी को परम पूजनीय माना गया है। जिसके पास ज्ञान है वही गुरु है। जानने की इच्छा रखने वाले को निर्देश है कि तत्त्वज्ञानी आचार्य के पास तत्त्वज्ञान की जिज्ञासा से जाएं । कौषीतकि उपनिषद् में काशिराज अजातशत्रु ने शिष्य रूप में बालाकि गार्ग्य को आत्मविद्या का उपदेश दिया। छान्दोग्य उपनिषद् में श्वेतकेतु के पिता ज्ञान के लिए राजा प्रवाहण के पास गये। इसी प्रकार उद्दालक आरुणि पाँच ब्राह्मणों के साथ राजा अश्वपति के पास ब्रह्मविद्या के लिए पहुंचे थे। ब्रह्मविद्या केवल ब्राह्मणों के चिन्तन का विषय रहा हो ऐसा नहीं है। इसी उपनिषद् में राजा जानश्रुति का आत्मज्ञान के लिए गाड़ीवान् रैक्व के पास जाना और अज्ञात पिता के पुत्र सत्यकाम के परमज्ञानी होने का वृत्तान्त भी यही दर्शाता है कि उपनिषदों की दृष्टि में ज्ञान और ज्ञानी ही महत्त्वपूर्ण है; इस विषय में वर्ण का कोई महत्त्व नहीं है। मुण्डक उपनिषद् ने आत्मज्ञान को 'परा विद्या' की संज्ञा दी है । यह वह विद्या है जिससे अखण्ड, अविनाशी परब्रह्म का ज्ञान होता है। इसके विपरीत जिससे सांसारिक और अनात्म पदार्थों का ज्ञान और प्राप्ति होती है वह 'अपरा विद्या' है।

कठोपनिषद् में विद्या और अविद्या का उल्लेख है। विद्या आत्मज्ञान है जिससे 'श्रेयस्' की प्राप्ति होती है। अविद्या सांसारिक ज्ञान है जिससे 'प्रेयस्' की प्राप्ति होती है। दोनों विद्याएं ज्ञातव्य हैं, परन्तु आत्मज्ञान के साधक को प्रेयस् को छोड़कर अन्ततः श्रेयस् का वरण करने का निर्देश है।

3.3.2 अद्वैतवाद

आचार्य शंकर के अद्वैतवाद या एकात्मवाद के सिद्धान्त का मूल आधार उपनिषद् हैं। आत्मा और ब्रह्म की अभिन्नता और एक मात्र परमसत्ता के रूप में ब्रह्म की परिकल्पना सभी प्रसिद्ध उपनिषदों में की गयी है। पर कुछ उपनिषद्-वाक्य इस सम्बन्ध में महावाक्य के रूप में याद किये जाते हैं जैसे-तत् त्वमसि। अहम् ब्रह्मास्मि।

माण्डूक्य उपनिषद् पर आचार्य गौड़पाद द्वारा लिखित 'माण्डूक्यकारिका' मायावादी अद्वैतवेदान्त की पूर्ण प्रतिष्ठापक है। ईशोपनिषद् में जोर देकर कहा गया है कि जो सब प्राणियों में एकत्व की अनुभूति करने लगता है, उसे संसार में कहीं भी मोह और शोक नहीं होता है (ईश० उप० 7)। तैत्तिरीय उपनिषद् का प्रसिद्ध वाक्य है - 'ब्रह्मविद् आप्नोति परम्।' इसी प्रकार मुण्डक उपनिषद् में कहा गया है - 'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति'। ब्रह्म को जानकर ज्ञानी आत्मा ब्रह्म से एकात्म भाव को प्राप्त करता है - यही 'ब्रह्मलय' मोक्ष है। छान्दोग्य उपनिषद् का प्रसिद्ध वाक्य 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' (छान्दो० उप० 3/14/1) अर्थात् 'सब कुछ ब्रह्म ही है' अद्वैतवाद का विजय घोष है। इसी उपनिषद् में महर्षि आरुणि ने श्वेतकेतु के लिए आत्मा की एकता का प्रतिपादन किया है - तत्त्वमसि श्वेतकेतो (छान्दो० उप० 6/8/7)। बृहदारण्यक उपनिषद् का प्रतिपादन है - ब्रह्म एक है उसे अनेक मानना अज्ञान है - 'नेह नानास्ति किंचन' (बृह० उप० 4/4/19)। इस प्रकार उपनिषद्-मत में आत्मा और ब्रह्म की एकता ही ज्ञान है।

3.3.3 द्वैतवाद और अद्वैतवाद

वेदान्त दर्शन के द्वैत सम्प्रदाय के प्रतिष्ठापक आचार्य मध्व के अनुसार आत्मा और परमात्मा दो पृथक् तत्त्व हैं और वेद एवं उपनिषद् ही इस तथ्य के प्रमाण हैं। त्रैतवादी दार्शनिक चिन्तकों के मत में ईश्वर, जीव और प्रकृति - ये तीन तत्त्व होते हैं; ईश्वर कर्मफल का अभोक्ता, जीव कर्मफल का भोक्ता और प्रकृति अचेतन। दोनों मतों के समर्थक अपने मत की पुष्टि उपनिषद् - मन्त्रों से करते हैं। श्वेताश्वतर और मुण्डक उपनिषदों में इन मतों के पोषक तथ्य उपलब्ध होते हैं। श्वेताश्वतर उपनिषद् के चतुर्थ अध्याय का छठा मन्त्र और मुण्डक उपनिषद् के तृतीय मुण्डक के प्रथम खण्ड का प्रथम मन्त्र ऋग्वेद (1/164/20) और अथर्ववेद (9/9/20) से लिया गया है। 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया' से प्रारम्भ होने वाले इस मन्त्र में परमात्मा और जीवात्मा की तुलना दो सखाभूत पक्षियों से की गयी है जो प्रकृति रूपी वृक्ष का आश्रय लेकर उस पर बैठते हैं। एक फल खाता है और दूसरा मात्र देखता है। यह मत द्वैतवाद और त्रैतवाद का संपोषक माना जाता है। कठोपनिषद् के प्रथम अध्याय की तृतीय

वल्ली के प्रथम मन्त्र में 'गुहा में प्रविष्ट' दो तत्त्वों की बात की गयी है जो दोनों ही 'ऋत का पान करने वाले' (ऋतं पिबन्तौ) हैं और ब्रह्मविदों द्वारा छाया और आतप के समान समझे जाते हैं। इस सन्दर्भ में वेदान्त के द्वैत सिद्धान्त का संकेत ग्राह्य है।

3.3.4 जीवन का लक्ष्य-मोक्ष

भारतीय दर्शन की सभी प्रमुख शाखाएं 'मोक्ष' को जीवन का चरम लक्ष्य मानती हैं। यद्यपि उसके सिद्धान्तों में मोक्ष के नाम और स्वरूप में किंचित् अन्तर देखा जा सकता है तथापि वे सभी दर्शन इसकी परिकल्पना का मूलस्रोत निर्विवाद रूप से उपनिषदों को ही स्वीकार करते हैं। मुण्डकोपनिषद् के अनुसार जीवन का लक्ष्य ब्रह्मलय या मोक्ष है। मन्त्र में कहा गया है, 'प्रणव (ओम्) को धनुष बनाओ, जीवात्मा को बाण और ब्रह्म को लक्ष्य। एकाग्रचित्त होकर लक्ष्य ब्रह्म को बींधो' (मुण्ड० उप० 2/2/4)। जीवात्मा द्वारा ब्रह्म को बींधना बाण के द्वारा लक्ष्य से एकीभूत हो जाने जैसा ही है। इसी उपनिषद् में वर्णन है - 'तत्त्वज्ञानी ब्रह्म में उसी प्रकार लीन हो जाता है जैसे नदियाँ अपना नाम और रूप छोड़कर समुद्र में लुप्त हो जाती हैं' (मुण्ड० उप० 3/2/8)। मुण्डक उपनिषद् ने मुक्ति का स्वरूप और स्पष्ट किया है - मोक्षकाल में विज्ञानमय आत्मा परम अविनाशी ब्रह्म में एकीभाव को प्राप्त हो जाता है - विज्ञानमयश्च आत्मा परेऽव्यये सर्व एकीभवन्ति। (मुण्ड० उप० 3/2/7) आत्मा और परमात्मा का एक होना ही मोक्ष का मूल स्वरूप है, जिसे सभी दर्शन मानव-जीवन का परम पुरुषार्थ कहते हैं।

3.3.5 कर्मकाण्ड की हीनता

जीवन का लक्ष्य-मोक्ष आत्मज्ञान या ब्रह्मविद्या की अपेक्षा यज्ञ-यागादि रूप कर्मकाण्ड को उपनिषदों में हीन बताया गया है। इनका फल अस्थायी है। इनका फल संसार है जिसके फलस्वरूप जीव पुनः-पुनः संसार में बंधता है और नाना योनियों में विचरता रहता है। मुण्डक उपनिषद् के अनुसार अग्निहोत्र आदि कर्मों का विधिवत् सम्पादन स्वर्गरूप परम फल की प्राप्ति कराता है। कर्मों के अनित्य होने के कारण उनके द्वारा प्राप्त फल भी अनित्य हैं। यज्ञकर्ताजन केवल कर्मों के सम्पादन द्वारा मोक्षप्राप्ति में असमर्थ रहते हैं। यज्ञरूप कर्म तो दुर्बल नौकाएं हैं जिससे भवसागर पार नहीं हो सकता - 'प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपाः'। इस कारण कठोपनिषद् में नचिकेता ने द्वितीय वर के रूप में अग्निविद्या का वरदान मांगा, पर उसके फल की सीमाओं को समझने के कारण तीसरे वर के रूप में आत्मज्ञान चाहा। आत्मज्ञान से मोक्ष मिलता है, जबकि कर्मकाण्ड प्रेयस् या भौतिक सुखों का आधार है। उपनिषद् की दृष्टि में कर्मकाण्ड सर्वथा त्याज्य नहीं है किन्तु उसी को सब कुछ समझना अज्ञान है।

3.3.6 उपासना और भक्ति मार्ग

ब्रह्मविद्या का विशेष रूप से प्रतिपादन करते हुए भी उपनिषदों में ज्ञान के प्रवेश द्वार के रूप में

'उपासना' के कई भेदों की चर्चा यत्र-तत्र मिलती है। छान्दोग्य उपनिषद् में उपासना सम्बन्धी जो विवरण हैं, उनको अवान्तर काल में विकसित भक्तिमार्ग का स्रोत माना जा सकता है।

केनोपनिषद् में आख्यायिका की समाप्ति पर बताया गया है कि ब्रह्म का आधिदैविक प्रकाश बिजली की चमक और आंख की झपक की तरह है और उसका अध्यात्म प्रकाश मन की गति-संकल्प आदि है। ब्रह्म का नाम 'तद् वनम्' है - उसकी इस रूप में ही उपासना करनी चाहिए- तद् वनं इति उपासितव्यम्।

यजुर्वेद के तैत्तिरीय उपनिषद् की शिक्षावल्ली में संहिता-विषयक उपासनाविधि के अन्तर्गत लोकों के विषय में, ज्योतियों के विषय में, विद्या के विषय में, प्रजा के विषय में, शरीर के विषय में - पाँच महासंहिताएं कही गयी हैं और उनके ज्ञान के फल बताये गये हैं। इसी वल्ली के पंचम अनुवाक में भूः, भुवः, स्वः और महः - इन चारों व्याहृतियों की उपासना का रहस्य और फल वर्णित है।

श्वेताश्वतरोपनिषद् में भक्ति तत्त्व का प्रथमतः प्रतिपादन किया गया है। इसके षष्ठ अध्याय में सगुण ईश्वर, गुरुभक्ति और ईश्वरभक्ति का आदेश है। गुरुभक्ति को देवभक्ति का ही रूप बताया गया है-

यस्य देवे पराभक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ। (श्वे० उप० 6/23)

3.3.7 कर्मफल और पुनर्जन्म

भारतीय दर्शनों के अधिकांश आचार्यों ने कर्मफल के विचार को स्वीकार किया है। प्रत्येक कर्म का फल उत्पन्न होता है अच्छे का अच्छा और बुरे का बुरा। प्राणी कर्मफल-भोक्ता है अतः अपने अर्जित कर्मफल को भोगने के लिए ही नाना योनियों में जन्म लेता है। इस प्रकार कर्मफल ही पुनर्जन्म का आधार बनते हैं। कठोपनिषद् ने स्पष्ट घोषणा की है -

योनिमन्ये प्रपद्यन्ते .... यथाकर्म यथाश्रुतम्। (कठ० उप० 2/2/7)

मनुष्य अपने कर्म और अपने ज्ञान के आधार पर नाना योनियों में जाता है। ऐतरेय उपनिषद् के द्वितीय अध्याय में पुनर्जन्म के सिद्धान्त का प्रतिपादन है और कर्मानुसार विभिन्न योनियों में जन्म लेने का वर्णन है। बृहदारण्यक उपनिषद् का प्रतिपादन है कि कर्मफल अवश्यम्भावी है। पुण्य से पुण्य और पाप से पाप मिलता है - पुण्यः पुण्येन कर्मणा भवति (बृह० उप० 4/4/5)। मैत्रायणी उपनिषद् का कथन है कि जीवात्मा अपने अच्छे और बुरे कर्मों के कारण ही उत्तम और अधम योनि में जाता है -

अयमात्मा सितासितैः कर्मफलैः सदसद् योनिमापद्यते। (मैत्रा० उप० 3/1)

मुण्डक उपनिषद् ने स्पष्ट किया है कि विधिवत् सम्पादित यज्ञ-यागादि के फलस्वरूप स्वर्ग के आकर्षक फलों का अनुभव करने के बाद प्राणी मनुष्य लोक में या उससे भी नीचे के लोक में प्रवेश करता है। आत्मा अपने कर्मानुसार देवयान या पितृयाण से गमन करता है (मुण्ड० उप० 1/2/10-11)।

3.3.8 सृष्टि-उत्पत्ति

उपनिषदों में अधिकतर सृष्टि की उत्पत्ति के परम कारण के रूप में ब्रह्म का वर्णन है। ऐतरेय उपनिषद्

के प्रथम खण्ड में आत्मा से चराचर की उत्पत्ति का कथन है। प्रत्यक्ष जगत् के इस रूप में प्रकट होने से पहले कारण अवस्था में एकमात्र परमात्मा ही था । सृष्टि के आदि में उसने यह विचार किया कि ''मैं प्राणियों के कर्मफल-भोगार्थ भिन्न-भिन्न लोकों की रचना करूँ ।'' यह विचार कर उससे अम्भः, मरीचि, मरः और आपः - इन लोकों की रचना की । फिर उसने सूक्ष्म महाभूतों में से हिरण्यगर्भ रूप पुरुष को निकालकर उसको समस्त अङ्ग-उपाङ्गों से युक्त करके मूर्तिमान् बनाया। फिर उस पुरुष को लक्ष्य करके संकल्परूप तप किया । उस तप के फलस्वरूप इन्द्रियों के अधिष्ठाता अग्नि आदि देवता उत्पन्न हुए; जिन्होंने अपने-अपने योग्य स्थान देखकर मनुष्य-शरीर में प्रवेश किया । अनन्तर परमात्मा ने भोग्य पदार्थ के रूप में 'अन्न' की उत्पत्ति की । फिर परमात्मा स्वयं ब्रह्मरन्ध्र को चीरकर मनुष्य-शरीर में प्रवेश कर गया । इस प्रकार परमात्मा ही सृष्टि करता है और वही जीव रूप में सबमें निवास करता है ।

तैत्तिरीय उपनिषद् ने ब्रह्म को ही जगत् का अभिन्न निमित्त और उपादान कारण बताया है। ब्रह्म ही यह सब कुछ है, इसके लिए तैत्तिरीय उपनिषद् का यह वाक्य अत्यन्त प्रसिद्ध है, 'सोऽ कामयत बहुस्यां प्रजायेय' अर्थात् 'उसने कामना की कि मैं प्रजा के लिए बहुत हो जाता हूँ ।' तैत्तिरीय उपनिषद् में 'आनन्द' से जगत् की उत्पत्ति बतायी गयी है और कहा गया है कि समस्त आनन्दों के एकमात्र केन्द्र परमानन्द स्वरूप ब्रह्म ही सबके अन्तर्यामी हैं ।

बृहदारण्यक उपनिषद् के प्रथम अध्याय में ब्रह्म द्वारा वर्ण, धर्म, जीव और अन्न आदि की सृष्टि बताई गयी है। प्रश्नोपनिषद् में कबन्धी के प्रथम प्रश्न के उत्तर में महर्षि पिप्पलाद ने सृष्टि की प्रक्रिया पर प्रकाश डालते हुए कहा है, 'स्वामी परमेश्वर को सृष्टि के आदि में जब प्रजा उत्पन्न करने की इच्छा हुई, तब उन्होंने संकल्प रूप तप किया। तप से उन्होंने सर्वप्रथम रयि और प्राण को उत्पन्न किया, अनन्तर इस जोड़े से सम्पूर्ण जगत् की उत्पत्ति हुई।'

मुण्डकोपनिषद् ने भी अक्षर पुरुष से सम्पूर्ण चेतन-अचेतन जगत् की उत्पत्ति की बात की है। जिस प्रकार पुरुष के शरीर से केश और लोम निकलते हैं, उसी प्रकार अक्षर पुरुष से विश्व उत्पन्न होता है। ब्रह्म सर्वकारण है, विश्वरूप है - वह तो जगत् का अभिन्न निमित्त और उपादान कारण है। निस्सन्देह उत्तरवर्ती काल में विकसित दर्शनों ने सृष्टि सम्बन्धी विचार उपनिषदों से ही लिये हैं।

3.3.9 प्राण विद्या

योगदर्शन ने प्राणविद्या की विधिवत् स्थापना की, पर उसका मूलाधार उपनिषदों में प्राप्त है। कौषीतकि उपनिषद् ने प्राण की महिमा गाते हुए उसे ब्रह्म कहा है, वही दूसरी तरफ ब्रह्म का तादात्म्य 'उक्थ' से स्थापित किया है - प्राणो ब्रह्मेति, उक्थं ब्रह्मेति। (कौषी० उप० 2/1, 4)। उपनिषद् की दृष्टि में ब्रह्मविद्या के अधिग्रहण से पूर्व प्राणविद्या को समझना आवश्यक है। प्राण प्रथमतः जीवन का तत्त्व है, तदनन्तर चैतन्य का तत्त्व है। अन्त में यही प्राण आत्मा का प्रतीक सिद्ध किया गया है जो जगत् के समस्त पदार्थों का कारण है।

बृहदारण्यक उपनिषद् के प्रथम अध्याय में प्राण की श्रेष्ठता विषयक रोचक आख्यायिका है। यही षष्ठ अध्याय के प्रथम ब्राह्मण में इन्द्रियों के विवाद द्वारा प्राण की उत्कृष्टता दिखायी गयी है। प्रश्नोपनिषद् में द्वितीय प्रश्न के उत्तर में प्राण की श्रेष्ठता और महत्त्व का प्रतिपादन किया गया है- प्राणे सर्वं प्रतिष्ठितम् (प्रश्न० उप० 2/6)। वही आश्वलायन के तृतीय प्रश्न के उत्तर में महर्षि पिप्पलाद में कहा है - 'सर्वश्रेष्ठ प्राण परमात्मा से उत्पन्न होता है। मन द्वारा किये गये सङ्कल्प से वह शरीर में प्रवेश करता है। सर्वश्रेष्ठ प्राण ही अङ्गस्वरूप अपान आदि को शरीर के पृथक्-पृथक् स्थानों में पृथक्-पृथक् कार्यों के लिए नियुक्त करता है।' छान्दोग्य उपनिषद् के मत में 'प्राण सर्वदेवमय है। प्राण ही वसु, रुद्र और आदित्य है' (छान्दो० उप० 3/16/1-5)।

3.3.10 नैतिकता और अनुशासन

सभी भारतीय दर्शन अध्यात्म-पथ के साधक के लिए नैतिकता, सदाचार और अनुशासन की अनिवार्यता स्वीकार करते हैं। ज्ञान-पथ के जिज्ञासु अधिकारी को आत्मज्ञान की प्राप्ति के साधन के रूप में नैतिक नियमों और अनुशासन का अनुपालन परम आचरणीय है। उपनिषदों में किसी कथा द्वारा या किसी प्रकरण में इस सम्बन्ध में निर्देश प्राप्त होते रहे हैं। केनोपनिषद् के अन्तिम भाग में ब्रह्मप्राप्ति के आधार या 'आयतन' बताये गये हैं - तप, दम, कर्म, वेद-वेदाङ्ग और सत्य।

तैत्तिरीय उपनिषद् की शिक्षावल्ली में सत्य, तप, स्वाध्याय और प्रवचन के साथ शास्त्रों में बताये गये मार्ग पर चलने की आवश्यकता का प्रतिपादन किया गया है। यही आचार्य के उपदेश और अनुशासन की गरिमा का प्रतिपादन है। गुरु का वह 'अनुशासन' शिक्षा के उच्च आदर्श का परिचायक है और आज भी शिक्षा-प्रसङ्गों में स्मरणीय है - ऋतं च स्वाध्यायप्रवचने च। सत्यं च स्वाध्यायप्रवचने च। तपश्च स्वाध्यायप्रवचने च (तैत्ति० उप० 1/9)। इसे समावर्तन संस्कार के महत्त्वपूर्ण अनुशासन के रूप में ग्रहण किया जाता है।

मुण्डक उपनिषद् ने ब्रह्म-प्राप्ति के साधन के रूप में सत्य, तप, ब्रह्मचर्य आदि का उल्लेख किया है (मुण्डक उप० 3/1/5)। निष्पाप व्यक्ति ही किसी साधना के योग्य होता है।

3.4. दूसरी प्रमुख दर्शनधाराओं के विकास में उपनिषदों का योगदान

3.4.1 साङ्ख्यदर्शन पर प्रभाव

साङ्ख्यदर्शन के सिद्धान्तों की वैचारिक पृष्ठभूमि कठोपनिषद्, बृहदारण्यक और छान्दोग्य उपनिषदों में दिखायी देती है परन्तु उसका पल्लवन निश्चित रूप से श्वेताश्वतर उपनिषद् में हुआ है। इस उपनिषद् में ईश्वर को प्रधान (प्रकृति) और क्षेत्रज्ञ (जीवात्मा) का स्वामी बताया गया है (श्वे० 6/16)।

श्वेताश्वतरोपनिषद् के तृतीय से पंचम अध्यायों में साङ्ख्य दर्शन के कुछ मौलिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन हुआ है। सत्त्व, रजस् और तमस्-इन तीन गुणों की साम्यावस्था ही प्रकृति है। प्रकृति

त्रिगुणात्मक है -

अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः। (श्वे० उप० 4/5)

यह प्रकृति ही ब्रह्म की माया का दूसरा रूप है। इसमें 'प्रकृति' को 'माया' और 'महेश्वर' को 'मायावी' (मायी) कहा गया है -

मायां तु प्रकृतिं विद्धि मायिनं तु महेश्वरम्। (श्वे० उप० 4/10)

यह माया वेदान्त की माया से भिन्न है। इसे साङ्ख्यदर्शन में वर्णित प्रकृति से मिलाया जा सकता है। श्वेताश्वतरोपनिषद् के पचम अध्याय में साङ्ख्य-सूत्रों के प्रणेता कपिल मुनि का सङ्केत है-

ऋषिं प्रसूतं कपिलं यस्तमग्रे......। (श्वे० उप० 5/2)

इससे न केवल साङ्ख्यप्रणेता परमर्षि कपिल की प्राचीनता और प्रामाणिकता सिद्ध होती है अपितु साङ्ख्यदर्शन उपनिषदों से ही विकसित है - इस तथ्य की पुष्टि भी होती है। यहाँ साङ्ख्य दर्शन के कुछ प्रसिद्ध दार्शनिक शब्दों की प्राप्ति भी होती है, जैसे - क्षर, अक्षर, प्रधान, अजा प्रकृति, पुरुष, महेश्वर। इनसे प्रतीत होता है कि यह उपनिषद् साङ्ख्यदर्शन के अति व्यवस्थित स्वरूप से पूर्व की उदयकालीन अवस्था का उल्लेख कर रहा है । निस्सन्देह उपनिषद् में प्रयुक्त पद 'सांख्ययोगाधिगम्यम्' (6/13) उस स्थिति का परिचायक है जब साङ्ख्य और योग अलग दर्शनधाराओं के रूप में प्रतिष्ठित नहीं हुए थे। उपनिषद् ने मोक्ष-प्राप्ति का साधन साङ्ख्य-योग को बताया है।

3.4.2 योगदर्शन पर प्रभाव

योगदर्शन का प्रारम्भिक स्वरूप बीजरूप में कठोपनिषद् में प्राप्त होता है। योग को ब्रह्म साक्षात्कार का प्रधान साधन माना गया है।

तां योगमिति मन्यते स्थिरामिन्द्रियधारणाम्।
अप्रमत्तस्तदा भवति योगो हि प्रभवाप्ययौ।। (कठ० 2/3/11)

अर्थात् 'इन्द्रिय-मन-बुद्धि की शान्तावस्था को योग कहते हैं। तब साधक प्रमादरहित हो जाता है। इस प्रकार योग उत्पत्ति भी है और विनाश भी।' समाधिस्थ योगी द्वारा मृत्यु के अवसर पर आत्मा को ब्रह्मरन्ध्र से ब्रह्म की ओर ले जाने का वर्णन भी यहाँ किया गया है। योग-सूत्र में ईश्वर का वाचक 'प्रणव' कहा गया है और ओम् या प्रणव का महत्त्व मुण्डक, छान्दोग्य, कठ माण्डूक्य आदि उपनिषदों में भली-भांति स्वीकार किया गया है।

श्वेताश्वतर उपनिषद् में योग की विभिन्न प्रक्रियाओं का विशद और सुन्दर विवेचन मिलता है, जिसके अन्तर्गत ध्यानयोग और योगाभ्यास की प्रक्रिया और उसके फल को व्यवस्थित रूप में बताया गया है। इसका द्वितीय अध्याय योग-साधना के वर्णन द्वारा योगदर्शन की पृष्ठभूमि सा प्रतीत होता है। वर्णन है कि मन और बुद्धि को एकाग्र करके प्राणायाम करे और मन की चंचलता को रोकें। शान्त

होकर एकान्त समभूमि पर बैठकर ध्यान करें (श्वे० उप० 2/1-10)। अतः आसन और प्राणायाम का स्पष्ट निर्देश किया गया है। प्रत्याहार और योगसिद्धि के पूर्वलक्षणों का उल्लेख भी यहाँ हुआ है।

3.4.3 शैव दर्शन पर प्रभाव

श्वेताश्वतर उपनिषद् में शैव दर्शन का प्रारम्भिक रूप दिखायी देता है। तृतीय अध्याय में रुद्र-शिव का माहात्म्य वर्णन है । शिव को संसार की उत्पत्ति, स्थिति और संहार का एकमात्र कारण कहा गया है। चतुर्थ अध्याय के प्रारम्भ में अद्वितीय परमदेव परमात्मा के स्वरूप-निरूपण के साथ उनकी प्रार्थना है। अन्तिम दो मन्त्रों में रुद्र से रक्षा और अविनाश की कामना की गयी है । इस उपनिषद् में रुद्र-शिव को परमेश्वर या ब्रह्म कहा गया है। यह शिव ही समस्त प्राणियों में व्याप्त है और उसके सम्बन्ध में ज्ञान होने पर समस्त बन्धनों से मुक्ति मिल जाती है -

ज्ञात्वा शिवं सर्वभूतेषु गूढम् .... मुच्यते सर्वपाशैः। (श्वे० उप० 4/16)

इस उपनिषद् के चतुर्थ ही नहीं, पंचम अध्याय में भी कुछ शैव सिद्धान्तों की विवेचना है। रुद्र-शिव को प्राप्त करने के लिए यहाँ भक्तिमार्ग का निर्देश है।

उपनिषदों में 'शिव' का वर्णन सर्वप्रथम श्वेताश्वतर में ही आता है। इसीलिए इस उपनिषद् को शैवमत का प्रतिनिधि उपनिषद् माना गया है । डा० आर० डी० रानाडे का विचार है कि 'श्वेताश्वतर उपनिषद् शैवमत के हित में ही लिखा गया है। इस उपनिषद् के काल तक पहुंचने पर हम पाते हैं कि शैव सिद्धान्तों को एक दार्शनिक आधार प्राप्त हो चुका था।'

बोधप्रश्न

1. आस्तिक दर्शनों के नाम बताइये ।
2. वेदान्त दर्शन को यह नाम क्यों दिया गया?
3. उपनिषदों के अनुसार ज्ञान-प्राप्ति के लिए किसके पास जाना चाहिए?
4. अद्वैत वेदान्त के अनुसार ज्ञान क्या है?
5. द्वैतमत का पोषक मन्त्र कौन सा है?
6. त्रैतवाद का पोषक मन्त्र कौन सा है?
7. दर्शनों के अनुसार जीवन का चरम लक्ष्य क्या है?
8. कर्मकाण्ड का फल क्या है? क्या इससे मोक्ष मिल सकता है?
9. 'भक्ति' का प्रथमतः विशद उल्लेख किस उपनिषद् में हुआ है?
10. उपासना-पद्धति का वर्णन करने वाला कोई उपनिषद् बताये ।
11. 'बहुस्यां प्रजायेय' अर्थात् 'मैं प्रजा के लिए बहुत हो जाता हूँ' - किस सन्दर्भ में किस उपनिषद् का उद्धरण है ।
12. उपनिषदों ने प्राण रूप में आत्मा या ब्रह्म का प्रतिपादन भी किया है? स्पष्ट करें।
13. साङ्ख्य के 'प्रकृति' तत्त्व का उल्लेख किस उपनिषद् में हुआ है?

14. योगदर्शन के तत्त्व किन दो उपनिषद् से विकसित माने जा सकते हैं?
15. शैव दर्शन के विकास में किस उपनिषद् का विशेष योगदान स्वीकार किया जाता है?

3.5. सारांश

1. वेद को परम प्रमाण मानने वाले दर्शनों को आस्तिक दर्शन कहते हैं जो हैं - वेदान्त, योग, साङ्ख्य, न्याय, वैशेषिक और मीमांसा। अपने-अपने दृष्टिकोण से वेदार्थ को ग्रहण करने के कारण दर्शनों में कुछ सिद्धान्त-गत भेद हैं।
2. वेदान्त दर्शन के अद्वैत आदि सभी सम्प्रदाय उपनिषदों से निकले हैं इसीलिए उनको उपनिषदों के समान नाम 'वेदान्त' से जाना जाता है। साङ्ख्यदर्शन, योगदर्शन, और शैव दर्शन के प्रमुख तत्त्व भी प्रमुख उपनिषदों से विकसित हुए हैं। प्रमुख उपनिषदों के अतिरिक्त उत्तरकाल में कई सम्प्रदायगत उपनिषदें भी लिखी गयी।
3 वेदान्तदर्शन में प्रतिपादित कई प्रमुख दार्शनिक विचार उपनिषदों में प्राप्त होते हैं। अनन्तर इस दर्शन में उनका सिद्धान्त रूप में विकास हुआ है-
(1) उपनिषदों में ज्ञान अर्थात् आत्मज्ञान या ब्रह्मज्ञान की महिमा वर्णित है। उसे ही एकमात्र मोक्ष-प्राप्ति का मुख्य आधार माना गया है। जिज्ञासुजन ज्ञानी और तत्त्ववेत्ता के पास ज्ञान-प्राप्ति के लिए जाते हैं, भले ही वह किसी भी वर्ण का हो। महत्त्व ज्ञानवान् का है। आत्मज्ञान को परा विद्या या विद्या कहा गया है।
(2) आत्मा और ब्रह्म एक है - इस एकात्मवाद या अद्वैत के वाचक अनेक प्रसङ्ग उपनिषदों में मिलते हैं।
(3) द्वैतवाद में आत्मा और ब्रह्म को पृथक्-पृथक् दो तत्त्व मानते हैं, तो त्रैतवाद में तीसरा तत्त्व 'प्रकृति' भी स्वीकार्य है। श्वेताश्वतर और मुण्डक उपनिषदों में प्राप्त वैदिक मन्त्र 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया' को दोनों वादों के समर्थन में व्याख्यात किया जाता है।
(4) यद्यपि सभी दर्शन किसी न किसी रूप में मोक्ष की परिकल्पना करते हैं, परन्तु इसका स्पष्ट और प्रारम्भिक स्वरूप उपनिषदों में दिखायी देता है जहाँ 'ब्रह्म में लीनता' ही मोक्ष बताया गया है।
(5) उपनिषदों में आत्मज्ञान की तुलना में कर्मकाण्ड को हीन बताया गया है। इसका फल संसार और नाना योनियां हैं। अनित्य कर्मों के फल भी अनित्य ही हैं। इनसे मोक्ष नहीं मिल सकता।
(6) छान्दोग्य उपनिषद्, तैत्तिरीय उपनिषद्, केन उपनिषद् आदि में उपासना का उल्लेख हुआ है। श्वेताश्वतर उपनिषद् में प्रथम बार 'भक्ति' का वर्णन प्राप्त हुआ है।
(7) प्राणी कर्मफल भोक्ता है। अपने कर्मों का फल भोगने के लिए नाना योनियों में जन्म लेता है। अतः कर्मफल ही पुनर्जन्म का आधार है। उपनिषदों का यह विचार वेदान्त दर्शन की आधार-शिला है।
(8) कई उपनिषदों में यत्र-तत्र सृष्टि-उत्पत्ति की चर्चा की गई है। तैत्तिरीय उपनिषद् ने ब्रह्म को जगत्

का अभिन्न निमित्त उपादान कारण माना है। मुण्डक उपनिषद् के मत में ब्रह्म से ही चेतन-अचेतन जगत् उत्पन्न हुआ है।

(9) प्राणविद्या की अनेकशः चर्चा उपनिषदों में आयी है। इसकी श्रेष्ठता के विषय में कुछ रोचक आख्यान भी मिलते हैं। छान्दोग्य उपनिषद् ने प्राण को सर्वदेवमय बताया है तो कौषीतकि उपनिषद् ने उसे ब्रह्म कहा है।

(10) उपनिषदों में आत्मज्ञान के साधक के लिए नैतिक नियम, सदाचार, अनुशासन, तपस् आदि के अनुपालन पर प्रकाश डाला गया है।

4. वेदान्त के अतिरिक्त दूसरी कुछ प्रमुख दर्शनधाराओं के विकास में भी उपनिषदों ने योगदान दिया है-

(1) साङ्ख्य दर्शन में प्रतिपादित प्रकृति, माया आदि तत्त्वों का और साङ्ख्य-प्रणेता कपिल मुनि का उल्लेख श्वेताश्वतर उपनिषद् में प्राप्त होता है।

(2 योगदर्शन का प्रारम्भिक स्वरूप कठोपनिषद् में प्राप्त होता है। ओम् का महत्त्व मुण्डक, छान्दोग्य और कठ उपनिषदों में बताया गया है। श्वेताश्वतर उपनिषद् में विभिन्न योग-प्रक्रियाओं का विशद विवेचन मिलता है। रुद्र-शिव का माहात्म्य श्वेताश्वतर उपनिषद् में वर्णित है। मान्यता है कि शैव दर्शन पर इस उपनिषद् का पर्याप्त प्रभाव पड़ा है।

3.6शब्दावली

आस्तिक, वेदान्त, पराविद्या, विद्या, अविद्या, श्रेयस्, प्रेयस्, अद्वैत, द्वैत, माण्डूक्यकारिका, श्वेतकेतु, महावाक्य, तत्त्वमसि, त्रैतवाद, मोक्ष, प्रणवरूपी धनुष, कर्मकाण्ड, यज्ञरूप कर्म, भक्ति, उपासना, पुनर्जन्म, पुण्य, स्वर्ग, पाप, आनन्द, सृष्टि, निमित्त कारण, उपादान कारण, रयि-प्राण, प्राणविद्या, अनुशासन, प्रकृति, माया, कपिल, प्रणव, प्राणायाम, रुद्र-शिव, शैवमत।

3.7. बोध प्रश्नों के उत्तर

1. आस्तिक दर्शन छह हैं - वेदान्त, योग, साङ्ख्य, न्याय, वैशेषिक और मीमांसा।

2. उपनिषदों से सीधे-सीधे निकला दर्शन 'वेदान्त' कहलाता है क्योंकि उपनिषदों का एक नाम 'वेदान्त' भी है। 3. उपनिषदों के अनुसार ज्ञान-प्राप्ति के लिए आत्मवेत्ता या ज्ञानी के पास जाना चाहिए, भले ही वह किसी भी वर्ण या वर्ग का हो।

4. अद्वैत वेदान्त के अनुसार आत्मा और ब्रह्म की एकता का ज्ञान ही 'ज्ञान' है।

5. द्वैतवाद का पोषक मन्त्र 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया' है।

6. द्वैतवादका पोषक मन्त्र 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया' है।

7. दार्शनिक दृष्टि में जीवन का चरम लक्ष्य 'मोक्ष' है।

8. कर्मकाण्ड का फल प्रेयस् या सांसारिक सुख है। कर्मों के अनित्य होने से इनके द्वारा नित्य फल 'मोक्ष' सम्भव नहीं है।

9. भक्ति का प्रथमतः विशद उल्लेख श्वेताश्वतर उपनिषद् में हुआ है।

10. 'उपासना' का वर्णन करने वाले कुछ उपनिषद् हैं - छान्दोग्य, केन, तैत्तिरीय।

11. 'बहुस्यां प्रजायेय' - सृष्टि के सन्दर्भ में तैत्तिरीय उपनिषद् का उद्धरण है।

12. उपनिषदों में प्राणविद्या द्वारा चैतन्य तत्त्व को समझाने के उद्देश्य से यदा-कदा प्राण का तादात्म्य आत्मा या ब्रह्म से भी किया गया है।

13. साङ्ख्य के 'प्रकृति' तत्त्व का उल्लेख श्वेताश्वतर उपनिषद् में हुआ है।

14. योगदर्शन के तत्त्व कठोपनिषद् और श्वेताश्वतर उपनिषद् से विकसित माने जा सकते हैं

15. शैव दर्शन के विकास में श्वेताश्वतर उपनिषद् का विशेष योगदान स्वीकार किया जाता है।

3.8 उपयोगी पुस्तकें

1. भारतीय दर्शन, बलदेव उपाध्याय, वाराणसी, 1966।

2. अद्वैत वेदान्त, राममूर्ति शर्मा, दिल्ली, 1972।

3. साङ्ख्य दर्शन का इतिहास, उदयवीर शाही गाजियाबाद, 1970।

4. वैदिक साहित्य और संस्कृति, डॉ० कपिलदेव द्विवेदी, वाराणसी, 2000।

5. संस्कृत वाङ्मय का बृहद् इतिहास, प्रथम खण्ड - वेद, प्र० सम्पादक, बलदेव उपाध्याय, उत्तर प्रदेश संस्कृत संस्थान, लखनऊ, 1996।

6. ईशोपनिषद्, केनोपनिषद्, कठोपनिषद्, प्रश्नोपनिषद्, मुण्डकोपनिषद्, माण्डूक्योपनिषद्, तैत्तिरीयोपनिषद्, ऐतरेयोपनिषद्, छान्दोग्योपनिषद्, बृहदारण्यकोपनिषद्, मैत्रायणी उपनिषद्- गीताप्रेस गोरखपुर से प्रकाशित।

3.9 निबन्धात्मक प्रश्न

1. वेदान्त दर्शन के विकास पर निबन्ध लिखिए।

2. सांक्ष्य दर्शन दर्शनधारा का निरूपण कीजिए।

इकाई 4 : ईशोपनिषद् - 18 मन्त्र (अर्थ एवं व्याख्या सहित)

इकाई की रूपरेखा

4.2 उद्देश्य
4.1 प्रस्तावना
4.3 विषयप्रवेश
4.3.1 ईशोपनिषद् के अट्ठारह मन्त्र (मूल, अन्वय, अर्थ, व्याख्या सहित)
4.3.2 शान्ति पाठ सहित मन्त्र 1 -2 सर्वत्र आत्म दृष्टि और त्याग का उपदेश कर्मनिष्ठा का उपदेश
4.3.3 मन्त्र 3 आत्मज्ञान शून्य व्यक्ति की निन्दा
4.3.4 मन्त्र 4-5 आत्मा का स्वरूप
4.3.5 मन्त्र 6-7 सर्वत्र आत्मभाव रखने वाले ज्ञानी की स्थिति
4.3.6 मन्त्र 8 आत्मा का स्वरूप
4.3.6 मन्त्र 9-11 विद्या और अविद्या का समुच्चय
4.3.7 मन्त्र 12-14 सम्भूति और असम्भूति का समुच्चय
4.3.8 मन्त्र 15-16 अन्तकाल में उपासक की मार्ग-याचना
4.3.9 मन्त्र 17-18 मरणोन्मुख उपासक की प्रार्थना
4.4 सारांश
4.5 शब्दावली
4.6 बोधप्रश्नों के उत्तर
4.7 उपयोगी पुस्तकें

4.1 प्रस्तावना

सर्वप्रथम ईशोपनिषद् के नाम पर विचार करना आवश्यक है। इसका दूसरा प्रचलित नाम ईशावास्य-उपनिषद् है। यह उपनिषद् ही एकमात्र मन्त्रोपनिषद् है क्योंकि यह यजुर्वेदसंहिता के अन्तर्गत मन्त्र रूप में प्राप्त है। इसके नाम 'ईशोपनिषद्' का अर्थ है 'ईश की विद्या' या आत्मा का ज्ञान। इस उपनिषद् के प्रथम मन्त्र के पहले एक पद के आधार पर इसे 'ईशोपनिषद्' और पहले दो पदों के आधार पर इसे 'ईशावास्योपनिषद्' नाम दिया गया है । यह सम्पूर्ण जगत् ईश्वर से उत्पन्न हुआ है अथवा ईश्वर से व्याप्त है। जगत् की निस्सारता और परब्रह्म की सर्वव्यापकता का उद्घोष करने वाले इस उपनिषद् का यह नाम सर्वथा सार्थक है । वाजसनेयिसंहिता का एक अंश होने से इसे 'वाजसनेयिसंहिता - उपनिषद्', 'वाजसनेयोपनिषद्,' और 'संहितोपनिषद्' भी कहते हैं, जो सम्भवतः इसके प्राचीन नाम हैं । शुक्ल यजुर्वेद के चालीसवें अध्याय का नाम 'आत्मज्ञान' है इसलिए इसे आत्माध्याय, ब्रह्माध्याय, आत्मसूक्त, ब्रह्मसूक्त, ईशसूक्त, आत्मोपनिषद्, ब्रह्मोपनिषद् आदि नामों से भी कहा जाता है । ये सब नाम ईशोपनिषद् की प्रसिद्धि और महत्ता के सूचक हैं ।

नाम के बाद उपनिषद् के महत्त्व पर विचार करना उपयुक्त होगा । ईशोपनिषद् का महत्त्व उसके प्रतिपाद्य में निहित है । यह उपनिषद् लघु होकर भी अनेक महत्त्वपूर्ण दार्शनिक सिद्धान्तों को स्थापित करने वाला ग्रन्थ है । इसमें अनेक नवीन विचार प्रकट हुए हैं जिनसे वेदान्त दर्शन के कई मूलभूत सिद्धान्त विकसित हुए हैं। इसमें विद्या और अविद्या, सम्भूति और असम्भूति जैसे द्वन्द्वों का समन्वय किया गया है । श्रीपाद दामोदर सातवलेकर ने बृहदारण्यक उपनिषद् को ईशोपनिषद् की दौड़ती टीका बताया है । इस उपनिषद् में समस्त वेदों का सार है । श्रीमद्भगवद्गीता ने अपने तत्त्वदर्शन के अनेक विषय ईशोपनिषद् से ही लिए हैं। इस उपनिषद् को महात्मा गांधी समस्त उपनिषदों और भारतीय शास्त्रों का सार माना करते थे। स्मरणीय है कि इस उपनिषद् पर ही सर्वाधिक भाष्य टीका, अनुवाद और व्याख्याएं लिखी गयी हैं ।

4.2 उद्देश्य

इस इकाई में ईशोपनिषद् के कुल अट्ठारह मन्त्रों के अर्थ और व्याख्या के अध्ययन के बाद आप:

- उपनिषदों के प्रमुखतम उपनिषद् के प्रतिपाद्य विषय को विस्तार से समझ सकेंगे ।
- ईशोपनिषद् द्वारा वेदान्त दर्शन में ज्ञान और कर्म के स्वरूप को समझ सकेंगे ।
- ईशोपनिषद् द्वारा आत्मा की एकता का ज्ञान प्राप्त करके, उसके फल से अवगत हो सकेंगे।
- विद्या और अविद्या के स्वरूप का विस्तार से आकलन कर सकेंगे ।
- सम्भूति और असम्भूति के तात्पर्य को ईशोपनिषद् के सन्दर्भ में जान पाएंगे ।
- अन्तकाल में उपासक की मार्ग-याचना के स्वरूप को जान सकेंगे ।

- ईशोपनिषद् के अट्ठारह मन्त्रों के अर्थ और शङ्करानुसारी व्याख्या को जान सकेंगे।

4.3 विषयप्रवेश

ईशोपनिषद् के कुल अट्ठारह मन्त्रों का अध्ययन उसके प्रतिपाद्य और विचारों को जानने का माध्यम है। यहाँ इसी दृष्टि से व्याख्या का प्रयास किया जा रहा है। अट्ठारह मन्त्रों को विषय की दृष्टि से चार भागों में रखा जा सकता है -

1. प्रथम भाग (1-3 मन्त्र)
2. द्वितीय भाग (4-8 मन्त्र)
4. तृतीय भाग (9-14 मन्त्र)
5. चतुर्थ भाग (15-18 मन्त्र)

जो कुछ अध्यात्म विषयक विचार हैं वे प्रथम तीन मन्त्रों में रखे गये हैं। अनन्तर उन्हीं तथ्यों का अधिक विस्तार से स्पष्टीकरण किया गया है। प्रथम मन्त्र ही मानव-जीवन के तत्त्वज्ञान और ध्येय का उद्घोषक है। उपनिषद् में जीवन की सत्यता, ब्रह्म का स्वरूप, जीने की सही पद्धति, जीवन का लक्ष्य, लक्ष्य-प्राप्ति के मार्ग आदि का सारभूत विवेचन किया गया है।

अद्वैताचार्य शंकर ने इस उपनिषद् में ज्ञान-निष्ठा और कर्म-निष्ठा का अलग-अलग प्रतिपादन माना है, तो कुछ दूसरे आचार्यों ने यहाँ ज्ञान और कर्म के समन्वय का प्रतिपादन माना है। इसी प्रकार विद्या, अविद्या, सम्भूति, असम्भूति, मृत्यु, अमृत, विनाश आदि शब्दों की व्याख्या भी आचार्यों द्वारा भिन्न-भिन्न प्रकार से की गयी है। ईशोपनिषद् पर प्राचीन एवं अर्वाचीन भारतीय विद्वानों के अतिरिक्त पाश्चात्य विद्वानों ने भी अपने-अपने दृष्टिकोण से अर्थ एवं व्याख्यान किये हैं। आचार्य शंकर के अतिरिक्त दूसरे विद्वान् हैं - उपनिषद् ब्रह्मयोगी, आनन्दगिरि, शंकरानन्द, रामचन्द्र पण्डित, ब्रह्मानन्द सरस्वती, अनन्ताचार्य, उवट, महीधर आदि।

ईशोपनिषद् पर विशिष्टाद्वैत मत के अनुसार वेंकटनाथ वेदान्तदेशिक का भाष्य उपलब्ध है, तो द्वैतमत के अनुसार आचार्य मध्व का भाष्य भी मिलता है। श्री अरविन्द, दयानन्द सरस्वती, स्वामी निखिलानन्द, डॉ० राधाकृष्णन, आदि आधुनिक भारतीय विद्वानों ने भी इस उपनिषद् का अनुवाद किया है या उस पर व्याख्या लिखी है। कई पाश्चात्य विद्वानों ने ईशोपनिषद् का अपने-अपने मत से अर्थ किया है जिनमें कुछ हैं - ई० रोर, फेडरिक मैक्समूलर, पॉल डायसन, रोबर्ट ह्यूम।

ईशोपनिषद् के अर्थ और तात्पर्य के स्पष्टीकरण के लिए यहाँ शंकराचार्यकृत भाष्य को ही मूलाधार बनाया गया है। आवश्यकतानुसार व्याख्या में दूसरे विद्वानों के अर्थो का संकेत भी किया गया है।

ईशोपनिषद् शुक्लयजुर्वेद की काण्वशाखा और माध्यन्दिनशाखा की संहिताओं का चालीसवां अध्याय है। माध्यन्दिनशाखीय वाजसनेयिसंहिता के चालीसवें अध्याय में 17 मन्त्र हैं, और काण्वशाखा की संहिता के इस अध्याय में 18 मन्त्र हैं। दोनों में स्वर, पाठ, क्रम की दृष्टि से कुछ भेद हैं। शङ्कर और अधिकांश प्राचीन आचार्यों ने काण्वशाखीय ईशोपनिषद् पर ही भाष्य या टीकाएं

लिखी हैं, अतः अर्थ और व्याख्या के लिए यहाँ उसे ही अपनाया गया है।

उपनिषदों की अध्ययन-प्रणाली का अनुसरण करते हुए ईशोपनिषद् के प्रारम्भ और अन्त में शान्तिपाठ का समावेश किया गया है।

4.3.1 ईशोपनिषद् के अट्ठारह मन्त्र (मूल, अन्वय, अर्थ, व्याख्या सहित)

(1) **शान्तिपाठ**

ऊँ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥
ऊँ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।

अन्वय और अर्थ -ऊँ = ओम्; अदः = वह (परब्रह्म); पूर्णम् = सब प्रकार से पूर्ण है; इदम् = यह (जगत् भी); पूर्णम् = पूर्ण है; (क्योंकि) पूर्णात् = उस पूर्ण (परब्रह्म) से; पूर्णम् = यह पूर्ण; उदच्यते = उत्पन्न हुआ है; पूर्णस्य = पूर्ण के; पूर्णम् = पूर्ण को; आदाय = लेकर; पूर्णम् = पूर्ण; एव = ही; अवशिष्यते = बच रहता है। ओम्, शान्ति हों, शान्ति हो, शान्ति हो।

व्याख्या - वह कारणरूप परब्रह्म सब प्रकार से सर्वदा परिपूर्ण है। यह कार्य जगत् भी पूर्ण है; क्योंकि यह पूर्ण उस पूर्ण ब्रह्म से ही उत्पन्न हुआ है। उस पूर्ण ब्रह्म में से पूर्ण जगत् को निकाल लेने पर भी वह पूर्ण ही बचा रहता है। तीन बार 'शान्ति' पद के उच्चारण द्वारा उपनिषद्-विद्या की प्राप्ति में विघ्नरूप तापों की शान्ति चाही गयी है। ताप तीन हैं - आध्यात्मिक (मन और शरीर सम्बन्धी), आधिदैविक (देवताओं द्वारा प्राप्त), और आधिभौतिक (प्राणियों द्वारा प्राप्त)।

4.3.2 शान्तिपाठ सहित मन्त्र 1 -2 सर्वत्र आत्मदृष्टि और त्याग का उपदेश ,कर्मनिष्ठा का उपदेश

ईशा वास्यमिदं सर्वं यत्किंचित्जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुन्जीथा मा गृधः कस्य स्विद् धनम्॥ 1॥

अन्वय और अर्थ - जगत्याम् = अखिल ब्रह्माण्ड में; यत् किं च = जो कुछ भी; जगत् = परिवर्तनशील (जड़चेतनस्वरूप) जगत् है; इदम् = यह; सर्वम् = सब; ईशा = ईश्वर से; वास्यम् = व्याप्त है; तेन = उसके; त्यक्तेन = त्याग से; भुजीथाः = अपना पालन कर। कस्य स्वित् = किसी के भी; धनम् = धन का; मा गृधः = लोभ मत कर॥1॥

व्याख्या- सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड गतिमान् और नश्वर है। इसमें जो भी यह जड़चेतनात्मक जगत् दिखायी दे रहा है वह नित्य परिवर्तनशील है और इसीलिए स्थायी नहीं है। यह सबका सब सर्वज्ञ, सर्वनियन्ता, शक्तिशाली, अद्वितीय, शुद्ध, परिपूर्ण परमात्मा से आच्छादन करने योग्य है और उससे ही पूरी तरह व्याप्त है। ब्रह्म सबमें है, कोई भी अंश उससे रहित नहीं है। ईश्वर आत्मा होने से सर्वत्र और सबमें व्याप्त रहता है। यह जगत् ब्रह्म से उत्पन्न होता है, उसी में स्थित है और उसी में लय हो जाता है। ब्रह्म ही

इस जगत् का वास्तविक स्वरूप है। ऋग्वेद (10/90/2) में भी कहा गया है - 'पुरुष एव इदं सर्वम्', यह सम्पूर्ण जगत् ब्रह्म ही है।

शाङ्कर मत में ईश्वर चराचर जगत् का आत्मा है - ऐसी भावना से युक्त साधक का त्याग में ही अधिकार है, कर्म में नहीं। आत्मा में निष्ठा रखने वाला साधक सर्वत्र आत्मा को जानकर जगत् का परित्याग कर देता है और फिर इस त्याग से अपनी आत्मा का पालन करता है। 'सब कुछ ब्रह्म है', इस समझ के साथ त्यागपूर्वक आत्मा पालनीय है। मन्त्र के अन्त में त्यागी के लिए नियमविधि का निर्देश है कि किसी के धन की आकांक्षा न करो अथवा आकांक्षा न करो, धन किसका है? अर्थात् किसी का भी नहीं है। 'स्वित्' को अनर्थक निपात मानने पर पहला अर्थ और प्रश्नवाचक मानने पर दूसरा अर्थ ग्रहणीय है। धन से समस्त भोग्य पदार्थ समझने चाहिए। संसार में कोई भी वस्तु ऐसी नहीं है जो अचल होकर किसी के पास सदा रहे। इसलिए लोभ उचित नहीं, त्याग ही आचरणीय है।

'तेन त्यक्तेन भुन्जीथा : में ' भुन्जीथा: से अनेक आचार्यों ने ' भोग करो ' अर्थ लिया है। तदनुसार यहाँ कहा गया है कि उस ईश्वर को साथ रखते हुए (तेन), कृत कर्मों के फल की कामना का त्याग करके (त्यक्तेन), निष्काम भावना से भोग करो। इसका तात्पर्य है कि जगत् से चित्त हटाकर त्यागपूर्वक भोगों का उपभोग करो - यह आदेश है।

आचार्य शंकर के अनुसार इस मन्त्र में ज्ञाननिष्ठा का वर्णन है। ज्ञान में निष्ठा रखने वाले साधक को इच्छाओं का त्याग करते हुए आत्मा की रक्षा करनी चाहिए। महात्मा गांधी ने माना था कि इस मन्त्र में समस्त प्राणियों की समानता का सिद्धान्त दिया गया है।

कर्मनिष्ठा का उपदेश-

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे।। 2।।

अन्वय और अर्थ -इह = यहाँ (इस जगत् में); कर्माणि = शुभ तथा नियत कर्मों को; कुर्वन् = करते हुए; एव = ही; शतम् समाः = सौ वर्षों तक; जिजीविषेत् = जीने की इच्छा करनी चाहिये; एवम् = इस प्रकार (त्याग भाव से); कर्म = किये जाने वाले कर्म; त्वयि = तुझ; नरे = मनुष्य में; न लिप्यते = लिप्त नहीं होंगे; इतः = इससे (भिन्न); अन्यथा = अन्य कोई मार्ग; न अस्ति = नहीं है (जिससे कि मनुष्य कर्म-बन्धन से मुक्त हो सके) ।। 2।।

व्याख्या -आत्मज्ञानी सर्वत्र आत्मा को देखने के कारण सब कुछ त्याग देता है और आत्मनिष्ठ होकर आत्मा की रक्षा करता है। किन्तु इस संसार में अधिकांश लोग आत्मतत्त्व का ग्रहण करने में असमर्थ है। वे तो स्वयं को शरीर समझने वाले 'नर' हैं जो मनुष्यत्व का अभिमान रखते हैं और सांसारिक सुखों की लालसा किया करते हैं। शङ्कर, महीधर, उपनिषद् ब्रह्मयोगी, आदि की व्याख्या के अनुसार, आत्मज्ञान में अशक्त लोगों के लिए इस मन्त्र में कर्मनिष्ठा का उपदेश दिया जा रहा है। जो मनुष्य कर्म करने में ही लगे रहना चाहता है - और पृथिवीलोक में सौ वर्ष या उससे भी अधिक आयु तक जीना चाहता है उनको चाहिए कि वह शुभ कर्मों और शास्त्र नियत कर्मों को करते

हुए ही लम्बी आयु तक जीने की इच्छा करे।

वास्तव में मनुष्य बिना कर्म के एक क्षण भी नहीं रह सकता है। बिना कर्म के तो शरीरयात्रा भी नहीं हो सकती है (गीता 3/8)। अतः शुभ कर्म ही जीवनपर्यन्त आचरणीय हैं। शङ्कर, आनन्द भट्ट आदि ने मन्त्र के उत्तरार्ध की व्याख्या में लिखा है - इस प्रकार जीने की इच्छा रखने वाले मनुष्य के लिए अग्निहोत्रादि शास्त्रविहित कर्म करते हुए ही आयु बिताने के अतिरिक्त कोई दूसरा प्रकार नहीं है जिससे 'अशुभ कर्म' का लेप न हो। शङ्कर-मत में कर्म उस चरम लक्ष्य तक नहीं पहुंचता है, जहाँ तक ज्ञान पहुंचता है, किन्तु इससे ही कभी साधक का चित्त शुद्ध हो जाता है। चित्त की शुद्धि से आत्मज्ञान के उदय की योग्यता आती है और फिर आत्मज्ञान से मोक्ष प्राप्त होता है। कर्ममार्ग भी परम्परा से मोक्ष की ओर ले जा सकता है इसलिए जिन साधकों की ज्ञाननिष्ठा नहीं है उनके लिए यह मन्त्र कर्मनिष्ठा का विधान करता है।

इस प्रकार शङ्कर-मत में ईशोपनिषद् का प्रथम मन्त्र ज्ञाननिष्ठा का प्रतिपादक है ,जो उसमें व्याप्त है। ब्रह्म सबमें है, कोई भी अंश उससे रहित नहीं है। ईश्वर आत्मा होने से सर्वत्र और सबमें व्याप्त रहता है। यह जगत् ब्रह्म से उत्पन्न होता है, उसी में स्थित है और उसी में लय हो जाता है। ब्रह्म ही इस जगत् का वास्तविक स्वरूप है। ऋग्वेद (10/90/2) में भी कहा गया है - 'पुरुष एव इदं सर्वम्', यह सम्पूर्ण जगत् ब्रह्म ही है।

शाङ्कर मत में ईश्वर चराचर जगत् का आत्मा है - ऐसी भावना से युक्त साधक का त्याग में ही अधिकार है, कर्म में नहीं। आत्मा में निष्ठा रखने वाला साधक सर्वत्र आत्मा को जानकर जगत् का परित्याग कर देता है और फिर इस त्याग से अपनी आत्मा का पालन करता है। 'सब कुछ ब्रह्म है', इस समझ के साथ त्यागपूर्वक आत्मा पालनीय है। मन्त्र के अन्त में त्यागी के लिए नियमविधि का निर्देश है कि किसी के धन की आकांक्षा न करो अथवा आकांक्षा न करो, धन किसका है? अर्थात् किसी का भी नहीं है। 'स्वित्' को अनर्थक निपात मानने पर पहला अर्थ और प्रश्नवाचक मानने पर दूसरा अर्थ ग्रहणीय है। धन से समस्त भोग्य पदार्थ समझने चाहिए। संसार में कोई भी वस्तु ऐसी नहीं है जो अचल होकर किसी के पास सदा रहे। इसलिए लोभ उचित नहीं, त्याग ही आचरणीय है।

4.3.3 आत्मज्ञानशून्य व्यक्ति की निन्दा

असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसाऽऽवृताः।
तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः।। 3।।

अन्वय और अर्थ- असुर्या = असुरों के; नाम = (जो) प्रसिद्ध; लोकाः = (नाना प्रकार की योनियां एवं नरकरूप) लोक हैं; ते = वे सभी; अन्धेन तमसा = (अज्ञान तथा दुःख क्लेशरूप) महान् अन्धकार से; आवृताः = आच्छादित हैं। ये के च = जो कोई भी; आत्महनः = आत्मा का हनन करने वाले; जनाः = मनुष्य हैं; ते = वे; प्रेत्य = मरकर; तान् = उन्हीं (भंयकर लोकों) को; अभिगच्छन्ति = बार-बार प्राप्त होते हैं।। 3।।

व्याख्या -आत्मतत्त्व के स्वरूप-वर्णन से पूर्व इस मन्त्र में आत्मघाती को चेतावनी दी गयी है। शङ्कर आदि अद्वैताचार्यों के मत में आत्मा को न जानने वाला 'अज्ञानी' जन ही आत्मघाती है, जो आत्मा का नाश करता है । आत्मा के वास्तविक स्वरूप को न जानना और अज्ञान में रहना ही 'आत्मघात' है । आत्मा प्रकाशरूप है। वह सबमें विद्यमान है। वह पूर्ण है, अखण्ड है, पर अज्ञानी देह को ही आत्मा समझने के कारण उससे अनजान रहता है और उसे जानना भी नहीं चाहता है । वह भेदबुद्धि से युक्त होता है, इच्छाओं के साथ कर्मों में प्रवृत्त होता है और सतत दुःखों को भोगता है। वह तो बार-बार मरकर कर्मफलों का भोग करने के लिए नाना योनियों में जन्म प्राप्त करता रहता है। 'आत्मघात' रूप दोष का फल संसार में जन्ममृत्युचक्र में बंधना है। विविध योनियों में जन्म लेना ही संसरण है । ये जन्म ही विविध लोक हैं क्योंकि इनमें जीव अपने कर्म-फलों का लोकन अर्थात् भोग करता है । ये लोक ही 'असुर्य' लोक हैं क्योंकि ये केवल असुरों के योग्य हैं । असुर्य लोक से कूकर-शूकर आदि विभिन्न शोकपूर्ण आसुरी योनियों और भयंकर नरक आदि लोकों का अर्थ भी लिया जा सकता है । जो आत्मज्ञान में प्रवृत्त नहीं होते और कर्मों को भी फल की कामना के साथ करते हैं उनको अत्यन्त घोर तमस् से घिरे इन्हीं लोकों में बार-बार आना पड़ता है ।

इस मन्त्र में आत्मघाती के लिए अधोगति का निर्देश किया गया है । सामान्य रूप से कह सकते हैं कि उपनिषद् के प्रथम मन्त्र में त्यागपूर्वक आत्मज्ञान का उपदेश दिया गया है, फिर दूसरे मन्त्र में त्याग में असमर्थ जनों के लिए कर्ममार्ग का उपदेश दिया गया; परन्तु जो मनुष्य इन दोनों मार्गों में से किसी भी मार्ग को नहीं अपनाते, उनकी पतनरूप यात्रा का वर्णन इस मन्त्र में किया गया है।

4.3.4 मन्त्र 4-5 - आत्मा का स्वरूप

अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद्देवा आप्नुवत् पूर्वमर्षत् ।
तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति ।। 4।।

अन्वय और अर्थ - (तत्) = वह आत्मा; अनेजत् = अचल; एकम् = एक; (और) मनसः = मन से (भी); जवीयः= अधिक तीव्र गति वाला है। पूर्वम् = सबके पहले; अर्षत् = गया हुआ है; एनत् = (इसलिए) इन को; देवाः = इन्द्रादि देवता या इन्द्रियां भी; न आप्नुवन् = नहीं जान सके हैं । तत् = वह (आत्मा); अन्यान् = दूसरे; धावतः = दौड़ने वालों को; तिष्ठत् = (स्वयं) स्थित रहते हुए ही; अत्येति = अतिक्रमण कर जाता है । तस्मिन् = उसके होने पर ही (उस की सत्ता से); मातरिश्वा = वायु (आदि देवता); अपः = (जलवर्षा आदि) क्रिया; दधाति = सम्पादन करने में समर्थ होते हैं ।। 4।।

व्याख्या- जिस आत्मा को न जानने से अज्ञानी जन संसार में जन्म लेते रहते हैं और जिसको जानकर ज्ञानी मुक्त हो जाते हैं उसके स्वरूप का विवेचन इन दो मन्त्रों में किया जा रहा है। इस मन्त्र में कहा गया है कि परब्रह्म ही परमात्मा है। वह अचल और कम्पनरहित है। आत्मा 'एक' है। एक सर्वव्यापी तत्त्व में गति नहीं होती है क्योंकि उसके लिए कोई खाली स्थान नहीं है। वह एक ही सब

प्राणियों में वर्तमान है, इसलिए वह अद्वितीय है। सर्वत्र व्याप्त होने से वह गति में मन से भी अधिक (वेगवान् है । जहाँ तक मन की गति है वह उससे भी आगे पहले से ही विद्यमान है। मन की गति लोक में प्रसिद्ध है पर आत्मा तो सर्वव्याप्त है। मन जहाँ जहाँ दौड़ कर पहुंचता है आत्मतत्त्व वहाँ पहले से विद्यमान होता है।

अपने-अपने विषयों का प्रकाशन करने वाली इन्द्रियाँ ही 'देव' हैं। चक्षु रूप का, जिह्वा रस का, नासिका गन्ध का, त्वचा स्पर्श का और कर्ण शब्द का प्रकाशन करते हैं। ये सब इन्द्रियाँ केवल अपने-अपने विषयों का प्रकाशन कर सकती हैं, आत्मा का प्रकाशन नहीं कर सकती। देव को 'देवता' वाचक मानने पर अर्थ होगा कि इन्द्र, सूर्य आदि देवता भी आत्मा को नहीं जान सकते हैं। ब्रह्म या आत्मा तो सर्वजगत् कारण या ज्ञानस्वरूप है। सामान्य अर्थ है कि मन, इन्द्रियाँ और देवगण आत्मा का साक्षात्कार नहीं कर सकते हैं। वह स्थिर रहते हुए भी गतिशील काल, गरुड़ और वायु आदि देवताओं को पार करके आगे निकल जाता है।

आत्मा के अधिष्ठान में ही जीवन और जगत् के सभी कार्य होते हैं । केनोपनिषद् में 'मातरिश्वा' वायु का नाम है। अथर्ववेद में प्राण को मातरिश्वा कहा गया है। यह वायु देव या प्राण रूप मातरिश्वा ब्रह्म या आत्मा की सत्ता में ही अपने कर्मों का सम्पादन करने में समर्थ होता है । ब्रह्म की स्थिति से ही ब्रह्माण्ड में वायु आदि शक्तियाँ और शरीर में प्राण आदि शक्तियां अपने-अपने कार्य करती हैं - यह तात्पर्य है।

तदेजति तन्नैजति तद् दूरे तद्वन्तिके ।
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः ।। 5।।

अन्वय और अर्थ -तत = वह (आत्मा); एजति = चलता है; तत् = वह; न एजति = नहीं चलता है; तत् = वह; दूरे = दूर से भी दूर है; तत् = वह; उ अन्तिके = अत्यन्त समीप है । तत् = वह; अस्य = इस; सर्वस्य = समस्त जगत् के; अन्तः = भीतर (परिपूर्ण) है; तत् = (और) वही; अस्य = इस; सर्वस्य = समस्त जगत् के; उ बाह्यतः = बाहर भी है ।। 5।।

व्याख्या-अब आत्मा की अचिन्त्य शक्ति और व्यापकता का वर्णन करते हैं। वह ब्रह्मरूप आत्मतत्त्व चलता है और नहीं चलता है । शङ्कर आदि अद्वैताचार्यों के अनुसार आत्मा व्यापक होने से स्वरूपतः निश्चल है, किन्तु शरीर आदि की उपाधि से युक्त होकर चलता हुआ सा प्रतीत होता है । यह ठीक वैसे ही है जैसे सूर्य स्वयं नहीं चलता है पर हिलते हुए पानी में सूर्य के प्रतिबिम्ब को हिलता हुआ देखकर हम सूर्य के हिलने की बात करते हैं। ब्रह्म या आत्मा के चलने या न चलने की व्याख्या इस प्रकार भी की जा सकती है कि वह सगुण साकार रूप में प्रकट होकर लीला करता है, यह उसका चलना है । पर निर्गुण निराकार रूप में वह सदा अचल स्थित रहता है यह उसका न चलना है । आत्मा सर्वत्र समान रूप से व्याप्त होने से दूर है और समीप भी । कोई भी ऐसा स्थान नहीं है जहाँ वह न हो। शङ्कर आदि के एक दूसरे अर्थ के अनुसार ब्रह्म अज्ञानी को सैकड़ों वर्षों में भी न प्राप्त हो सकने के कारण दूर से दूर है, पर ज्ञानी के लिए आत्मा का रूप होने से अत्यन्त समीप है । ब्रह्म

अविद्वानों के लिए अगोचर होने से दूर है और विद्वानों के लिए गोचर होने से पास है। संसार में कुछ पदार्थ किसी के अन्दर ही होते हैं बाहर नहीं । कुछ बाहर ही होते हैं अन्दर नहीं । किन्तु ब्रह्म इस जगत् का मूल कारण है, इसका परम आधार है अतः वह सबके भीतर और बाहर सर्वत्र परिपूर्ण है। प्रथम मन्त्र में कहा ही जा चुका है, 'ईशा वास्यमिदं सर्वम्'। गीता में भी कहा गया है कि आत्मा में ही यह सब जगत् ओतप्रोत है जैसे सूत्र में मणियाँ (गीता 7/7) । इस प्रकार इस मन्त्र में विरोधाभास द्वारा आत्मा की विलक्षणता बताई गयी है ।

4.3.5 मन्त्र 6-7 सर्वत्र आत्मभाव रखने वाले ज्ञानी की स्थिति

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति ।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते ।। 6।।

अन्वय और अर्थ - तु = परन्तु; यः = जो (ज्ञानी) मनुष्य; सर्वाणि = सम्पूर्ण; भूतानि = प्राणियों को; आत्मनि = आत्मा में; एव = ही; अनुपश्यति = निरन्तर देखता है; च = और; सर्वभूतेषु = सम्पूर्ण प्राणियों में; आत्मानम् = आत्मा को (देखता है); ततः = उसके पश्चात् (वह कभी भी); न विजुगुप्सते = किसी से घृणा नहीं करता ।। 6।।

व्याख्या -अब अगले दो मन्त्रों में सर्वत्र आत्मा को देखने वाले ज्ञानी की स्थिति का वर्णन किया जा रहा है। आत्मा एक और अद्वितीय है। वही एक आत्मा सबमें है । अपने और पराये का भेद वास्तविक नहीं है। अद्वैतमत में जो तत्त्वदर्शी होता है वह सर्वत्र एक आत्मा का दर्शन करता है। ज्ञानी के लिए भेद समाप्त हो जाते हैं। वह सबको अपने में और अपने को सबमें देखता है। आत्मज्ञान के फलस्वरूप ज्ञानी सभी प्राणियों में समानता का अनुभव करता है। ज्ञानी आत्मा के एकत्व को भली भांति समझता है। इस अभेद-ज्ञान के फलस्वरूप वह किसी से घृणा नही करता है। वह न किसी की निन्दा करता है और न तिरस्कार। आत्मज्ञाता विद्वान् जानता है कि मैं ही परब्रह्म हूँ, मुझमें ही सब स्थित है, मैं ही तो सब भूतों में स्थित हूँ - मेरे अतिरिक्त कुछ दूसरा है ही नहीं - इसलिए उसे किसी से घृणा नहीं होती है । घृणा अपने से भिन्न किसी दूषित पदार्थ से होती है । परन्तु ज्ञानी के लिए नित्य विशुद्ध आत्मा का दर्शन करने के कारण घृणा का कोई निमित्त नहीं रह जाता है । घृणा से जुगुप्सा, निन्दा, द्वेष, दया, भय आदि सभी विकार ग्रहण किये जा सकते हैं, जो दूसरों को अपने से भिन्न समझने से उत्पन्न होते हैं। इस मन्त्र में अद्वैत मत के एकत्व सिद्धान्त की स्थापना की गयी है।

यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद् विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः।। 7।।

अन्वय और अर्थ -यस्मिन् = जिस स्थिति में; विजानतः = (परब्रह्म को) भलीभांति जानने वाले ज्ञानी के (अनुभव में); सर्वाणि = सम्पूर्ण; भूतानि = प्राणी; आत्मा = एकमात्र आत्मा; एव = ही; अभूत् = हो जाते हैं; तत्र = उस अवस्था में; एकत्वम् = एकता का; अनुपश्यतः = निरन्तर साक्षात् करने वाले के लिये; कः = कौन सा; मोहः = मोह (रह जाता है और); कः = कौन सा; शोकः = शोक (हो सकता है); (वह शोक-मोह से सर्वथा रहित आनन्दपरिपूर्ण हो जाता है) ।। 7।।

व्याख्या -ज्ञानी के सर्वत्र एक आत्मा के दर्शन करने के लाभ को यहाँ और स्पष्ट किया जा रहा है। सर्वत्र एक आत्मा की भावना रखने वाले, अभेददर्शी ज्ञानी के लिए शोक और मोह का अवकाश नहीं रह जाता है। शोक और मोह का मूल अज्ञान है। अज्ञान के कारण ही पुरुष प्राणियों में भेद करता है। ज्ञानी का अज्ञान दूर हो जाता है, अतः वह सर्वत्र एकत्व दर्शन करने लगता है। इसीलिए कहा गया है कि ज्ञानी के लिए अज्ञान के कार्यरूप शोक, मोह, भय आदि का पूरी तरह अभाव हो जाता है। आत्मज्ञ के लिए न अपने से अतिरिक्त कुछ है जिसे प्राप्त किया जाए और न अपने से भिन्न कुछ है जिसके न मिलने का शोक किया जाये। 'यस्मिन्' से तात्पर्य है जिस काल में, जिस स्थिति में, जिस भी समय ज्ञान-प्राप्ति होती है उसी समय शोक-मोह का अवसान हो जाता है। जिस क्षण से ज्ञानी एकत्व का अनुभव करने लगता है उसी क्षण से शोक आदि विकारों से मुक्त हो जाता है। यह नैतिक शिक्षा भी दी गयी है कि जीवन को आनन्द से परिपूर्ण करने के लिए सभी प्राणियों की समानता या एकता का अनुभव करना आवश्यक है।

4.3.6 मन्त्र 8 - आत्मा का स्वरूप

स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम्।
कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः।। 8।।

अन्वय और अर्थ - सः = वह आत्मा; शुक्रम् = परम तेजोमय; अकायम् = सूक्ष्म शरीर से रहित; अव्रणम् = छिद्ररहित (या क्षतरहित); अस्नांविरम् = शिराओं से रहित (स्थूल पा´्चभौतिक शरीर से रहित); शुद्धम् = कालुष्यरहित; अपापविद्धम् = पाप से शून्य; कविः = सर्वद्रष्टा; मनीषी = सर्वज्ञ एवं ज्ञानस्वरूप; परिभूः = सर्वोपरि विद्यमान (एवं सर्वनियन्ता); स्वयम्भूः = स्वेच्छा से प्रकट होने वाला है; पर्यगात् = और सब ओर गया हुआ है। शाश्वतीभ्यः = (उसी ने) अनादि; समाभ्यः = काल से; याथातथ्यतः = यथायोग्य रीति से; अर्थान् = सम्पूर्ण पदार्थों का; व्यदधात् =विभाग या रचना की है ।। 8।।

व्याख्या - इस मन्त्र में कई विशेषणों द्वारा सर्वव्यापी 'आत्मा' के स्वरूप का वर्णन किया गया है। यहाँ आत्मा की शरीर से भिन्नता भी प्रतिपादित है। शास्त्रों में तीन प्रकार के शरीर वर्णित हैं - स्थूल शरीर, सूक्ष्म शरीर और कारण शरीर। रक्त, मांस आदि से बना शरीर स्थूल शरीर है, जो मृत्यु के बाद नष्ट हो जाता है। पंच प्राण, पंच ज्ञानेन्द्रियां, पंच कर्मेन्द्रियाँ, मन और बुद्धि - इन सत्रह अवयवों से बना शरीर 'सूक्ष्म शरीर' कहलाता है जो पुनर्जन्म पर आत्मा के साथ दूसरे शरीर में प्रवेश करता है। इस शरीर से भी सूक्ष्म है तीसरा कारण शरीर, जो अज्ञान ही है। इसके नाश होने पर ही जीवात्मा ब्रह्म में लय रूप मोक्ष को प्राप्त करता है। आत्मा इन तीनों शरीरों से रहित है। 'अव्रणम्' और 'अस्नाविरम्' विशेषणों से आत्मा के स्थूलशरीर का निषेध किया गया है। 'अकायम्' से उसके सूक्ष्म शरीर का निषेध किया गया है। 'शुद्धम्' अर्थात् कालुष्यरहित विशेषण से उसको अविद्या रूप मल से रहित बताया गया है, जिससे उसके कारण शरीर का निषेध होता है। यही नहीं, वह तो आकाश के

समान सर्वत्र व्याप्त और परिपूर्ण होने से 'पर्यगात्' और शुक्ल, शुद्ध या प्रकाशमान होने से 'शुक्रम्' है। वह धर्म और अधर्म रूप 'पाप' के सम्बन्ध से रहित होने से 'अपापविद्धम्' है। वह तीनों कालों का द्रष्टा होने से 'कवि', मन का स्वामी या सर्वज्ञ होने से 'मनीषी,' सबसे ऊपर विराजमान अथवा नाना रूपों में सब ओर विद्यमान होने से 'परिभू' और स्वयं ही प्रकट होने वाला होने से 'स्वयंभू' है। शङ्कर, महीधर, उपनिषद् ब्रह्मयोगी आदि भाष्यकारों के विचार में उपर्युक्त अर्थ की सङ्गति के लिए सः, कविः आदि पुंल्लिङ्ग शब्दों को ध्यान में रखकर 'शुक्रम्' आदि विशेषण भी छान्दस लिङ्गव्यत्यय द्वारा पुंल्लिङ्ग में लिये जाने चाहिए।

उव्वट, अनन्ताचार्य, वेदान्तदेशिक आदि ने 'सः' से आत्मज्ञानी या ब्रह्मदर्शी का कर्ता रूप में, 'शुक्रम्' आदि विशेषणों से ब्रह्म का कर्म रूप में, और 'पर्यगात्' से 'प्राप्त करता है' अर्थ में क्रिया का ग्रहण किया है । तदनुसार यहाँ आत्मज्ञानी के फल का निर्देश है कि वह ब्रह्म को जानने के फलस्वरूप शुक्र आदि विशेषणों वाले ब्रह्म को प्राप्त करता है।

मन्त्र के अन्तिम भाग में 'समाः' शब्द भिन्न रूप में ग्रहण किया जा सकता है। इससे 'काल' का तात्पर्य लेने पर भावार्थ होगा कि ब्रह्म शाश्वत वर्षों से यथायोग्य रीति से सभी पदार्थों की रचना, विभाजन और व्यवस्था करता आया है। शङ्कर, महीधर, आनन्दभट्ट आदि भाष्यकारों ने 'समाः' से संवत्सर के अधिपति प्रजापतियों का ग्रहण किया है। तब इस वाक्य का तात्पर्य होगा कि उस नित्य ब्रह्म ने शाश्वत संवत्सर नामक प्रजापतियों के लिए उनके यथाभूत, कर्म फल और साधन के अनुसार पृथक्-पृथक् कर्तव्य-पदार्थों का विभाजन किया है।

4.3.7 . 9-11 - विद्या और अविद्या का समुच्चय

अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते।
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायाँ रताः ॥ 9॥

अन्वय और अर्थ -ये = जो (मनुष्य); अविद्याम् = अविद्या की; उपासते = उपासना करते हैं, (वे); अन्धम् = अज्ञानस्वरूप; तमः = घोर अन्धकार में; प्रविशन्ति = प्रवेश करते हैं; (और) ये = जो (मनुष्य); विद्यायाम् = विद्या में; रताः = रत हैं (अर्थात् विद्या के मिथ्याभिमान में आसक्त हैं); ते = वे; ततः = उससे; उ = भी; भूयः इव = अधिक ही; तमः = अन्धकार में (प्रवेश करते हैं) ॥ 9॥

व्याख्या -शब्दार्थ की दृष्टि से ये तीनों मन्त्र जितने सरल हैं, भावार्थ की दृष्टि से उतने ही गूढ़ हैं। इसका कारण है कि भाष्यकारों द्वारा 'विद्या' और 'अविद्या' शब्दों की व्याख्या भिन्न-भिन्न रूप में की गयी है। फिर आचार्यों द्वारा स्थापित सिद्धान्त भी पृथक् व्याख्या का आधार हैं। यहाँ इन मन्त्रों का स्पष्टीकरण दो तरह से किया जा रहा है। इन तीन मन्त्रों में से पहले मन्त्र में विद्या और अविद्या के पृथक-पृथक् अनुष्ठान की निन्दा की गयी है, फिर दूसरे मन्त्र में दोनों के अनुष्ठान के अलग- अलग फल बताये गये हैं; अनन्तर तीसरे मन्त्र में समुच्चय के साथ दोनों के अनुष्ठान की प्रशंसा की गयी है।

स्पष्ट है कि विद्या और अविद्या के समुच्चय का प्रतिपादन ही यहाँ अभीष्ट है।

शङ्कराचार्य और उनकी परम्परा के दूसरे विद्वानों के अनुसार 'ज्ञानकर्म-समुच्चय' सम्भव नहीं है क्योंकि ज्ञाननिष्ठा अलग है और कर्मनिष्ठा अलग है। तभी ईशोपनिषद् के प्रथम मन्त्र में संन्यास में समर्थ लोगों के लिए ज्ञाननिष्ठा का प्रतिपादन किया गया है और दूसरे मन्त्र में उसमें असमर्थ जनों के लिए कर्मनिष्ठा का उपदेश दिया गया है। फिर तृतीय से अष्टम मन्त्र तक अज्ञानी की निन्दा और ज्ञानी द्वारा प्राप्त आत्मा के स्वरूप का वर्णन किया गया। इन मन्त्रों में अब बताया जा रहा है कि कर्मनिष्ठ जन किस प्रकार अधिक फल प्राप्त कर सकते हैं। शंकर मत में आत्मज्ञान और कर्म का समुच्चय नहीं हो सकता, विद्या और अविद्या परस्पर विपरीत हैं, इसलिए यहाँ विद्या का अर्थ है- 'देवताज्ञान' और अविद्या का अर्थ है- 'अग्निहोत्र आदि याज्ञिक कर्म।' तदनुसार मन्त्र का तात्पर्य है कि जो कर्मनिष्ठ जन जीवित रहने की इच्छा करते हैं और अग्निहोत्र आदि कर्मरूप अविद्या की ही उपासना करते हैं, वे अज्ञान रूप अन्धकार में जाते हैं। कर्मों के द्वारा उत्पन्न फलों के भोगार्थ बार-बार नाना योनियों में जन्म लेना ही 'घोर अन्धकार' में पड़े रहना है। अतः केवल कर्म की उपासना निन्दनीय है। किन्तु जो मनुष्य कर्म छोड़कर केवल देवताज्ञान रूप विद्या में ही अनुरक्त हैं वे तो उस अन्धकार से भी अधिक अन्धकार में प्रवेश करते हैं। इसका कारण है कि कर्मों का अनुष्ठान न करने के कारण उनके चित्त की शुद्धि की सम्भावना भी समाप्त हो जाती है। चित्त की शुद्धि से ज्ञान के उदय की आशा बनती है। इसीलिए केवल देवताओं के ज्ञान से सन्तुष्ट रहने वालों की गति अधिक अन्धकारमय कही गयी है।

शङ्कराचार्य और उनकी परम्परा के विद्वानों के अतिरिक्त, अनेक दूसरे आचार्य जैसे - उवट, वेदान्तदेशिक, श्री अरविन्द, डॉ० राधाकृष्णन् आदि ने यहाँ 'विद्या' से ज्ञान, आत्मज्ञान या ब्रह्मविद्या का अर्थ लिया है और स्वर्गादि लोकों की प्राप्ति अथवा इस लोक के विविध भोगों की प्राप्ति के साधन कर्म को 'अविद्या' माना है। तदनुसार इन मन्त्रों में कहा गया है कि ज्ञान और कर्म - दोनों तत्त्वों को भली-भांति समझकर उनका साथ-साथ अनुष्ठान करने वाला मनुष्य ही इन दोनों साधनों द्वारा सर्वोत्तम फल प्राप्त कर सकता है। इस मन्त्र में पहले दोनों के यथार्थ स्वरूप को न समझकर अनुष्ठान करने वालों की दुर्गति का वर्णन किया जा रहा है।

जो मनुष्य भोगों में आसक्त होकर उनकी प्राप्ति के साधन रूप (अविद्या) विविध प्रकार के कर्मों का अनुष्ठान करते हैं, वे उन कर्मों के फलस्वरूप अज्ञानान्धकार से परिपूर्ण विविध योनियों और भोगों को ही प्राप्त होते हैं। वे मनुष्य-जन्म के चरम और परम लक्ष्य ब्रह्म को न पाकर निरन्तर जन्म-मृत्युरूप संसार-चक्र में पड़े हुए विविध तापों से संतप्त होते रहते हैं।

दूसरे, जो मनुष्य न तो अन्तःकरण की शुद्धि के लिये कर्तापन के अभिमान से रहित कर्मों का अनुष्ठान करते हैं और न विवेक-वैराग्यादि ज्ञान के प्राथमिक साधनों का ही सेवन करते हैं; परन्तु केवल शास्त्रों को पढ़-सुनकर अपने में विद्या का - ज्ञान का मिथ्या आरोप करके ज्ञानाभिमानी बन बैठते हैं, ऐसे मिथ्या ज्ञानी मनुष्य अपने को ज्ञानी मानकर, 'हमारे लिये कोई भी कर्तव्य नहीं है' इस प्रकार कहते हुए कर्तव्य कर्मों का त्याग कर देते हैं। इससे वे लोग सकाम भाव से कर्म करने वाले विषयासक्त

मनुष्यों की अपेक्षा भी अधिकतर अन्धकार को - पशु-पक्षी, शूकर-कूकर आदि नीच योनियों को और घोर नरकों को प्राप्त होते हैं। इस दृष्टि कोण से किय गये अर्थ के अनुसार केवल कर्म और केवल ज्ञान का मिथ्याभिमान निन्दनीय है। मोक्षप्राप्ति के लिए ब्रह्मज्ञान के साथ कर्मों को भी करना चाहिए; अतः यहाँ 'ज्ञानकर्म-समुच्चय' का उपदेश है।

अन्यदेवाहुर्विद्ययान्यदाहुरविद्यया।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद् विचचक्षिरे ।। 10।।

अन्वय और अर्थ -विद्यया = विद्या के यथार्थ अनुष्ठान से; अन्यत् एव = दूसरा ही फल; आहुः = बतलाते हैं; (और) अविद्यया = अविद्या के यथार्थ अनुष्ठान से; अन्यत् = दूसरा (ही) फल; आहुः = बतलाते हैं; इति = इस प्रकार; (हमने) धीराणाम् = (उन) धीर पुरुषों के; शुश्रुम = वचन सुने हैं; ये = जिन्होंने; नः = हमारे लिए; तत् = (उस विषय) की; विचचक्षिरे = व्याख्या की थी ।। 10 ।।

व्याख्या -इस मन्त्र में विद्या और अविद्या के समुच्चय के प्रतिपादन का कारण 'दोनों का फलभेद' बताया जा रहा है। शङ्करानुसारी अर्थ में विद्या देवताज्ञान है और अविद्या कर्म है। तदनुसार यहाँ कहा गया है कि विद्या रूप देवताज्ञान से अविद्या के फल से भिन्न ही देवलोक-प्राप्ति रूप फल मिलता है और अविद्यारूप कर्म से विद्या के फल से भिन्न पितृलोक-प्राप्ति रूप फल मिलता है। वेदवेत्ता तत्त्वदर्शी ज्ञानियों के ऐसे वचन हमने सुने हैं जिन्होंने हमारे लिए देवताज्ञान और कर्म के स्वरूप और फल की व्याख्या की थी। दोनों निष्ठाओं के भिन्न-भिन्न फल हैं। दोनों के फल बन्धनरूप हैं इसलिए निन्दनीय हैं।

दूसरी तरह से ऊपर की जा रही व्याख्या के प्रसङ्ग में इस मन्त्र का अर्थ है कि सर्वोत्तम फल प्राप्त कराने वाले ज्ञान (विद्या) के यथार्थ स्वरूप के अनुष्ठान का फल है- ब्रह्म की प्राप्ति; तो शास्त्र विहित और फल-कामना रहित कर्म (अविद्या) के यथार्थतः अनुष्ठान का फल है - मृत्युमय संसार से तरण। ये फल परस्पर एक दूसरे से भिन्न हैं ऐसा हमने बुद्धिमान् - ज्ञानी पूर्वजों से जाना और सुना है जिन्होंने इस विषय की व्याख्या करके भली-भांति समझाया था। अतः विद्या और अविद्या के स्वरूप और फल का ज्ञान हमें परम्परा **से प्राप्त हुआ है।**

विद्यां चाविद्यां च यस्तद् वेदोभयं सह।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते।। 11।।

अन्वय और अर्थ -यः = जो (मनुष्य); तत् उभयम् = उन दोनों को; (अर्थात्) विद्याम् = विद्या के तत्त्व को; च = और; अविद्याम् = अविद्या के तत्त्व को; च = भी; सह = साथ-साथ; वेद = यथार्थतः जान लेता है; अविद्यया = (वह) अविद्या के अनुष्ठान से; मृत्युम् = मृत्यु को; तीर्त्वा = पार करके; विद्यया = विद्या के अनुष्ठान से; अमृतम् = अमृत को; अश्नुते = प्राप्त कर लेता है ।। 11।।

व्याख्या - अब विद्या और अविद्या के समुच्चयपूर्वक अनुष्ठान से प्राप्त होने वाले अधिक फल का वर्णन किया जा रहा है। समुच्चय का अवलम्बन लेने पर अविद्या से मृत्यु को पार करते हैं और विद्या से अमृत को पाते हैं। विद्या और अविद्या के समान 'मृत्यु' और 'अमृत' शब्दों के अर्थ भी कई तरह

से सम्भव है। शङ्कर आदि अद्वैत-आचार्यों के अनुसार यहाँ कहा गया है कि जो मनुष्य विद्या रूप देवताज्ञान और अविद्या रूप अग्निहोत्र आदि कर्म - इन दोनों को एक साथ अनुष्ठान करने योग्य समझता है और फिर इन दोनों को साथ-साथ करता है वह अविद्या से कर्मज्ञानात्मक मृत्यु को तरकर, विद्या से देवतात्मभाव रूप अमृत को प्राप्त करता है। मनुष्य के स्वाभाविक कर्म और ज्ञान ही 'मृत्यु' शब्द से कहे गये हैं। ये क्षणिक आनन्द प्रदान करते हैं अतः दुःख के कारण हैं। अग्निहोत्र आदि शा6विहित कर्मों का अनुष्ठान करने वाला मनुष्य रागवश किये जाने वाले कर्म और ज्ञान से दूर हट जाता है यही मृत्यु का तरण है। फिर वह विद्या अर्थात् देवताज्ञान से अमृत अर्थात् देवतात्मभाव को पाता है। देवताज्ञान से देवतारूप की प्राप्ति होती है। मोक्ष रूप अमरता तो केवल ज्ञान से सम्भव है। इस प्रकार कर्मनिष्ठ जन के लिए अधिक फल के उद्देश्य से कर्म और उपासना का समुच्चय करणीय है।

दूसरी तरह से ऊपर की जा रही व्याख्या के प्रसङ्ग में इस मन्त्र का अर्थ है कि दोनों प्रकार के अनर्थों से बचने का एकमात्र उपाय कर्म (अविद्या) और ज्ञान (विद्या) के रहस्य को साथ-साथ समझकर उनका यथायोग्य अनुष्ठान करना ही है। जो मनुष्य इन दोनों के तत्त्व को एक ही साथ भलीभांति समझ लेता है, वह शास्त्रविहित कर्मों का स्वरूपतः त्याग नहीं करता, बल्कि उनमें कर्तापन के अभिमान से तथा रागद्वेष और फलकामना से रहित होकर उनका यथायोग्य आचरण करता है। इस भाव से कर्मानुष्ठान करने के फलस्वरूप उसका अन्तःकरण समस्त विकारों से रहित हो जाता है। इस कर्म-साधन के साथ-ही-साथ विवेक-वैराग्यसम्पन्न होकर निरन्तर ब्रह्मविचार रूप ज्ञानाभ्यास करते रहने से ब्रह्म के यथार्थ ज्ञान का उदय होने पर वह शीघ्र ही परब्रह्म को प्राप्त कर लेता है।

4.3.8 मन्त्र 12-14 सम्भूति और असम्भूति का समुच्चय

अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽसम्भूतिमुपासते।
ततो भूय इव ते तमो य उ सम्भूत्यां रताः।। 12।।

अन्वय और अर्थ -ये = जो (मनुष्य); असम्भूतिम् = असम्भूति की; उपासते = उपासना करते हैं; (ते) वे; अन्धम् = अज्ञानरूप; तमः = घोर अन्धकार में; प्रविशन्ति = प्रवेश करते है; (और) ये = जो; सम्भूत्याम् = सम्भूति में; रताः = रत हैं (अर्थात् उनकी उपासना के मिथ्याभिमान में मत्त हैं); ते = वे; ततः = उनसे; उ = भी; भूयः इव = अधिक ही; तमः = अन्धकार में (प्रवेश करते हैं) **।। 12।।**

व्याख्या -विद्या और अविद्या के समुच्चय के प्रतिपादन के बाद अब समान शैली में इन तीन मन्त्रों में 'असम्भूति' और 'सम्भूति' की समुच्चय पूर्वक उपासना का उपदेश दिया जा रहा है। इसी उद्देश्य से पहले इस मन्त्र में उनकी अलग-अलग उपासना की निन्दा की गयी है। कहा गया है कि जो असम्भूति की उपासना करते हैं वे घोर अन्धकार में जाते हैं और जो सम्भूति की उपासना करते हैं वे उससे भी अधिक अन्धकार में प्रवेश करते हैं। 'सम्भूति' और 'असम्भूति' शब्दों के अर्थ पर विद्वानों का मतभेद है। चौदहवें मन्त्र में 'असम्भूति' के स्थान पर 'विनाश' शब्द का प्रयोग किया गया है।

शङ्कर और दूसरे कुछ अद्वैताचार्यों ने 'सम्भूति' का अर्थ किया है - सम्भवन, अतः 'उत्पन्न होना' जिसका धर्म है वह 'कार्य' सम्भूति है। कार्यों में आदि कार्य हिरण्यगर्भ है, इसलिए हिरण्यगर्भ नामक कार्य-ब्रह्म ही यहाँ 'सम्भूति' शब्द से वाच्य है। सम्भूति से भिन्न असम्भूति है। शङ्कर के अनुसार यह कार्य-भिन्ना कारणस्वरूपा प्रकृति है। यह सब कार्यों की बीज है। इसकी उत्पत्ति नहीं होती इसलिए इसे 'अव्याकृत प्रकृति' के नाम से जाना जाता है। इसे अज्ञानस्वरूप अविद्या भी कह सकते हैं। इस दृष्टिकोण से प्रस्तुत मन्त्र का तात्पर्य है कि जो अज्ञानी मनुष्य 'असम्भूति' अर्थात् अव्याकृत प्रकृति की उपासना करते हैं, वे उसके 'प्रकृतिलय' रूप फल को प्राप्त करते हैं, जहाँ से पुनः जन्म-मरण-चक्र में आना होता है अतः वह अन्धकार-प्राप्ति ही है। और जो मनुष्य केवल 'सम्भूति' अर्थात् हिरण्यगर्भ रूप कार्यब्रह्म की उपासना में लीन रहते हैं वे अष्ट महासिद्धियों से युक्त ऐश्वर्य की प्राप्ति करते हैं। अलौकिक शक्तियों को पाकर भी वे आवागमन से बच नहीं सकते, बल्कि ऐश्वर्यवान् होने से उनके लिए मुक्ति-प्राप्ति अधिक कठिन हो जाती है; इसीलिए कहा जाता है कि वे अधिक अन्धकार में प्रवेश करते हैं।

एक दूसरी व्याख्या के अनुसार 'असम्भूति' का अर्थ है - जिसकी पूर्णसत्ता न हो अर्थात् विनाश शील देव, पितर, मनुष्य आदि योनियां और उनकी भोग-सामग्रियां। 'सम्भूति' का अर्थ है - जिसकी सत्ता पूर्णरूप से है अर्थात् सम्पूर्ण जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और विनाश करने वाला अविनाशी पर ब्रह्म। इन दोनों के स्वरूप को भली-भांति समझकर इनकी साथ-साथ उपासना करने वाला मनुष्य ही सर्वोत्तम फल प्राप्त करता है; और दोनों के यथार्थ स्वरूप को न समझकर पृथक्-पृथक् अनुष्ठान करने वाला दुर्गति को प्राप्त करता है। इस मन्त्र में दोनों की अलग-अलग उपासना की निन्दा की जा रही है - जो मनुष्य भोग-सामग्रियों की प्राप्ति के लिए विनाशशील देव, पितर, मनुष्य आदि की उपासना में लगे रहते हैं, वे उन्हीं के लोकों और भोग-योनियों को प्राप्त करते हैं जो स्वयं ही विनाशशील हैं। यही उनका अज्ञान रूप घोर अन्धकार में प्रवेश करना है। दूसरे जो मनुष्य शास्त्र के तात्पर्य को तथा ब्रह्म के रहस्य को न समझने के कारण ईश्वरोपासना के मिथ्या अभिमान में रत रहते हैं वे नीच-योनियों में जाने के कारण मानो अधिकतर अन्धकार में प्रवेश करते हैं। (गीता 7/20-23, 16/18-19)।

अन्यदेवाहुः सम्भवादन्यदाहुरसम्भवात्।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे।। 13।।

अन्वय और अर्थ - सम्भवात् = सम्भूति की उपासना से; अन्यत् एव = दूसरा ही फल; आहुः = बतलाते हैं; (और) असम्भवात् = असम्भूति की उपासना से; अन्यत् = दूसरा (ही) फल; आहुः = बतलाते हैं; इति = इस प्रकार; (हमने) धीराणाम् = (उन) धीर पुरुषों के; शुश्रुम = वचन सुने हैं; ये = जिन्होंने; नः = हमारे लिए; तत् = उस (विषय) की; विचचक्षिरे = व्याख्या की थी ।।13।।

व्याख्या - पिछले मन्त्र में सम्भूति और असम्भूति की उपासनाओं के समुच्चय के उद्देश्य से दोनों की अलग-अलग उपासना की निन्दा की गयी। दोनों के फलों का भेद ही दोनों के समुच्चय का कारण है। बुद्धिमान ऋषियों ने हमारे लिए दोनों के भिन्न-भिन्न फलों की व्याख्या की है। यहाँ

सम्भूति को 'सम्भव' और असम्भूति को 'असम्भव' कहा गया है। शङ्कर आदि अद्वैतमत के समर्थक भाष्यकारों के अनुसार तत्त्ववेत्ताओं द्वारा सम्भूति अर्थात् कार्यब्रह्म की उपासना का फल अणिमा आदि ऐश्वर्यों की प्राप्ति बताया गया है, जब कि असम्भूति अर्थात् अव्याकृत प्रकृति की उपासना का फल प्रकृतिलय' कहा गया है।

'सम्भूति' और 'असम्भूति' को क्रमशः अविनाशी परमात्मा और विनाशशील देव पितर-मनुष्य आदि के अर्थ में ग्रहण करने पर मन्त्र का भाव है कि अविनाशी ब्रह्म की यथार्थ उपासना से परब्रह्म की प्राप्ति रूप फल मिलता है तो विनाशशील देव-पितर आदि की यथार्थ उपासना से भोग्य पदार्थ रूप फल मिलता है। दोनों के फल एक दूसरे से विलक्षण और भिन्न हैं। इस प्रकार हमने धीर तत्त्वज्ञानी महापुरुषों से सुना है, जिन्होंने हमें इस विषय में व्याख्या करके भली-भांति समझाया था।

सम्भूतिं च विनाशं च यस्तद् वेदोभयं सह।
विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा सम्भूत्यामृतमश्नुते ॥ 14॥

अन्वय और अर्थ - यः = जो मनुष्य; तत् उभयम् = उन दोनों को; (अर्थात्) सम्भूतिम् = सम्भूति को; च = और; **विनाशम्** = असम्भूति को; च = भी; सह = साथ-साथ; वेद = यथार्थतः जान लेता है; **विनाशेन** = (वह) विनाशी असम्भूति की उपासना से; मृत्युम् = मृत्यु को; **तीर्त्वा** = पार करके; **सम्भूत्या** = सम्भूति की उपासना से; अमृतम् = अमृत को; अश्नुते = प्राप्त कर लेता है ॥ 14॥

व्याख्या -इस मन्त्र में सम्भूति और असम्भूति की उपासनाओं के समुच्चय द्वारा प्राप्त उत्कृष्ट फल का उल्लेख है। मन्त्र में 'सम्भूति' के साथ 'विनाश' शब्द का प्रयोग हुआ है। सामान्य रूप से इससे 'असम्भूति' का अर्थ ग्रहणीय लगता है किन्तु आचार्य शङ्कर ने अपने अर्थ की संगति के लिए 'विनाश' को सम्भूति का वाचक माना है और फिर मन्त्रोक्त सम्भूति पद में अकारलोप मानकर उसे 'असम्भूति' रूप में ग्रहण किया है। उनका मत है कि कार्य का धर्म विनाश है इसलिए विनाश से हिरण्यगर्भ रूप कार्यब्रह्म ही अभिप्रेत है जिसे पहले 'सम्भूति' कहा गया है। शङ्कर के अनुसार यहाँ अर्थ है कि जो पुरुष असम्भूति अर्थात् अव्याकृत प्रकृति और विनाश अर्थात् हिरण्यगर्भ रूप कार्यब्रह्म की उपासनाओं को भली-भांति समझकर एक साथ करता है, वह उपासक कार्यब्रह्म (विनाश, सम्भूति) की उपासना से अनैश्वर्य रूप 'मृत्यु' को पार करके, अव्याकृत प्रकृति (असम्भूति) की उपासना से प्रकृतिलय रूप 'अमृत' को प्राप्त करता है। यह प्रकृतिलय मनुष्य - भाव को अपेक्षा से अमरता ही है जो समुच्चयपूर्वक की गयी उपासना का फल है। इसे परम फल मोक्ष समझना अनुचित है क्योंकि वह तो एकमात्र आत्मज्ञान से प्राप्त होता है।

'विनाश' को 'असम्भूति' का पर्याय मानकर उससे विनाशशील देव - पितर - मनुष्य आदि का अर्थ ग्रहण करने वाले विद्वानों की व्याख्या के अनुसार मन्त्र का तात्पर्य है - जो मनुष्य अविनाशी परमात्मा (सम्भूति) और विनाशशील देव (असम्भूति) आदि को साथ-साथ यथार्थ रूप से जान लेता है, वह विनाशशील देव आदि की उपासना से मृत्युमय संसार (मृत्यु) को पार करके अविनाशी परमात्मा की उपासना से मुक्ति (अमृत) को प्राप्त करता है। इस अर्थ के अनुसार दोनों उपासनाओं के सह अनुष्ठान

से साधक परम पुरुषार्थ को सिद्ध कर सकता है।

4.3.9 मन्त्र 15-16 अन्तकाल में उपासक की मार्ग-याचना

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम् ।
तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये ।। 15।।

अन्वय और अर्थ -पूषन् = हे सबका भरण-पोषण करने वाले (परमेश्वर); सत्यस्य = सत्यस्वरूप आप का; मुखम् = श्रीमुख; हिरण्मयेन = ज्योतिर्मय; पात्रेण = सूर्यमण्डलरूप पात्र से; अपिहितम् = ढका हुआ है; सत्यधर्माय = सत्यधर्म का अनुष्ठान करने वाले मुझको; दृष्टये = अपने दर्शन कराने के लिये; तत् = उस आवरण को; त्वम् = आप; अपावृणु = हटा लीजिये ।। 15।।

व्याख्या -विद्या और अविद्या तथा सम्भूति और असम्भूति का समुच्चयपूर्वक अनुष्ठान करने वाले उपासक को अन्तकाल में परमेश्वर से उनकी प्राप्ति के लिए किस प्रकार प्रार्थना करनी चाहिए, इस पर यहाँ दो मन्त्रों द्वारा प्रकाश डाला गया है । मरणोन्मुख कर्मनिष्ठ उपासक आत्मप्राप्ति के उद्देश्य से आदित्यमण्डल में सत्यस्वरूप ब्रह्म का साक्षात्कार करना चाहता है। वह स्वर्णिम सूर्यमण्डल के बाह्य दर्शन मात्र से सन्तुष्ट नहीं है । जिस प्रकार कोई वस्तु पात्र द्वारा ढके जाने पर दिखाई नहीं देती है ऐसे ही ज्योतिष्मान् सूर्यमण्डल रूप ढकने से सत्यस्वरूप ब्रह्म का स्वरूप या द्वार ढका हुआ है। उपासक उसका दर्शन करना चाहता है। वह पूषा नामक समस्त जगत् के पोषण कर्ता सूर्य से प्रार्थना करता है कि वह सत्यधर्मी है अतः उसके लिए वे ब्रह्म के मुख रूप द्वार को आवरणरहित कर दें जिससे वह सत्यस्वरूप ब्रह्म का दर्शन कर सकें । उपासक सत्य का उपासक है। सत्य ही उसका धर्म है इसलिए वह सत्यस्वरूप के दर्शन के पूर्णतया योग्य है । सत्य का साक्षात्कार ही तो मानव-जीवन का लक्ष्य है।

पूषन्नेकर्षे यम सूर्य प्राजापत्य व्यूह रश्मीन् समूह ।
तेजो यत्ते रूपं कल्याणतमं तत्ते पश्यामि
योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि।। 16।।

अन्वय और अर्थ- पूषन् = हे पोषण करने वाले; एकर्षे = हे अकेले गमन करने वाले; यम = हे सबके नियन्ता; सूर्य = हे ज्ञानियों (सूरियों) के परम लक्ष्यरूप; प्राजापत्य = हे प्रजापति के पुत्र; रश्मीन् = अपनी इन रश्मियों को; व्यूह = एकत्र कीजिये या हटा लीजिये; तेजः = अपने इस तेज को; समूह = समेट लीजिये या अपने तेज में मिला लीजिये। यत् = जो; ते = आपका; कल्याणतमम् = अतिशय कल्याणमय; रूपम् = (दिव्य) स्वरूप है; तत् = उस; ते = आपके (दिव्य) स्वरूप को; पश्यामि = मैं देख रहा हूँ। यः = जो; असौ = यह (सूर्य में स्थित परोक्ष); असौ = यह (शाó दृष्टि से प्रत्यक्ष), पुरुषः = परम पुरुष है; सः = वह; अहम् = मैं; अस्मि = हूँ ।। 16।।

व्याख्या -अन्तकाल में कर्मनिष्ठ उपासक आदित्य-मण्डल में स्थित ब्रह्म के साक्षात्कार की इच्छा से पुनः पूषा से प्रार्थना करता है । वह पूषा को विविध नामों से सम्बोधित करता है जो सूर्य के व्यापक स्वरूप के प्रकाशक हैं। समस्त जगत् का पोषण करने के कारण सूर्य 'पूषा' है । वह ज्ञानस्वरूप

अथवा आकाश में अकेला चलने से 'एकर्षि', समस्त जगत का नियन्त्रण और शासन करने से 'यम,' सर्व- प्रेरक अथवा सूरियों (ज्ञानियों) के परम लक्ष्य रूप होने से 'सूर्य,' और प्रजापति हिरण्यगर्भ के प्रिय पुत्र होने से 'प्राजापत्य' हैं। पोषणकर्ता सूर्य सगुण ब्रह्म का प्रतीक है । मरणोन्मुख उपासक अन्तकाल में सूर्य-मण्डल में विराजमान ब्रह्म का दर्शन करना चाहता है किन्तु आदित्य की तापक किरणें और उनका तेजस्वी स्वरूप उसकी दृष्टि अपहत करते हैं। रश्मि और तेज से सूर्य देव का यथार्थ स्वरूप आच्छादित है। अतः वह सूर्य से याचना करता है कि वे अपनी तप्त किरणों को तितर बितर कर दें और अपने उग्र तेज को समेट लें; जिससे उनकी कृपा से ही वह उनका परम कल्याणमय, आनन्दात्मक, दिव्य स्वरूप देखने में समर्थ हो सके। अब साधक वस्तुओं के सारतत्त्व विश्वात्मा तक जाना चाहता है। अन्तः में वह उद्घोष करता है 'यह जो पुरुष है, वह मैं ही हूँ। निश्चय ही मैं वह पुरुष हूँ क्योंकि आत्मा ही ब्रह्म है।' वह जान जाता है कि जो तत्त्व परोक्ष रूप में सूर्य में हैं वही मुझमें है; जो तत्त्व शास्त्रों में ब्रह्म रूप में वर्णित हैं, वही मुझमें है । सूर्य-मण्डल आदि प्रतीकों और मेरे हृदय में स्थिति ज्योतिरूप ब्रह्म एक ही है - उसे अन्ततः यह अनुभूति होती है ।

4.3.10 मन्त्र 17-18 मरणोन्मुख उपासक की प्रार्थना

वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्तं शरीरम् ।
ॐ क्रतो स्मर कृतं स्मर क्रतो स्मर कृतं स्मर ।। 17।।

अन्वय और अर्थ - अथ = अब; वायुः = ये प्राण (और इन्द्रियाँ); **अमृतम्** = अविनाशी; अनिलम् = समष्टि वायु-तत्त्व में; (प्रविशतु) = प्रविष्ट हो जायें; इदम् = यह; शरीरम् = स्थूलशरीर; भस्मान्तम् = अग्नि में जलकर भस्मरूप; (भूयात्) = हो जाय। ॐ = हे अग्नि संज्ञक ब्रह्म!; क्रतो = हे संकल्पात्मक मन!; स्मर = स्मरण कर; कृतम् = मेरे द्वारा किये हुए कर्मों का; स्मर = स्मरण कर। क्रतो = हे मन! स्मर = स्मरण कर; कृतम् = मेरे द्वारा किये हुए कर्मों का; स्मर = स्मरण कर **।। 17।।**

व्याख्या - परमधाम का यात्री वह साधक अपने प्राण, इन्द्रिय और शरीर को अपने से सर्वथा भिन्न समझकर उन सबको उनके अपने-अपने उपादान तत्त्व में सदा के लिये विलीन करना चाहता है। वह सूक्ष्म और स्थूल-शरीर का सर्वथा विघटन करना चाहता है। इसलिये वह कहता है कि प्राण और इन्द्रियाँ आदि समष्टि वायु आदि में प्रविष्ट हो जायें। मेरा स्थूल शरीर अग्नि में जलकर भस्म हो जाय। अनन्तर वह ब्रह्म के प्रतीक तथा नाम 'ओम्' का उच्चारण करता है। आचार्य शङ्कर, महीधर आदि के मत में ओम् से अग्निसंज्ञक ब्रह्म ही कहा गया है। फिर वह अपने सङ्कल्पात्मक मन (क्रतु) को सम्बोधित करता है कि अब अन्तकाल में जीव के लिए परम स्मरणीय परमात्मा का स्मरण कर, साथ ही बाल्यकाल से आज तक किये गये अपने कर्मों का भी स्मरण कर। अन्तकाल में किये गये स्मरण का विशेष महत्त्व गीता में भी बताया गया है (गीता 8/6)। मरणकाल में किये गये प्रमुख विचारों के आधार पर ही आत्मा का आगे का मार्ग तय होता है। ईशोपनिषद् का यह उपासक 'सत्यधर्मा' है इसलिए वह अपने मन को आदेश देता है कि उसे इस समय जीवन भर किये गये शुभ कर्मों का

स्मरण करना चाहिए। दो बार कहकर उसने अपनी बात को और दृढ़ किया है। एक दूसरी व्याख्या के अनुसार ' क्रतो ' सम्बोधन का तात्पर्य ' यज्ञमय भगवान् ' से है । अतः भक्त भगवान् से याचना करता है, 'आप मेरा और मेरे द्वारा किये गये कर्मों का स्मरण करें और मुझे सद्गति प्रदान करें।'

अग्ने नय सुपथा राये अस्मान् विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्।
युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठां ते नमउक्तिं विधेम ।। 18 ।।

अन्वय और अर्थ -अग्ने = हे अग्नि के अधिष्ठातृ-देवता!; अस्मान् = हमें; राये = धन अर्थात् कर्मफल भोग के लिये; सुपथा = सुन्दर शुभ मार्ग से; नय = (आप) ले चलिये। देव = हे देव! (आप हमारे); विश्वानि = समस्त; वयुनानि = कर्मों को; विद्वान् = जानने वाले हैं; (अतः) अस्मत् = हमारे; जुहुराणम् = इस मार्ग के प्रतिबन्धक; एनः = (जो) पाप हों (उन सबको); युयोधि = दूर कीजिये। ते = आपको; भूयिष्ठाम् = बार-बार; नम उक्तिम् = नमस्कार के वचन; विधेम = (हम) कहते हैं ।। 18।।

व्याख्या -मरणोन्मुख साधक पुनः सन्मार्ग की प्राप्ति के लिये अग्निदेव से प्रार्थना करता है। कर्ममार्ग का अनुयायी होने से उसने जीवन में अनेकशः अग्निहोत्र आदि कर्मों का अनुष्ठान किया है। अतः अन्तकाल में उसके द्वारा यज्ञ के अधिष्ठाता अग्निदेव का स्मरण उचित ही है। वे तो समस्त शुभ और अशुभ कर्मों को जानने वाले हैं। अवश्यम्भावी कर्मफल-भोग के लिए उसे जो लोक मिलना है, वह भी उनको विदित है। साधक इस बार मृत्यु के बाद निश्चित रूप से शोभन मार्ग से जाना चाहता है जो कि केवल शुभ कर्मों के फलस्वरूप ही प्राप्य है। इसीलिए उसकी प्रार्थना है - 'मेरे शुभ कर्मों को ही फलोन्मुख करें और सम्पूर्ण पापों और अशुभ कर्मों को मुझ से अलग कर दें, जिससे मैं उनके फलभोग से बच सकूँ।' इस प्रकार शुभ मार्ग के बाधक पापों के नाश की प्रार्थना भी साथ ही की गयी है। 'सुपथ' से भाष्यकारों ने उत्तरायण या देवयान का अर्थ ग्रहण किया है। यह मार्ग ब्रह्मलोक को ले जाता है। दूसरा है दक्षिणायन या पितृयाण मार्ग, जो पुनः संसार में लौटा लाता है। अतः उपासक उससे बचना चाहता है। अन्त में उपासक मौखिक रूप से देवता के प्रति पुनः-पुनः नमस्कार करता है। ईशोपनिषद् का यह अन्तिम मन्त्र कई वैदिक संहिताओं में प्राप्त होता है - ऋग्वेदसंहिता 1/189/1; तैत्तिरीयसंहिता 1/1/14/3; वाजसनेयि संहिता 7/43; अथर्ववेद संहिता 4/39/10।

शान्तिपाठ

ऊँ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ।।
ऊँ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।

अन्वय और अर्थ -ऊँ = ओम्; अदः = वह (परब्रह्म); पूर्णम् = सब प्रकार से पूर्ण है; इदम् = यह (जगत् भी); पूर्णम् = पूर्ण है; (क्योंकि) पूर्णात् = उस पूर्ण (परब्रह्म) से; पूर्णम् = यह पूर्ण; उदच्यते = उत्पन्न हुआ है; पूर्णस्य = पूर्ण के; पूर्णम् = पूर्ण को; आदाय = लेकर; पूर्णम् = पूर्ण; एव = ही;

अवशिष्यते = बच रहता है। ओम्, शान्ति हो, शान्ति हो, शान्ति हो।उपनिषद् के अन्त में शान्तिपाठ का उद्देश्य है कि अधीत विद्या के सम्यक् अवबोध और प्राप्ति में कोई विघ्न न हो।

बोधप्रश्न

1. ईशोपनिषद् नाम का आधार क्या है ?
2. ईशोपनिषद् को 'मन्त्रोपनिषद्' क्यों कहते हैं ?
3. ईशोपनिषद् शुक्लयजुर्वेद की किस शाखा का उपनिषद् है ?
4. उपनिषद् के प्रारम्भ और अन्त में शान्तिपाठ द्वारा किन तीन की शान्ति चाही जाती है ?
5. शङ्कराचार्य के अनुसार ईशोपनिषद् के किन दो मन्त्रों में ज्ञाननिष्ठा और कर्मनिष्ठा का उपदेश है।
6. उपनिषद् ने विरोधाभास द्वारा किस तत्त्व के विलक्षण स्वरूप का वर्णन किया है ?
7. तीनों प्रकार के शरीरों से आत्मा की भिन्नता का निर्देश किस मन्त्र में हुआ है ?
8. शङ्कर के मत में ईशोपनिषद् में विद्या और अविद्या का क्या अर्थ है ?
9. शङ्कर के मत में पुरुष द्वारा ज्ञान और कर्म का समुच्चयपूर्वक अनुष्ठान किया जा सकता है या नहीं ?
10. विद्या और अविद्या के अतिरिक्त ईशोपनिषद् में किन अन्य दो की समुच्चय पूर्वक उपासना की प्रशंसा की गयी है ?
11. मरणोन्मुख उपासक ईशोपनिषद् के अन्त में किन देवों से किस मार्ग की याचना करता है ?

4.4 सारांश

1. ईशोपनिषद् का दूसरा प्रचलित नाम 'ईशावास्योपनिषद्' है। ये दोनों नाम प्रथम मन्त्र के प्रारम्भिक पदों पर आधारित हैं । शुक्लयजुर्वेद की संहिता से सम्बन्ध होने से इस उपनिषद् को 'वाजसनेयिसंहितोपनिषद्' आदि नामों से भी जाना जाता है।

2. ईशोपनिषद् शुक्लयजुर्वेद की दोनों-काण्व शाखा और माध्यन्दिन शाखा की संहिताओं का चालीसवां अध्याय है। इस पर उवट, महीधर, शङ्कराचार्य आदि प्राचीन भाष्यकारों और श्री अरविन्द, दयानन्द सरस्वती, सातवलेकर आदि आधुनिक भारतीय विद्वानों तथा अनेक पाश्चात्य विद्वानों ने व्याख्याएं लिखी हैं। आज काण्वशाखीय ईशोपनिषद् ही अधिक प्रचलित है।

3. ईशोपनिषद् में अट्ठारह मन्त्र है।

(1) इसके प्रारम्भ और अन्त में 'पूर्णमदः' से प्रारम्भ होने वाला मन्त्र शान्तिपाठ के रूप में दिया गया है।

(2) इस उपनिषद् के प्रथम मन्त्र में सर्वत्र आत्मदृष्टि और त्याग के उपदेश द्वारा ज्ञानियों के लिए

ज्ञाननिष्ठा का उपदेश है कि ईश्वर सर्वत्र व्याप्त है और त्याग द्वारा आत्मा का पालन करना चाहिए।

(3) जो आत्मतत्त्व का ग्रहण करने में असमर्थ हैं उनके लिए दूसरे मन्त्र में कर्मनिष्ठा का उपदेश है कि वे शुभ कर्मों को करते हुए ही सौ वर्ष तक जीने की इच्छा करें।

(4) आत्मा को न जानने वाले अज्ञानी जन 'आत्महन्ता' हैं, वे बार-बार संसार-चक्र में भटकते रहते हैं।

(5) चौथे और पांचवें मन्त्र में आत्मा अथवा ब्रह्म का स्वरूप वर्णन किया गया है कि वह एक, सर्वत्र व्याप्त और अचल है। उसकी सत्ता से ही जीवन और जगत् के कार्य होते हैं। वह विरोधी गुणों से युक्त है तभी चलता और नहीं चलता, दूर और समीप, अन्दर और बाहर - एक साथ हो सकता है।

(6) छठे और सातवें मन्त्र में आत्मज्ञानी की स्थिति और फल का वर्णन है। वह सर्वत्र आत्मा को देखता है इसलिए भेद नहीं करता है। एकत्व-दर्शन के कारण उसको किसी से घृणा नहीं होती है। फलस्वरूप वह मोह और शोक से परे हो जाता है।

(7) आठवें मन्त्र में आत्मा का स्वरूप-वर्णन करते हुए उसे स्थूल, सूक्ष्म और कारण- तीनों शरीरों से भिन्न बताया गया है। वह सर्वज्ञ, सर्वव्याप्त और निर्मल है। (8) उपनिषद् के तीन मन्त्रों (9-11) में विद्या और अविद्या की पृथक्-पृथक् उपासना की निन्दा उनके एक साथ किये गये अनुष्ठान की महत्ता बताने के लिए की गई है। सामान्य अर्थ में 'विद्या' ज्ञान है, तो 'अविद्या' कर्म। शङ्कर के अनुसार विद्या 'देवता-ज्ञान' है, तो अविद्या है, 'अग्निहोत्रादि कर्म।' दोनों के फल अलग-अलग हैं। पर मिलाकर करें तो अविद्या से मृत्यु को पार करके, विद्या से अमरता की प्राप्ति होती है।

(9) ईशोपनिषद् में तीन मन्त्रों (12-14) में सम्भूति और असम्भूति की पृथक्-पृथक् उपासना की निन्दा उनके सह अनुष्ठान की प्रशंसा के लिये की गयी है। शङ्कर के अनुसार सम्भूति कार्यब्रह्म हिरण्यगर्भ है, तो असम्भूति 'अव्याकृत प्रकृति है'। सामान्य अर्थ में सम्भूति अविनाशी ब्रह्म का नाम है, तो असम्भूति विनाशशील योनियों और भोगों का नाम है। दोनों के पृथक् फल हैं, पर इनका एक साथ किया गया अनुष्ठान मृत्यु से पार कर अमृत की प्राप्ति कराता है।

(10) अन्तकाल में उपासक दो मन्त्रों (15-16) द्वारा पूषन् अर्थात् पोषणकर्ता सूर्य रूप परमात्मा से मार्ग की याचना करता है जिससे वह सूर्यमण्डल रूप प्रतीक में सत्यस्वरूप ब्रह्म का दर्शन कर सके। अन्ततः वह अनुभव करता है कि 'मैं ब्रह्म ही हूँ'।

(11) उपनिषद् के अन्तिम मन्त्रों (17-18) में मरणोन्मुख उपासक अग्निस्वरूप ब्रह्म से प्रार्थना करता है कि वे उसे 'सुपथ' से ले जाए जिससे उसके पुनर्जन्म का विच्छेद हो। यही उसका प्रणामपूर्वक विनम्र निवेदन है।

(12) उपनिषद् के अन्त में अधीत विद्या की निर्विघ्न-प्राप्ति के लिए 'पूर्णमदः' से प्रारम्भ मन्त्र शान्तिपाठ के रूप में पढ़ने का विधान है।

4.5 शब्दावली

ईशावास्योपनिषद्, मन्त्रोपनिषद्, माध्यन्दिन, काण्व, उवट, महीधर, शङ्कर, शान्तिपाठ, ज्ञाननिष्ठा, कर्मनिष्ठा, तमस्, आत्महन्ता, एकम्, मातरिश्वा, विजानतः, मोह, शोक, विद्या, अविद्या, मृत्यु, अमृत, सम्भूति, असम्भूति, विनाश हिरण्मय पात्र, सत्यधर्मा, पूषन्, पुरुष, कल्याणतमम्, क्रतो, सुपथा, वयुनानि, अग्नि।

4.7 बोध प्रश्नों के उत्तर

1.'ईशोपनिषद्' नाम का आधार इस उपनिषद् के प्रथम मन्त्र का प्रथम पद 'ईशा' है।

2 ईशोपनिषद् को 'मन्त्रोपनिषद्' इसलिए कहते हैं क्योंकि यह उपनिषद् शुक्लयजुर्वेद की संहिता के अन्तर्गत मन्त्र रूप में प्राप्त होता है।

3.ईशोपनिषद् शुक्लयजुर्वेद की काण्व और माध्यन्दिन-दोनों शाखाओं में मिलता है, पर काण्वशाखीय पाठ ही अधिक प्रचलित है।

4. उपनिषद् के प्रारम्भ और अन्त में शान्तिपाठ द्वारा आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक तीन प्रकार के तापों की शान्ति चाही जाती है।

5. शङ्कराचार्य के अनुसार ईशोपनिषद् के प्रथम मन्त्र में ज्ञाननिष्ठा और द्वितीय मन्त्र में कर्मनिष्ठा का उपदेश है।

6. उपनिषद् ने पांचवें मन्त्र में विरोधाभास द्वारा आत्मा को विरोधी गुणों से सम्पन्न बताकर उसके विलक्षण स्वरूप का वर्णन किया है।

7. तीनों प्रकार के शरीरों से आत्मा की भिन्नता का निर्देश ईशोपनिषद् के आठवें मन्त्र में हुआ है।

8. शङ्कर के मत में ईशोपनिषद् में विद्या का अर्थ 'देवताज्ञान' और अविद्या का अर्थ 'अग्निहोत्रादि कर्म' है।

9. शङ्कर के मत में पुरुष द्वारा आत्मज्ञान और कर्म का समुच्चयपूर्वक अनुष्ठान नहीं किया जा सकता है।

10. ईशोपनिषद् में विद्या और अविद्या के अतिरिक्त सम्भूति और असम्भूति की समुच्चयपूर्वक उपासना की प्रशंसा की गयी है।

11. मरणोन्मुख उपासक पहले पूषन् देव से प्रार्थना करता है; फिर अग्नि देव से शुभ मार्ग 'सुपथ' की याचना करता है, जिससे वह पुनः संसार में वापस जन्म न ले और ब्रह्मलोक को जा सके

4.6 उपयोगी पुस्तकें

1. ईशावास्योपनिषद्, शाङ्करभाष्यसहिता, गीताप्रेस, गोरखपुर।

2. ईशावास्योपनिषद् - 'एकादशोपनिषदः' के अन्तर्गत, मणिप्रभाव्याख्या समलङ्कृता, मोतीलाल बनारसीदास, 1966।

3. ईशावास्योपनिषद् भाष्यम्, श्रीवेदान्तदेशिक-विरचितम्, वेदान्त देशिक रिसर्च सोसाइटी, मद्रास, 1907।

4. शुक्लयजुर्वेदसंहिता, उवट-महीधर-भाष्य-सहित, मोतीलाल बनारसी दास, 1971।

5. ईशावास्योपनिषद्, डॉ० शशि तिवारी, भारतीय विद्या प्रकाशन, दिल्ली, 1986।

6. आत्मज्ञान, ईशोपनिषद्, श्रीपाद दामोदर सात वलेकर, पारडी, 1969।

4.7 निबन्धात्मक प्रश्न

1.इस इकाई के आधार पर आत्मा व ज्ञानी के स्वरूप की विवेचना कीजिए।

2. मन्त्र संख्या 4 से 10 तक की व्याख्या कीजिए।

3. विद्या तथा अविद्या , सम्भूति तथा असम्भूति का वर्णन कीजिए।

खण्ड 4. पाणिनीय शिक्षा

इकाई 1 . वेदाङ्ग परिचय

इकाई की रुपरेखा

1.1 प्रस्तावना

1.2 उद्देश्य

1.3 वेद का परिचय तथा महत्त्व

- 1.3.1 वेद का अर्थ
- 1.3.2 वेद का वाचक शब्द
- 1.3.3 वेदकाल निर्णय
- 1.3.4 वैदिक संहिता का परिचय
- 1.3.5 वैदिक साहित्य का सामान्य परिचय
- 1.3.6 वेद का महत्त्व।

1.4 वेदाङ्गों का परिचय

- 1.4.1 शिक्षा
- 1.4.2 कल्प
- 1.4.3 व्याकरण
- 1.4.4 निरुक्त
- 1.4.5 ज्योतिष्
- 1.4.6 छन्द

1.5 वेदाङ्ग की मौलिकता एवं प्रवचनकर्ता

1.6 सारांश

1.7 बोध प्रश्न

1.8 शब्दावली

1.9 उपयोगी पुस्तकें

1.10 बोधप्रश्नों के उत्तर

1.1 प्रस्तावना

प्रत्येक राष्ट्र की अपनी संस्कृति होती है। संस्कृति ही उस समाज का प्रतिनिधित्व करती है। हमारे राष्ट्र की अपनी संस्कृति है जिसे भारतीय-संस्कृति नाम से अभिहित किया जाता है। हमारी संस्कृति जिस भाषा में निबद्ध है वह भाषा संस्कृत भाषा है। विश्व की समस्त भाषाओं में प्राचीनतम तथा अन्य भाषाओं की जननी होने का श्रेय इसी संस्कृत भाषा को है। देववाणी, गीर्वाणवाणी, भारती, सरस्वतीवाणी आदि इसी के पर्यायवाची है। भारतीयसंस्कृति का निखरा रुप संस्कृत भाषा में निबद्ध साहित्य में दृष्टिगोचर होता है। मानव जीवन के चार पुरुषार्थ धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष से सम्बद्ध सभी विषयों का साङ्गोपाङ्ग वर्णन इसी भाषा में निबद्ध है। लौकिक सुख और आध्यात्मिक उत्कर्ष के लिए अपेक्षित सभी विषयों का सूक्ष्म एवं व्यापक विवेचन संस्कृत-वाङ्मय में ही समाहित है। इन विषयों के व्यापक वर्णन एवं चिन्तन ने विश्वमनीषा को अपनी ओर विशेषरुप से आकृष्ट किया है। संस्कृत-वाङ्मय (साहित्य) का व्यापक विषय जनसाधारण के लिए अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हो, इस उद्देश्य से विभिन्न भागों में संस्कृत-वाङ्मय के विषय को वर्गीकृत किया गया है यथा- वेद एवं वैदिक संहिताएं, ब्राह्मण ग्रन्थ आरण्यक, उपनिषद्, वेदाङ्ग स्मृतियॉ, पुराण, दर्शन, आर्षकाव्य, काव्य, गद्य, रुपक, आधुनिक-संस्कृत-साहित्य, काव्यशास्त्र, तन्त्रागम, नास्तिक दर्शन, धर्मशास्त्र व्याकरण, कोश-खण्ड, ज्योतिष-खण्ड, आयुर्वेद-खण्ड, राजनीतिशास्त्र, सङ्गीतशास्त्र आदि।

संस्कृत वाङ्मय के प्रथम खण्ड '' वेद'' से परिचय प्राप्त हो उसके साहित्य की सामान्य जानकारी हो, इस उद्देश्य से वेद स्वरुप पर प्रकाश डाला जा रहा है।

1.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप-

- संस्कृत वाङ्मय की जानकारी प्राप्त कर लेंगे।
- वेद के सामान्य अर्थ की जानकारी प्राप्त कर लेंगे।
- वैदिक संहिता एवं वैदिक साहित्य से परिचित हो जायेगे।
- वेदाध्ययन के लिए वेदाङ्गाध्ययन की आवश्यकता की जानकारी प्राप्त कर लेगे।
- वेदांगों की संख्या एवं परिचय की जानकारी प्राप्त कर लेगें,
- वेदाङ्गों के महत्त्व से परिचित हो जायेंगे।
- वैदिक साहित्य में प्रयुक्त शब्दावली की जानकारी प्राप्त कर लेंगें।
- वेदाङ्गों में निबद्ध विचारों से अवगत हो जायेगें

1.3 वेद का परिचय एवं महत्त्व

भारतीय संस्कृति के इतिहास में वेदों का स्थान सर्वोपरि है। आर्यों के आचार-विचार, रहन-सहन तथा धर्म कर्म को भली-भॉति समझने के लिए वेदों का ज्ञान विशेष आवश्यक है । जिसके अन्तर्गत वेद का अर्थ, वेद के वाचक शब्द, वैदिक संहिता का एवं वैदिक साहित्य का वर्गीकरण है ।

1.3.1 वेद का अर्थ

विद् (ज्ञानार्थक) धातु से भाव, कर्म और करण अर्थ में घ´ प्रत्यय के योग से ''वेद'' शब्द की निष्पत्ति हुई है। जिसका अर्थ है ज्ञान, ज्ञान का विषय और ज्ञान का साधन। विश्व का प्राचीनतम एवं सर्वप्रथम वाङ्मय जो भारत में प्रणीत हुआ "वेद'' नाम से ही जाना जाता है ।

वेदभाष्यकार सायणाचार्य के अनुसार ' इष्टप्राप्त्यनिष्टपरिहारयोरलौकिकमुपायं यो ग्रन्थो वेदयति स वेदः, अर्थात् अभीष्ट वस्तु की प्राप्ति तथा अनिष्ट के परिहार के लिए अलौकिक उपायों को बताने वाला ग्रन्थ वह वेद है । आचार्य विष्णुमित्र ने ''वेद'' शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार दी है 'विद्यन्ते ज्ञायन्ते लभ्यन्ते वा एभिर्धर्मादि पुरुषार्थाः इति वेदाः अर्थात् धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष ये चार पुरुषार्थ जिसके द्वारा जाने जाय या प्राप्त किये जाय ऐसा ग्रन्थ वेद है अलौकिक विषयों यथा स्वर्ग, ब्रह्म, धर्म आदि के ज्ञान में वेद ही प्रमाण है । तैत्तिरीय संहिता भाष्य-भूमिका में सायणाचार्य ने कहा है कि-

प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न बुध्यते
एनं विदन्ति वेदेन तस्माद् वेदस्य वेदता ।

अर्थात् प्रत्यक्ष और अनुमान से जिस विषय का ज्ञान नही होता है परोक्ष वह विषय वेद द्वारा ही बोधगम्य होता है।

1.3.2 वेद के वाचक शब्द

भारतीय परम्परा में ''वेद'' शब्द के पर्याय रुप में अनेक शब्दों का प्रयोग मिलता है यथा-

१. श्रुति- वेद का गुरुपरम्परा से सुनकर ही अध्ययन किया जाता था, इसलिए उसे 'श्रुति' कहते हैं- श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयः- (मनु स्मृति २.१०) वेद का अनुश्रव नाम भी श्रुतिमूलक ही है ।

२. आम्नाय - वेद का यथावत् अभ्यास करने के कारण वेद के लिए आम्नाय शब्द प्रयुक्त है
त्रयी का अर्थ है तीन का समूह ऋक्, यजुष् और साम तीन प्रकार के मन्त्रों का समूह वेद है इसलिए वेद को त्रयी भी कहा जाता है ।

छन्दस्- वेद (ऋक् -यजुष् और सामरुपात्मक) रचनाए नियन्त्रित अर्थ की प्रधानता के कारण छन्दस् कही गयी ।

स्वाध्याय- अध्ययन का एकमात्र विषय वेद ही है इसलिए वेद को ' स्वाध्याय' भी कहा गया ।

आगम- महाभाष्यकार पतंजलि ने मन्त्रब्राह्मणात्मक षडङ्गसहित कहकर वेद के लिए
आगम शब्द
प्रयुक्त किया है।
निगम- यास्काचार्य ने उन मन्त्रों को 'निगम' कहा है जो मन्त्र वेदों से निरुक्त में उद्धृत किये गये हैं इस प्रकार इन नामों का प्रयोग वेद के लिए आज भी होता है।

1.3.3 वेद का काल निर्णय

वेदों के रचना-काल की पूर्व सीमा का कोई स्पष्ट ज्ञान नहीं है। वेदों के काल की अन्तिम सीमा की दृष्टि से बुद्ध का काल माना जा सकता है। वेद के रचनाकाल के विषय में प्रचलित प्रमुख मत निम्न हैं -

- बुद्ध को आधार मानकर प्रो0 मैक्समूलर ने वेद के रचना काल को छन्दोकाल, मन्त्रकाल, ब्राह्मणकाल एवं सूत्रकाल चार भागों में विभाजित किया है। इन सबका रचनाकाल-१२०० ई0 पू0 से लेकर ४०० ई0 पू0 के बीच माना है।
- लोकमान्यतिलक ने ज्योतिष के आधार पर वेद का रचना काल ६००० से ४००० ई0 पू0 माना है।
- शङ्कर बालकृष्ण दीक्षित ने शतपथ बाह्मण के अनुसार वेदों का रचनाकाल ३५०० ई0 पू0 माना है।
- याकोबी ने ज्योतिषशास्त्र के अनुसार वेद का रचनाकाल ४५०० वर्ष ई0 पू0 माना है।
- डॉ0 अविनाश चन्द्रदास ने भूगर्मशास्त्र और भूगोलगत साक्ष्यों के आधार पर ई0 से २५००० वर्ष पूर्व माना जाता है।
- महर्षिदयानन्द सरस्वती ने सृष्टि के आरम्भ के साथ वेदों का भी आविर्भाव माना है।
- विण्टर नित्स ने वैदिक काल २५०० ई0 से ५०० ई0 पू0 तक माना है।
- डॉ0 भण्डारकर ने वैदिक रचनाकाल ६००० ई0 पू0 माना है।
- अमलनरेकर ने ऋग्वेद का रचनाकाल ६६,०००से ७५००० वर्ष पूर्व माना है।

1.3.4 वैदिक -संहिता का संक्षिप्त परिचय

वेद के मूलमन्त्रों का समूह संहिता है। वेद की चार संहिताएं ऋग्वेद संहिता, यजुर्वेद संहिता, सामवेद संहिता एवं अर्थवेद संहिताएं हैं। ऋग्वेद संहिता में देवताओं की स्तुति-परक मन्त्रों का संग्रह है, जो पद्यात्मक एवं छन्दोबद्ध है। यजुर्वेद-संहिता यज्ञक्रिया की दृष्टि से सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। इसमें ऋचाओं के साथ-साथ गद्य भी हैं, सामवेद संहिता साम या गान का सङ्कलन है। इसमें ऋग्वेद के

मन्त्रों का समावेश है जिनका गान सोमयज्ञ के समय अभिप्रेत था। अथर्ववेद संहिता को अथर्वन् और अङ्गिरस वेद भी कहा जाता है। इसमें २० काण्ड हैं। बहुत से मन्त्र ऋग्वेद संहिता से लिये गये हैं। इसमें रोग दूर करने, पापशुद्धि, शत्रुविनाश तथा मङ्गलकामना व्यक्त करने वाले मन्त्र हैं।

1.3.5 वैदिक साहित्य का संक्षिप्त परिचय

वैदिक-युग के वाङ्मय को वैदिक-साहित्य भी कहा जाता है। श्री वाचस्पति गैरोला ने मूलसंहिताओं को वेद और उनसे सम्बन्धित ब्राह्मण आरण्यक तथा उपनिषद् ग्रन्थों को " वैदिक साहित्य'' के रुप में स्वीकार किया है। श्री वी. वरदाचार्य ने वेदों और उनसे सम्बद्ध सम्पूर्ण साहित्य की गणना " वैदिक - साहित्य'' में ही की है।

प्रो0 मैक्समूलर, प्रो0 गौरीशंकर उपाध्याय, श्री सी0 वी0 वैद्य आदि विद्वानों ने वैदिक साहित्य को भिन्न-भिन्न प्रकार से वर्गीकृत किया है। निष्कर्षतः सम्पूर्ण वैदिक साहित्य को छःभागों में वर्गीकृत किया जा सकता है-

१. संहिताएं
२. ब्राह्मण ग्रन्थ
३. आरण्यक ग्रन्थ
४. उपनिषद् ग्रन्थ
५. वेदाङ्ग
६. अनुक्रमणी-साहित्य

१. **संहिताएं**- ऋग्वेद संहिता, यजुर्वेद- संहिता, सामवेद संहिता एवं अथर्ववेद संहिता।

२. **ब्राह्मण ग्रन्थ**- ब्राह्मण-ग्रन्थों का सम्बन्ध ब्रह्म से है, इसी कारण इन्हें ब्राह्मण कहा जाता है। ये ग्रन्थ गद्य में लिखे गये हैं तथा इसमें याज्ञिक कर्मकाण्ड के माध्यम से वेदमन्त्रों की व्याख्या की गई है। प्रत्येक वैदिक-संहिता के अपने ब्राह्मण ग्रन्थ हैं इनकी संख्या आठ है- ऐतरेय, कौषीतकि(शांखायन), शतपथ, तैत्तिरीय, ताण्ड्य,(पच्चविंश) षड्विंश, जैमिनीय एवं गोपथ ब्राह्मण) जिनमें शुक्ल यजुर्वेदीय-'शतपथ-'ब्राह्मण' का महत्त्व सबसे अधिक हैं।

३. **आरण्यक ग्रन्थ**- इनमें यज्ञों का वर्णन है, जिनका विधि-विधान बहुत सरल है। वानप्रस्थी और मुनि लोग भी सरलता से उन यज्ञों को सम्पादित कर सकते थे। इनमें यज्ञ आदि विधान के साथ ब्रह्म आदि तत्त्वों का विवेचन भी हुआ है, उपलब्ध आरण्यक ग्रन्थों की संख्या भी आठ है, यथा- ऐतरेयारण्यक, शाङ्खायन, तैत्तिरीय, मैत्रायणी, माध्यन्दिन बृहदारण्यक, काण्वबृहदारण्य, जैमिनीयोपनिषद्-आरण्यक (तवल्कार आरण्यक) छान्दोग्य आरण्यक।

४. **उपनिषद्** - उपनिषद् शब्द उप् और नि उपसर्ग पूर्वक सद्धातु से निष्पन्न हुआ है सद् धातु के तीन

अर्थ है विशरण अर्थात् नाश होना, गति अर्थात् प्राप्त करना, अवसादन अर्थात् शिथिल होना, जिसका अभिप्राय यह है कि उपनिषद् के अध्ययन से अविद्या का नाश, ब्रह्म की प्राप्ति और सांसारिक दुःख शिथिल होते हैं अतः उपनिषद् का मुख्य अभिप्राय ब्रह्मविद्या प्राप्ति है। उप(निकट) और नि(नीचे) उपसर्ग पूर्वक सद् (बैठना) धातु से क्विप् प्रत्यय से निष्पन्न उपनिषद् का अर्थ है - गुरु के समीप बैठकर रहस्यज्ञान (ब्रह्मज्ञान) को प्राप्त करना है। 'मुक्तिकोपनिषद्' के अनुसार उपनिषदों की संख्या १०८ है, आचार्य शंकर ने जिन १० उपनिषदों पर अपना भाष्य लिखा है वे ही १० उपनिषद् प्राचीनतम एवं प्रामाणिक हैं- यथा

ईश-केन-कठ-प्रश्न-मुण्डक-माण्डूक्य-तित्तिरः
ऐतरेयं च छान्दोग्यं च बृहदारण्यकं दश ।।

श्वेताश्वतर उपनिषद् को मिलाकर उपनिषद् की संख्या ११ मानी गई है।

५. वेदाङ्ग- वेद का मूलपाठ अत्यधिक पवित्र है, उसमें परिवर्तन न हो, उच्चारण शुद्ध बना रहे और वेद मन्त्रों के अर्थ का ज्ञान हो जाय इसके लिए वेदाङ्ग साहित्य का आविर्भाव हुआ है। वेदाङ्ग में प्रायः सूत्र-शैली को अपनाया गया है। इन्हें 'सूत्रसाहित्य' भी कहा गया है। इनकी संख्या छः है। शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष्।

६. अनुक्रमणी साहित्य- वेदों के शुद्ध स्वरुप की रक्षा के लिए ही अनुक्रमणी साहित्य का प्रादुर्भाव हुआ है। अनुक्रमणीयों में संहिता-विशेष से सम्बन्धित ऋषि, देवता और छन्द आदि की सूचियाँ प्रस्तुत की गयी हैं। सभी वेदों की अनुक्रमणियाँ उपलब्ध हैं। अनुक्रमणी (सूची) बनाने वालों में आचार्य शौनक और आचार्य कात्यायन प्रमुख हैं। अनुक्रमणी ग्रन्थ अनुष्टुप् छन्द में रचे गये हैं। कतिपय अनुक्रमणी ग्रन्थों का नामोल्लेख इस प्रकार है -

आर्षानुक्रमणी छन्दोऽनुक्रमणी, देवतानुक्रमणी, अनुवाकानुक्रमणी,सूक्तानुक्रमणी, ऋग्विधान, पादविधान, बृहद्देवता आदि। अनुक्रमणी ग्रन्थों में बृहद्देवता का महत्त्वपूर्ण स्थान हैं।

1.3.6 वेद का महत्त्व

सम्पूर्ण वेद वाङ्मय महत्त्वपूर्ण है प्राचीनकाल से लेकर आज तक वेद वाङ्मय सम्पूर्ण-विश्व को प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रुप से विविध उपदेश देता रहा हैं। वेद आगम प्रमाण हैं समस्त ज्ञान के स्रोत हैं। वेद त्रयी विद्या है जो धर्म और अधर्म के बीच भेद का निरुपण करती है। शतपथ ब्राह्मण में कहा गया है कि धन से परिपूर्ण भूमि दान से जितना फल मिलता है उतना ही फल तीनो वेदों के अध्ययन से मिलता है, वह तो उससे भी बढ़कर अक्षय्य लोक की प्राप्ति कराता है, इसलिए प्रतिदिन स्वाध्याय (वेद का अध्ययन) करना चाहिए-

यावन्तं ह वै इमां पृथिवीं वित्तेन पूर्णां ददल्लोकं जयति, त्रिभिस्तावन्तं जयति। भूयांसं च

अक्षय्यं च य एवं विद्वान् अहरहः स्वाध्यायमधीते। तस्मात्स्वाध्यायोऽध्येतव्यः।

(शतपथ ब्राह्मण ११/५/६/१)

वेद भारतीय-साहित्य के आधार हैं। आर्यों के आचार- व्यवहार का साक्षात्कार वेदों मेंही प्राप्त होता है। आर्यजाति की प्राचीनतम संस्कृति वेदों में मिलती है।

विश्व इतिहास की दृष्टि से भी वेदों का महत्त्व है। वेदों का भाषा शास्त्रीय महत्त्व भी है। प्राचीन इतिहास अपने सभी रुपों में वेदों में उपलब्ध है। निष्कर्षतः धार्मिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनैतिक आर्थिक, भाषाशास्त्रीय, इतिहास, संस्कृति कला आदि सभी तत्त्वों का समावेश वेदों में निहित है। इसलिए वेद का महत्त्व शाश्वत है।

शिक्षा साहित्य - वैदिक-मन्त्रों के उच्चारण विधि के निर्देशक ग्रन्थ ' शिक्षा' के नाम से प्रसिद्ध हैं। सामान्यतः शिक्षायें प्राचीन ऋषियों के नाम से सम्बद्ध हैं यथा १-व्यासशिक्षा, २. भरद्वाज शिक्षा, ३ पाणिनीय शिक्षा ये प्रमुख शिक्षा ग्रन्थ हैं। इसके अतिरिक्त याज्ञवल्क्य शिक्षा, वासिष्ठी शिक्षा, कात्यायनी शिक्षा, पाराशरी शिक्षा, माण्डव्य शिक्षा, अमोघानन्दिनी शिक्षा, लोमशी शिक्षा, गौतमी शिक्षा माध्यन्दिनी शिक्षा, केशवी शिक्षा, माण्डूकी शिक्षा, क्रमसन्धान शिक्षा, गलदृकशिक्षा, मनःस्वार शिक्षा का उल्लेख 'शिक्षा संग्रह' नामक ग्रन्थ में उपलब्ध हैं।

महत्त्व - वैदिक मन्त्रों के सही उच्चारण के लिए स्वरज्ञान की नितान्त आवश्यकता है। स्वर तीन प्रकार के हैं- उदात्त, अनुदात्त और स्वरित। वेद में स्वरों की प्रमुखता का प्रधान कारण है अर्थनियामकता, अर्थात् शब्द के एक होने पर भी स्वर भेद से उसमें अर्थ भेद हो जाता है। स्वरों के उच्चारण में एक छोटी सी त्रुटि हो जाने से अर्थ का अनर्थ हो जाया करता है। यज्ञ का विधिवत् सम्पादन स्वरों के यथार्थ उच्चारण से ही अभीष्ट फलदायक हो सकता है जो मन्त्र स्वर या वर्ण से हीन होता है वह मिथ्या प्रयुक्त होने के कारण अभीष्ट अर्थ का प्रतिपादन नहीं करता। वह वाग्वज्र बनकर यजमान का ही नाशक होता है- यथा स्वर के अपराध (त्रुटिपूर्ण उच्चारण से) से 'इन्द्रशत्रु' शब्द यजमान का विनाशक बना।

दुष्टः शब्दः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्या प्रयुक्तो न तमर्थमाह।
स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधादिति ।।

अतः शुद्ध मन्त्रोच्चारण के लिए शिक्षा का महत्त्वपूर्ण स्थान है। (महाभाष्य /प्रथम आह्निक)

1.4 वेदाङ्गों का परिचय

वेद के अंग वेदांग हैं। अङ्ग उन्हें कहते हैं जो वस्तु के स्वरुप को जानने में सहायक होते हैं- अङ्यन्ते ज्ञायन्ते अमीभिरिति अङ्गानि। भाषा और भाव दोनों दृष्टियों से वेद दुर्बोध हैं अतः वेद के यथार्थ ज्ञान के लिए जो उपयोगी शास्त्र हैं उन्हें 'वेदाङ्ग नाम से अभिहित किया जाता है। शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, ज्योतिष् एवं छन्द ये छः वेदाध्ययन के उपयोगी शास्त्र हैं इसलिए इन्हें

वेदाङ्ग कहा गया है।

1.4.1 शिक्षा

षड्विधवेदाङ्गों में शिक्षा का महत्त्वपूर्ण स्थान है। पुरुष के अङ्गों से तुलना करते हुए शिक्षा वेदाङ्ग को वेदरुपी पुरुष की घ्राणेन्द्रिय (नासिका) कहा गया है 'शिक्षा' घ्राणं तु वेदस्य' (पाणिनीय शिक्षा)। वेदों के भाष्यकार आचार्य सायण ने अपने ग्रन्थ 'ऋग्वेद भाष्यभूमिका' में शिक्षा का अर्थ स्पष्ट किया है- स्वरवर्णाद्युच्चारणप्रकारो यत्र शिक्ष्यते उपदिश्यते सा शिक्षा' अर्थात् जो विद्या स्वर, वर्ण आदि उच्चारण के प्रकार का उपदेश दे वह शिक्षा नाम का वेदाङ्ग है। तैत्तिरीयोपनिषद् में शिक्षा को और भी अधिक स्पष्ट किया है 'शिक्षा' व्याख्यास्यामः - वर्णः, स्वरः मात्रा, बलम् साम, सन्तानः, इत्युक्तः शिक्षाध्यायः (१/१) इससे स्पष्ट होता है कि शिक्षा' वेदाङ्ग उच्चारण सम्बन्धी इन छः विषयों-वर्ण, स्वर, मात्रा, बल, साम, सन्तान का बोध कराती है।

1.4.2 कल्प

वेदाङ्ग साहित्य में कल्प का दूसरा स्थान है। वेदरुपी पुरुष का हाथ कल्प है - **हस्तौ कल्पौऽथ पठ्यते** (पाणिनीय शिक्षा) वेद विहित कर्मों को क्रमपूर्वक व्यवस्थित करने वाला शास्त्र कल्पशास्त्र' है - **कल्पो वेदाविहितानां कर्मणामानुपूर्वेण कल्पनाशास्त्रम्** (विष्णुमित्र ऋग्वेद प्रातिशाख्य वर्गद्वय वृति पृ0 १3) यागविधान के नियमों को संक्षिप्त तथा व्यवस्थित रुप में व्यवहारिक उपयोग के लिए कल्पसूत्रों का निर्माण वेद की प्रत्येक शाखा के लिए किया गया है।

कल्पसूत्र के भेद-कल्पसूत्रों के चार प्रकार हैं-

१. श्रौतसूत्र- इनमें ब्राह्मणग्रन्थों में वर्णित और अग्नि में सम्पद्यमान यज्ञादि अनुष्ठानों का वर्णन है। आश्वलायन, शांखायन, आपस्तम्ब, बोधायन, हिरण्यकेशी, भारद्वाज, वाराह ,खादिर, बैतान आदि अनेक श्रौतसूत्र हैं।

२. गृह्यसूत्र- इनमें गृह्याग्नि में होने वाले यज्ञों का, उपनयनादि संस्कारों का विस्तार से वर्णन है। इन सूत्रों में पंचमहायज्ञों का विवरण और उनकी विधि विस्तार से दी हुई है। आश्वालायन, शांखायन आपस्तम्ब आदि १२ गृह्य सूत्र उपलब्ध हैं।

३. धर्मसूत्र - इनमें चतुर्वर्णो और चारों आश्रमों के कर्तव्यों विशेषतःराजा के कर्तव्यों का विशिष्ट प्रतिपादन है, वसिष्ठ धर्मसूत्र, आपस्तम्ब, बौधायन, हिरण्यकेशी और गौतम ये धर्मसूत्र उपलब्ध हैं।

४. शुल्बसूत्र- इसमें वेदि (यज्ञकुण्ड) के निर्माण की रीति का विशेष रुप से प्रतिपादन है तथा आर्यों के प्राचीन ज्यामितिविषयक कल्पनाओं तथा गणनाओं के प्रतिपादक होने से इसका वैज्ञानिक महत्त्व भी है। शुल्ब का अर्थ है "नापने की रस्सी'। शुल्बसूत्रों को भारतीय गणितशास्त्र के प्राचीनतम अवशेष माना जाता है। बोधायन, आपस्तम्ब मानव, मैत्रायणीय, वाराह, बाधूल, कात्यायन आदि प्रमुख शुल्बसूत्र हैं।

इन सूत्रों के अतिरिक्त श्राद्धकल्पसूत्र, पितृकल्पसूत्र नाम से दो उपसूत्र भी मिलते हैं, एक अन्य सूत्र प्रायश्चितसूत्र नाम से भी मिलता हैं।

कल्पवेदाङ्ग का महत्त्व- बाह्मणों के याज्ञिक विधानों को अति संक्षिप्त रुप में प्रस्तुत करने के कारण कल्पशास्त्र के स्थान में कल्पसूत्र प्रयोग किया जाता है। सूत्रात्मक रुप होने के कारण इसका महत्त्व अधिक है। इन्हें आसानी से स्मरण किया जा सकता है तथा इनके माध्यम से याज्ञिक विधानों को सम्पन्न कराया जा सकता है।

1.4. 3 व्याकरण

वेदाङ्ग में व्याकरण का तीसरा स्थान है। इसे वेदपुरुष का मुख कहा जाता है - मुखं व्याकरणं स्मृतम् (पाणिनीय शिक्षा) प्रधानं च षट्सु-अङ्गेषु व्याकरणम् कहकर महाभाष्यकार पतंजलि ने वेद के छः अंगो में इसे प्रधान कहा है। व्याकरण के द्वारा वेद और लोक में प्रयुक्त शब्दों की मीमांसा की जाती है- व्याक्रियन्ते व्युत्पाद्यन्ते शब्दा अनेन, इति व्याकरणम्। व्याकरणशास्त्र का सर्वप्रथम संकेत ऋग्वेद में उपलब्ध होता है, प्रातिशाख्य-ग्रन्थों में वैदिक व्याकरण का सर्वप्रथम विवेचन मिलता है, तत्पश्चात् लौकिक (संस्कृत) व्याकरण का प्रादुर्भाव माना गया है । आचार्य-पाणिनि रचित अष्टाध्यायी संस्कृत व्याकरण का प्रमुख ग्रन्थ है। इसी व्याकरण ग्रन्थ में आचार्य कात्यायनी ने वार्तिक तथा आचार्य पतंजलि ने महाभाष्य' लिखा है। ये तीनों ही व्याकरणशास्त्र के मुनित्रय कहे जाते हैं। व्याकरण का प्रयोजन-आचार्य पतज्जलि ने व्याकरण वेदाङ्ग के पाँच प्रमुख प्रयोजनों का उल्लेख किया है-रक्षा, ऊह, आगम, लघु तथा असन्देह - रक्षोहागमलघ्वसन्देहाः प्रयोजनम् (महाभाष्य/प्रथम पस्पशाह्निक) महाभाष्यकार ने १3 अन्य भी प्रयोजन बताये हैं जिनका प्रतीक रुप में निर्देशन किया है - **तेऽसुराः। यदधीतम्। यस्तु प्रयुङ्क्ते। अविद्वांसः। विभक्ति कुर्वन्तिः। यो वा इमाम्। चत्वारि। उत त्वः। सक्तुमिव। सारस्वतीम्। दशम्यां पुत्रस्य।**

सुदेवो असि वरुण इत्यादि (महाभाष्य/प्रथम पस्पशाह्निक)

मुनित्रय की रचना के बाद आचार्य भर्तृहरि का 'वाक्यपदीय' व्याकरण का उत्कृष्ब् ग्रन्थ है। अष्टाध्यायी के सूत्रों को प्रक्रियानुसार एक नवीन क्रम में निबद्ध करने वाले व्याकरणचार्य श्री रामचन्द्र हैं, ' प्रक्रिया कौमुदी' इनकी रचना है। इसी क्रम का निर्वाह करने वाले वैयाकरणाचार्य भट्टोजिदीक्षित का नाम व्याकरण के इतिहास में नवयुग प्रवर्तक के रुप में है। 'सिद्धान्त-कौमुदी' , 'शब्द कौस्तुभ' तथा 'प्रौढ़मनोरमा' इनके तीन ग्रन्थ अत्यन्त प्रसिद्व हैं। आचार्य नागेशभट्ट की परिभाषेन्दुशेखर, शब्देन्दुशेखर तथा लघुमंजूषा तीन व्याकरण की रचनाएं हैं जो व्याकरण की महनीय निधि हैं। निष्कर्षतः वेदार्थज्ञान के लिए व्याकरण वेदाङ्ग की आवश्यकता है।

1.4.4 निरुक्त

निरुक्त श्रोत्रमुच्यते (पाणिनीय शिक्षा) निरुक्त में वैदिक शब्दसमाम्नाय की व्याख्या की गई है जो निघण्टु के पॉच अध्यायों में संकलित है। निघण्टु वैदिक शब्दकोश है जिसमें १३४१ शब्द परिगणित

हैं इसके प्रथम तीन अध्याय नैघण्टुक काण्ड कहे जाते हैं। चतुर्थ अध्याय को नैगम काण्ड और अन्तिम अध्याय दैवतकाण्ड कहा गया है । आचार्य यास्क द्वारा रचित निरुक्त में निघण्टुगत २३० शब्दों का निर्वचन है। निरुक्त में निर्वचन करने के लिए वर्णागम, वर्ण-विपर्यय वर्ण-विकार, वर्णनाश और धातुओं का अनेक अर्थो में प्रयोग ये पाँच नियम है निरुक्त में मूलतः १२ अध्याय हैं। इसके अतिरिक्त दो अध्याय परिशिष्ट रुप में हैं । कुल मिलाकर १४ अध्यायों का विभाजन पादों में हैं। निरुक्त पर दुर्गाचार्य, स्कन्द महेश्वर और वररुचि की टीकाए उपलब्ध हैं।

निरुक्त का लक्षण- आचार्य सायण ने निरुक्त का लक्षण किया है- 'अर्थावबोधे निरपेक्षतया पदजातं यत्रोक्तं तन्निरुक्तम् अर्थात् अर्थज्ञान के विषय में जहॉ स्वतन्त्ररुप में पदसमूह का कथन किया गया है वह ' निरुक्त' कहलाता है ।

महत्त्व - आचार्य यास्क ने निरुक्त और व्याकरण शास्त्र के सम्बन्ध को स्पष्ट करते हुए निरुक्त को व्याकरण का पूरक स्वीकार किया है तथा निरुक्त ज्ञान के लिए व्याकरण का ज्ञान भी आवश्यक माना है । आचार्य दुगाचार्य के अनुसार व्याकरण और कल्प आदि वेदाङ्गों के लिए अर्थ को जानना आवश्यक है । निरुक्त के द्वारा वैदिक - शब्दों के अर्थ का ज्ञान होता है । बिना अर्थ ज्ञान के दोनों ही वेदाङ्ग व्याकरण और कल्प व्यर्थ हैं। अतः वेदाङ्गों में निरुक्त का विशिष्ट महत्त्व है ।

1.4.5 ज्योतिष

ज्योतिषामयनं चक्षुः (पाणिनीय शिक्षा) अर्थात् वेद पुरुष का चक्षु ज्योतिष् वेदाङ्ग को कहा गया है। वैदिक-यज्ञों में तिथि, नक्षत्र, पक्ष, मास, ऋतु तथा सम्वत्सर का सूक्ष्म विधान होता है । कौन से यज्ञ किस तिथि, नक्षत्र, पक्ष आदि शुभमुहूर्त्त में हो उसकी गणना के लिए 'ज्योतिष् वेदाङ्ग' का अतीव महत्त्व है । काल के किसी भी खण्ड को जानने के लिए ज्योतिष् ज्ञान आवश्यक है । 'वेदाङ्ग ज्योतिष्' के अनुसार 'यो ज्योतिषं वेद स वेद यज्ञम्' अर्थात् जो व्यक्ति ज्योतिष् को जानता है, वही यज्ञ को भी जानता है । 'ज्योतिष् वेदाङ्ग' गणना पर आधारित है इसलिए ज्योतिष् में गणित को मूर्धन्य (श्रेष्ठ) स्थान दिया जाता है। 'ज्योतिष्वेदाङ्ग' का उपलब्ध और प्रतिनिधि ग्रन्थ 'वेदाङ्ग ज्योतिष्' है इसके दो पाठ (संस्करण) उपलब्ध हैं एक पाठ का सम्बन्ध ऋग्वेद से है इसमें ३६ श्लोक हैं । दूसरे पाठ का सम्बन्ध यजुर्वेद से है इसमें ४३ श्लोक हैं । इसके रचयिता लगध हैं । ईस्वीपूर्व १४०० वर्ष की यह रचना प्राचीन एवं दुर्बोध है । डॉ थीबों, शंकर बालाकृष्ण दीक्षित, लोकमान्य तिलक और सुधाकर द्विवेदी आदि विद्वानों ने इस पर भाष्य लिखे हैं । वेदाङ्ग ज्योतिष्' में गणना का आधार २७ नक्षत्र हैं । इसमें राशियों का कहीं उल्लेख नहीं है । यही ज्योतिष् का आधारभूत ग्रन्थ है ।

1.4.6 छन्द

छन्द नामक वेदाङ्ग वेदपुरुष के पैर हैं 'छन्दः पादौ तु वेदस्य' (पाणिनीय शिक्षा) छन्द वेद को गति प्रदान करते हैं । आचार्ययास्क के अनुसार छद् धातु से निष्पन्न छन्द शब्द आच्छादनार्थक है-

छन्दांसि छादनात् (निरुक्त ७.१९) अर्थात् वेद को छादन करने (ढकने) के कारण इन्हें छन्दस् कहा जाता है। सर्वानुक्रमणीकार कात्यायन ने 'यदक्षरपरिणामं तच्छन्दः' अर्थात् अक्षरों के परिणाम को छन्द कहा है। इससे स्पष्ट होता है कि वैदिक छन्दो में अक्षरों की गणना होती है, मात्राओं की नहीं। गुरु लघु का नियम इनमें नहीं होता है। इसमें चरणों की संख्या कम से कम एक तथा अधिक से अधिक पॉच होती है। लौकिक छन्दों में सदैव चार चरण ही होते हैं। वैदिक छन्दों की मुख्य संख्या ७ (सात) है। वैदिक छन्दों में क अक्षर से लेकर १०४ अक्षरों तक के छन्दों का विधान आचार्यों ने किया है।

महत्त्व- छन्दों का विवरण मन्त्र संहिताओं में उपलब्ध होता है। ब्राह्मण ग्रन्थों में भी विनियोग-विधान के विषय में, द्रव्य, देवता और यजमान के प्रयोजनानुरुप विविध छन्दों का विधान है। यथा ब्रह्मवर्चस् के लिए गायत्री छन्द, आयुष्य के लिए उष्णिक् छन्द, स्वर्ग प्राप्ति के लिए अनुष्टुप् छन्द, श्री प्राप्ति के लिए बृहती छन्द, यज्ञ के लिए पङ्क्ति छन्द, शक्ति सामर्थ्य के लिए त्रिष्टुप् छन्द तथा पशु प्राप्ति के लिए जगती छन्द का विधान किया गया है।

छन्दोविषयक प्राचीन विवरण शांखायन श्रौतसूत्र, ऋक्प्रातिशाख्य, सामवेदीय, निदानसूत्र, पिंगलप्रणीत छन्दःसूत्र तथा कात्यायन एवं अन्य आचार्यों के द्वारा प्रणीत छन्दोऽनुक्रमणियों में उपलब्ध हैं। पिङ्गलाचार्य के छन्दःसूत्र में छन्द की सर्वाधिक सामग्री उपलब्ध है। वैदिक छन्दों के साथ ही इसमें लौकिक छन्दों का भी विवेचन है। 'छन्दःसूत्रों के आठ अध्यायों में से प्रथम चार अध्यायों में वैदिक छन्दों के लक्षण दिये गये हैं। छन्दःसूत्र पर हलायुधभटटकृत ' मृतसंजीवनी' व्याख्या उपलब्ध है। प्रमुख वैदिक-छन्द ७ (सात) हैं।

१- गायत्री - तीन चरण ८ गुणा ३ = २४ अक्षर ,
२- उष्णिक् तीन चरण८,८,१२ , २८ अक्षर
३- अनुष्टुप्-चार चरण, ८ गुणा ४ = ३२ अक्षर,
४- बृहती चार चरण८,८,१२,८ ,३६ अक्षर,
५- पंक्ति -पॉच चरण, ८ गुणा ५ = ४० अक्षर,
६- त्रिष्टुप् चार चरण,११ गुणा ४= ४४ अक्षर,
७- जगती चार चरण, १२ गुणा ४ =४८ अक्षर

ऋग्वेद में सर्वाधिक त्रिष्टुप् छन्द प्रयुक्त हैं जिनकी संख्या ४२५३ फिर गायत्री छन्द की संख्या २४६७, तत्पश्चात् जगती छन्द की संख्या १३५८ है।

वैदिक छन्द में एक या दो अक्षरों की अधिकता अथवा न्यूनता से छन्द में अन्तर नहीं आता। एक अक्षर कम होने से निचृत् एक अधिक होने पर भुरिक्, दो कम होने पर विराट्, दो से अधिक होने पर स्वराट्, विशेषण लगाया जाता है यथा 'गायत्री छन्द' में एक अक्षर कम होने पर 'निचृत् गायत्री' एक अक्षर अधिक होने पर ' भुरिक् गायत्री' छन्द ही रहता है। इसी तरह अन्य छन्दों की स्थिति भी समझी जाती है। सात मुख्य छन्दों के अतिरिक्त सात अतिछन्द भी हैं। जिनमें चार-चार अक्षरों की

संख्या बढती रहती है उसी के आधार पर छन्द अनेक हो जाते हैं। यथा जगती में ४८ अक्षर होते हैं। चार अक्षर अधिक होने पर अति जगती, ४ और अधिक होने पर शक्वरी इसी तरह ४-४ अक्षरों की अधिकता से अतिशक्वरी, अष्टि, अत्यष्टि, धृति अतिधृति छन्द बने हैं जिनमें चार-चार की संख्या अधिक है। इसी प्रकार चार-चार अक्षरों की संख्या बढ़ने से कृति, प्रकृति, आकृति, विकृति, संकृति, अभिकृति तथा उत्कृति छन्द कहे गये हैं। अन्तिम छन्द उत्कृति में १०४ अक्षर होते हैं।
निष्कर्षतः छन्द को जाने बिना मन्त्र का शुद्ध पाठ नहीं हो सकता है तथा स्तुतिप्रधान संहिताओं के द्वारा देवताओं को प्रसन्न करने की दृष्टि से भी छन्द का महत्त्व है।

1.5 वेदाङ्ग की मौलिकता एवं प्रवचनकर्ता

वेदाङ्गों की आधारभूत सामग्री का पहला स्रोत मन्त्र संहिताऐं हैं जिनमें श्रौतयागों के नाम, वैदिक शब्दों के निर्वचन, भाषा के स्वरुप की संरचना, व्याकरण की मूल अवधारणा, विभिन्न नक्षत्रों और छन्दों के नाम उपलब्ध होते हैं। दूसरा स्रोत ब्राह्मण-साहित्य है जिसमें श्रौतयागों से सम्बद्ध विधि वाक्य आनुष्ठानिक सूक्ष्म विवरण के साथ उपलब्ध हैं। निर्वचनों का विशाल भण्डार ब्राह्मण-साहित्य है। छन्दों की सामग्री तथा किस छन्द का प्रयोग करने से कौन सी कामना पूरी होती है इसका उल्लेख ब्राह्मण-साहित्य में उपलब्ध है। गोपथ ब्राह्मण के पूर्वभाग में धातु, प्रातिपदिक, नाम, आख्यात, लिंग, वचन, विभक्ति, प्रत्यय, स्वर, उपसर्ग, निपात, विकार, विकारी, मात्राअक्षर, पद, संयोग, प्रयत्न, शिक्षा, वर्ण, कृदन्त, अव्यय आदि व्याकरण के पारिभाषिक शब्द ब्राह्मण ग्रन्थों में उपलब्ध होते हैं। तैत्तिरीयोपनिषद् में वेदाङ्ग विषयक सामग्री उपलब्ध है। छान्दोग्योपनिषद् में व्याकरण के पारिभाषिक शब्दों का उल्लेख है। महाभारत, बृहन्नारदीय पुराण में वेदाङ्गविषयक सामग्री मिलती है। सूत्र-साहित्य में वेदाङ्ग विषयक समस्त सामग्री को एक साथ संकलित करने हेतु सूत्रग्रन्थों के रुप में बृहद्वाङ्मय का प्रणयन हुआ है।

बोध प्रश्न

१. वेद का अर्थ क्या है ?
२. वैदिक-संहिताएं कितनी हैं ?
३. वैदिक साहित्य को कितने भागों में वर्गीकृत किया गया है ?
४. उपनिषद् का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ क्या है ?
५. वेदाङ्ग किसे कहते हैं ?
६. शिक्षा की परिभाषा बताइए ?
७. वेदरुपी पुरुष के हाथ, पैर, मुख,नेत्र, नासिका की संज्ञा किसे दी गयी है ?
८. वैदिक छन्द कितने हैं ?
९. वेदाड.ग का क्या महत्त्व है ?

१०. कल्प की संख्या कितनी हैं ?

११.ज्योतिष के मुख्य ग्रन्थ का नाम लिखिये

1.6 सारांश

वेद भारतीय ज्ञान विज्ञान, धर्म संस्कृति, साहित्य दर्शन और नैतिक शिक्षा के मूल हैं। ये समग्र साहित्य में प्राचीनतम हैं। वेद में ही भारतीय सामाजिक संरचना की आधारशिला प्रतिष्ठित है। वेद-विषयक सामग्री का विश्व की जनता लाभ उठाये इसीलिए वेद के अङ्ग-वेदाङ्गों की आवश्यकता वेदार्थ बोध के लिए उपयोगी मानी गई है, क्यांकि वेदाङ्ग में वे सहायक-तत्त्व विद्यमान हैं, जिनसे वेदों को समझने और उनके कर्मकाण्ड के सम्पादन में सहायता मिलती है।

वेदमन्त्रों के सम्यक् उच्चारण, वेदार्थ के समुचित परिज्ञान, वेद स्वरुप की अवगति, यज्ञों के विधिपूर्वक अनुष्ठान के निमित्त सम्प्रति छः वेदाङ्गों की उपादेयता है।

शिक्षा वेदाङ्ग मन्त्रों के साधु उच्चारण की शिक्षा देता है, तो कल्प विधियों का विधान बतलाता है-कल्प्यते समर्थ्यते यागप्रयोगोऽत्र । व्याकरण और निरुक्त वैदिक शब्दों की व्युत्पत्ति बतलाते हैं, तथा वेदार्थ पर प्रकाश डालते हैं, ज्योतिष् कर्मानुष्ठान का कालज्ञापक है। विभिन्न यज्ञों में भिन्न भिन्न छन्दोमय मन्त्रों का विनियोग होता है जिसे छन्द वेदाङ्ग से जाना जा सकता है। अतः वेदाङ्ग का महत्त्व वेदाध्येताओं के लिए आवश्यक है क्यांकि वेदार्थ को जानने वाला ब्रह्मलोक की महिमा को प्राप्त करता है यथा- पाणिनीय-शिक्षा में वेदाङ्ग की महत्ता प्रतिपादित है- तस्मात् साङ्गमधीत्यैव ब्रह्मलोके महीयते (पा0शि0)।

1.7 शब्दावली

१- प्राचीनतम- सबसे पुरानी प्राचीन तमप् (प्रत्यय)।

२- संस्कृतवाड्मय - संस्कृत भाषा में निबद्ध साहित्य।

३- साड्गोपाड्ग - अङ्ग और उपाङ्ग सहित।

४- वैदिक संहिता- वेद के मन्त्रों का संग्रह (समूह) मूलपाठ।

५- वेदभाष्यकार - वेदमन्त्रों पर विस्तृत टीका के साथ व्याख्या लिखने वाले।

६- छन्दोबद्ध- छन्द से युक्त।

७- अनुक्रमणी साहित्य - सूची (लिस्ट) जिसमें वेदों के ऋषियों, छन्दों, देवताओं, सूक्तों, अनुवाकों तथा पद की सूची ,गणना सहित दी गयी है।

८- ऐतरेयारण्यक -ऐतरेय आरण्यक।

९- जैमिनीयोपनिषद्-जैमिनीय उपनिषद्।

१०-तैत्तिरीयोपनिषद् -तैत्तिरीय उपनिषद्।

११- प्रयोजनानुरूप -प्रयोजन के अनुरूप।
१२- आनुष्ठानिक -यज्ञादि अनुष्ठान से सम्बन्धित।
१३- पारिभाषिक -परिभाषा सम्बन्धित।
१४- सम्प्रति - वर्तमान में।

1.8 बोध प्रश्न के उत्तर

१. वेद का अर्थ ज्ञान है ऐसा ज्ञान जिससे इष्टप्राप्ति और अनिष्ट निवारण हो।

२. वैदिक-संहिताएं चार है- ऋक्, यजुष्, साम, अथर्व।

३. वैदिक-साहित्य छः वर्गों में विभक्त हैं।

४. उप (समीप), नि (निष्ठापूर्वक) उपसर्ग सद् धातु (बैठने अर्थ में) से क्विप् प्रत्यय के योग से बना है जिसका अर्थ ब्रह्म ज्ञान के लिए गुरु के समीप निष्ठापूर्वक बैठना है।

५. वेद के अध्ययन में सहायक ग्रन्थों को वेदाङ्ग कहा गया है।

६. शिक्षा जिसमें स्वर, वर्ण, मात्रा, बल, (प्रयत्न) साम और सन्तान का वर्णन किया गया हो वह शिक्षा है।

७ . वेदरूपी पुरुष के छः अंग -

पाद - छन्द
हस्त - कल्प
घ्राण - शिक्षा
श्रोत्र - निरुक्त
चक्षु - ज्योतिष्
मुख - व्याकरण

वैदिक छन्द - ७ (सात)

गायत्री - २४ अक्षर,
उष्णिक् - २८ अक्षर
अनुष्टुप् - ३२ अक्षर
बृहती - ३६ अक्षर
पंक्ति - ४० अक्षर
त्रिष्टुप् - ४४ अक्षर
जगती - ४८ अक्षर,

९. वेदमन्त्रों के अध्ययन के लिए।

१०. कल्प- ४ हैं।

११. ' वेदाङ् ज्योतिष ' है।

1.9 उपयोगी पुस्तकें

१. संस्कृत वाङ्मय का बृहद् इतिहास वेदखण्ड- पद्मभूषण आचार्य श्री बलदेव उपाध्याय उत्तर प्रदेश संस्कृत संस्थान, लखनऊ।

२. संस्कृत वाङ्मय का बृहद् इतिहास वेदाङ्गखण्ड - पद्मभूषण आचार्य श्री बलदेव उपाध्याय उत्तर प्रदेश संस्कृत संस्थान, लखनऊ।

३. वैदिक साहित्य का इतिहास-डॉ0 कर्ण सिंह, साहित्य-भण्डार, शिक्षा साहित्य प्रकाशन, सुभाष बाजार मेरठ।

४. संस्कृत साहित्य का इतिहास - डॉ0 उमा शंकर मिश्र।

५. संस्कृत साहित्य का इतिहास - पं0 आचार्य बलदेव उपाध्याय।

६. वैदिक साहित्य का इतिहास - श्री गजाननशास्त्री मुसलगॉवकर,पं. राजेश्वर (राजू) केशवशास्त्री, मुसलगॉव चौखम्बा संस्कृत संस्थान वाराणसी।

७. वैदिक साहित्य और संस्कृति का स्वरुप - डॉ0 ओम प्रकाश पाण्डे विश्व प्रकाशन, नई दिल्ली

८. महाभाष्य प्रथम पस्पशाह्निक- महर्षि पतञ्जलि, विद्या निधि हिन्दी व्याख्या विद्या निधि शोध संस्थान, कुरुक्षेत्र।

1.10 निबन्धात्मक प्रश्न

1. वैदिक साहित्य का परिचय लिखिए।

2. वेदांगों का वर्णन कीजिए।

इकाई 2. वेदाङ्गों में शिक्षा का महत्त्व

इकाई की रुपरेखा

2.1 प्रस्तावना

2.2 उद्देश्य

2.3 वेदाङ्गों में शिक्षा का परिचय

2.3.1 शिक्षाशास्त्र का उद्भव एवं विकास

2.3.2 शिक्षाग्रन्थों का संक्षिप्त परिचय

2.3.3 ऋग्वेद से सम्बन्धित शिक्षा ग्रन्थ

2.3.4 यजुर्वेद से सम्बन्धित शिक्षा ग्रन्थ

2.3.5 सामवेद से सम्बन्धित शिक्षा ग्रन्थ

2.3.6 अथर्ववेद से सम्बन्धित शिक्षा ग्रन्थ।

2.4 वेदाङ्गों मे शिक्षा का महत्त्व

2.5 सारांश

2.6 शब्दावली

2.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

2.8 उपयोगी पुस्तकें

2.9 निबन्धात्मक प्रश्न

2.1 प्रस्तावना

पिछली इकाई में आपने वेद, वैदिक-साहित्य एवं वेदाड्.ग के विषय मे जानकारी प्राप्त की। इस इकाई में वेदाड्.गों में शिक्षा की उपादेयता विषय पर चर्चा की जा रही है। जैसा कि आप जानते हैं कि वेद ज्ञान का साधन है -

विद्यते ज्ञायतेऽनेनेति वेदः अर्थात् जिसके द्वारा कोई ज्ञान प्राप्त किया जाय वही वेद है। वेद परम-प्रमाण या आगम प्रमाण अथवा शब्द-प्रमाण का उत्कृष्ट ग्रन्थ है। वेद का साहित्य वैदिक साहित्य-मन्त्रभाग (संहिता), ब्राह्मण, आरण्यक तथा उपनिषद् में वर्गीकृत किया गया है। भारत के प्राचीन विद्वान् इन चारों को ही वेद मानते हैं, परन्तु स्वामी दयानन्द सरस्वती ने मन्त्रभाग को ही ''वेद'' कहा है। ब्राह्मण ग्रन्थ उसकी व्याख्याएं हैं। पाश्चात्य विद्वान् भी ''वेद'' शब्द से संहिता भाग ही ग्रहण करते हैं। विद्वानों में मतभेद होते हुए भी वेदाध्ययन की आवश्यकता सभी को स्वीकार्य है- महाभाष्य में उल्लेख हुआ है-ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मः षडड्.गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च अर्थात् विद्वान् को छः अड्.ग सहित वेदों का अध्ययन करना चाहिए। मनुस्मृति भी कहती है कि ''वेदोऽखिलो धर्ममूलम् अर्थात् धर्म का मूल वेद है। धर्म में जिज्ञासा रखने वाले के लिए श्रुति (वेद) परम-प्रमाण हैं। वेद ज्ञान, ज्ञान का विषय एवं ज्ञान का साधन, तीनों ही रुप में हैं अतः प्रत्येक दृष्टि से वेदाध्ययन की आवश्यकता है। वेदाध्ययन के लिए ही वेदाड्.ग के अध्ययन की पूर्व आवश्यकता है इसलिए आचार्य-पाणिनि ने उल्लेख किया है कि ''तस्माद् साड्.गमधीत्यैव ब्रह्मलोके महीयते'' अर्थात् अड्.ग सहित वेदाध्ययन करने वाला ब्रह्मलोक में सम्मान प्राप्त करता है।

वेदाड्.ग (वेद के अड्.ग) जिनके अध्ययन से वेद मन्त्रों को समझने और उनके कर्मकाण्ड सम्पादन में सहायता प्राप्त होती है ये है- शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, ज्योतिष् एवं छन्द। इनकी शैली सूत्रात्मक है इसलिए कुछ विद्वान् इन्हें ''सूत्रसाहित्य'' भी कहते हैं।

वेदाध्ययन में प्रत्येक वेदाड्.ग की अपनी स्वतन्त्र भूमिका है। यथा वेदमन्त्रों के कर्मकाण्डीय और यज्ञीय अनुष्ठान के ज्ञान के लिए कल्प नामक वेदाड्.ग की आवश्यकता है, वेदमन्त्रों में प्रयुक्त पदों के शुद्ध स्वरुप (प्रकृति-प्रत्यय) के ज्ञान के लिए ''व्याकरण'' का महत्त्व है, वेदमन्त्रों में आये वैदिकपदों के अर्थ ज्ञान के लिए एवं निर्वचन के लिए ''निरुक्त'' वेदाड्.ग सहायक है, वही वेदमन्त्रों में प्रयुक्त छन्दों के ज्ञान के लिए तथा लयबद्धता के लिए ''छन्द'' नाम के वेदाड्.ग की महत्त्वपूर्ण भूमिका है, उसी प्रकार यज्ञीय अनुष्ठान आदि विभिन्न क्रियाओं के शुभमुहूर्त ज्ञान के लिए ''ज्योतिष्'' वेदाड्.ग की नितान्त आवश्यकता है, " शिक्षा'' वेदाड्.ग की भी वेदाध्ययन में विशिष्ट भूमिका है, जिसकी महत्त्वपूर्ण भूमिका का अध्ययन इस इकाई का प्रतिपाद्य है।

2.2 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप-

(१) वैदिक साहित्य का परिचय प्राप्त कर सकेगे।

(२) शिक्षा-साहित्य का परिचय प्राप्त कर लेंगे सकेंगे।

(३) शिक्षा साहित्य की उपयोगिता की जानकारी प्राप्त कर लेंगे।

(४) शिक्षा का वेदाङ्ग में स्थान एवं वेदों में उपयोगिता को जान सकेगे।

2.3 वेदाङ्गों में शिक्षा का परिचय

वेदाङ्गों के तीन मुख्य उददेश्य-वेदों का अर्थबोध, उनका सही उच्चारण एवं वेदों का याज्ञिक-प्रयोग है। वेदमन्त्रों के शुद्धोच्चारण के लिए शिक्षा नामक वेदाङ्ग की भूमिका है। शिक्षा का सम्बन्ध वर्णोच्चारण से है। वेद के सबसे छोटे एवं प्रारम्भिक अवयव वर्ण ही है। इस हेतु शुद्ध वर्णोच्चारण की दृष्टि से ''शिक्षा'' वेदाङ्गों में प्रथम मानी गई है। ''शिक्षा'' को व्याकरण का भी पूर्वावश्यक तत्त्व माना है। इस बात को महाभाष्यकार पतंजलि ने स्वीकार किया है- व्याकरणं नामेयमुत्तराविद्या। सोऽसौ छन्दश्शास्त्रेष्वभिविनीत उपलब्ध्याऽवगन्तुमुत्सहते। (१/२/३२)

शिक्षा का लक्षण स्पष्ट करते हुए ऋग्वेद भाष्य भूमिका में कहा गया है- कि जिस शास्त्र में वर्ण, स्वर, मात्रा, बल, साम, तथा सन्तान इन छः विषयों का उपदेश हो उसे ''शिक्षा'' कहते हैं- वर्णस्वराद्युच्चारणप्रकारो यत्रोपदिश्यते सा शिक्षा। उक्त छः विषयों का उल्लेख तैत्तिरीयोपनिषद् की शिक्षावल्ली में भी किया गया है। उनका संक्षिप्त परिचय दिया जा रहा है-

(१) वर्ण- स्वर और व्यंजन के रुप में दो प्रकार के वर्ण हैं। इनकी संख्या ६३ तथा प्लुत लृ को मिलाने से ६४ है इन वर्णों का पॉच प्रकार से विभाजन है- स्वर, काल, स्थान, आभ्यन्तर प्रयत्न और बाह्य प्रयत्न।

स्वर- स्वर का तात्पर्य स्वराघात है। स्वर तीन हैं- उदात्त, अनुदात्त और स्वरित। स्वरभेद से अर्थभेद होता है।

मात्रा- उच्चारण में लगने वाले काल को मात्रा कहते हैं। ये तीन हैं- ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत। इनका प्रयोग स्वरों में होता है। व्यंजनों की अर्धमात्रा मानी जाती है।

बल- वर्णो के उच्चारण स्थान तथा उच्चारण में वागवयवों (वाणी के यन्त्र) के द्वारा लगने वाले प्रयत्न को बल कहते हैं, वर्णो के उच्चारण स्थान आठ हैं- कण्ठ, उरस्, तालु, मूर्धा, दन्त, ओष्ठ, नासिका और जिह्वामूल। प्रयत्न दो हैं

१- आभ्यान्तर- (ये पॉच है स्पृष्ट, ईषस्पृष्ट, ईषद्विवृत, विवृत एवं संवृत)

२- बाह्य (ये ११ हैं-विवार, संवार, श्वास, नाद, घोष, अघोष, अल्पप्राण, उदात्त, अनुदात्त और स्वरित)

साम- निर्दोष गुण युक्त उच्चारण को साम कहते हैं। उच्चारण में छः दोष होते हैं-यथा गीतयुक्त पढ़ना, शीघ्रता से पढ़ना, सिर हिलाकर पढ़ना, शुद्धि अशुद्धि के विचार से रहित पढ़ना, अर्थ न जानना, अल्पकण्ठ से पढ़ना इसके अतिरिक्त १८ अन्य दोषों का वर्णन पाणिनीय शिक्षा में हुआ है। उच्चारण के गुण भी छः हैं- मधुरता से पढ़ना, अर्थ स्पष्ट करके पढ़ना, पदच्छेद, सुस्वर, धैर्य एवं लयसमर्थ युक्त पढ़ना।

सन्तान - सन्धि या संहिता के नियमों के साथ वर्णोच्चारण करना सन्तान कहलाता है। वेदमन्त्रों का मूलपाठ संहिता पाठ है, संहिता पदों की निकटता (सामीप्य) को कहते हैं- 'परः सन्निकर्षः संहिता'। प्रातिशाख्यों में कालव्यवधान से रहित पदों के मेल को संहिता कहते हैं। संहिता पाठ में पदज्ञान रखना अनिवार्य है तभी पदच्छेद या सन्धि विच्छेद पूर्वक पाठ हो सकेगा तथा अर्थ ज्ञान भी हो सकेगा।

2.3.1 शिक्षा-शास्त्र का उद्भव एवं विकास

शिक्षा-शास्त्र के सिद्धान्तों के बीज वेद की मन्त्र संहिताओं में मिलते हैं। ब्राह्मण-ग्रन्थों से तो शिक्षा के सिद्धान्त सूत्र चुनकर लिए गये हैं। तैत्तिरीयारण्यक में शिक्षा के प्रधान विषयों का निर्देश हुआ है। छान्दोग्योपनिषद् में स्वरों के महाप्राणप्रयत्नत्व का विधान है। मुण्डकोपनिषद् में वेदाङ्गों में शिक्षा का प्राथम्येन उल्लेख है। गोपथब्राह्मण में शिक्षा-सम्बन्धी अनेक पारिभाषिक शब्द मिलते हैं। शिक्षा में अक्षरों का जो लक्षण और जैसा उच्चारण वर्णित है उसी प्रकार किए जाने के उल्लेख पुराण, रामायण, महाभारत, हरिवंश पुराण इत्यादि ग्रन्थों में अनेक स्थलों में मिलते हैं। ऋग्वेदप्रातिशाख्यादि प्रातिशाख्य ग्रन्थ जिन्हें पार्षद् नाम से भी अभिहित किया जाता है और आचार्य पाणिनि अथवा आचार्ययास्क से भी प्राचीन हैं शिक्षा के ही प्राचीनतम ग्रन्थ हैं यथा ऋग्वेदप्रातिशाख्य, शुक्लयजुर्वेदप्रातिशाख्य, तैत्तिरीयप्रातिशाख्य, ऋक्तन्त्र और शौनकीयचतुराध्यायिका ये शिक्षा ग्रन्थ ही हैं।

वेद की शाखा से सम्बन्ध नहीं रखने वाले लौकिक-संस्कृत के प्रयोक्ताओं के लिए लोकवेदसाधारण लौकिक शिक्षाग्रन्थ भी रचे हुए हैं यथा- आपिशलीयशिक्षासूत्र, चान्द्रवर्णसूत्र आदि ग्रन्थ हैं जिनसे पाश्चात्य विद्वानों ने भी लाभ उठाया है। जिनमें शिक्षा शास्त्रीय विषयों का विस्तृत और सूक्ष्म प्रतिपादन किया गया है। व्याकरणों में भी शिक्षाशास्त्र के विषय आये हैं।

2.3.2 शिक्षाग्रन्थों का संक्षिप्त परिचय

शिक्षाग्रन्थों में अधिकतर शिक्षाग्रन्थ वेद के किसी शाखा विशेष से सम्बद्ध हैं। ये शिक्षाग्रन्थ मुख्य रुप से कारिकाओं में श्लोकबद्ध हैं, किन्तु कुछ शिक्षायें सूत्रात्मक भी हैं। उपलब्ध शिक्षा-ग्रन्थों का परिचय निम्नवत् है-

2.3.3 ऋग्वेद से सम्बन्धित शिक्षा ग्रन्थ

स्वराङ्कुशा शिक्षा - इसके रचयिता जयन्तस्वामी को माना गया है। इसमें २५ श्लोक हैं। इसमें उदात्त, अनुदात्त, स्वरित, प्रचय स्वर आदि का विवेचन है। सम्पादक पं0 युगल किशोर पाठक के '' शिक्षा संग्रह'' में इसका प्रकाशन है।

षोडशश्लोकी शिक्षा- यह शिक्षा माहेश्वर सूत्रों पर आधारित है। प्रथम तथा अन्तिम श्लोक में यह साक्षात् शिव के मुख से निःसृत बताई गई है। यह वर्णो का सद्यः बोध कराने वाली मणिभूता कही गई है। ६३ वर्णां का उल्लेख, वर्णो के उच्चारण की विधि, वर्णो का वर्गीकरण, उच्चारण प्रकार पाणिनीय परम्परानुसार है। शिक्षा संग्रह में यह प्रकाशित है। इसके प्रणेता रामकृष्ण आचार्य हैं।

शैशिरीय शिक्षा- ऋग्वेद की शैशिरीय शाखा से इसका सम्बन्ध है। इसके प्रणेता शैशिर बताये गये हैं। यह ग्रन्थ आकार में विस्तृत है। इसमें वर्ण, स्वर, मात्रा, स्थान, करण, सन्धि आदि का सोदाहरण विवेचन है।

आपिशलीय शिक्षा- आपिशलीय-शिक्षा का प्राचीन स्वरुप सूत्रात्मक है। इसकी रचना आपिशलि नामक प्राचीन आचार्य ने की है। अनेक व्याकरणाचार्यों ने उनके वर्णों के स्थान, करण, प्रयत्न आदि विषयक सूत्रों को अपनी रचनाओं में उद्धृत किया है। इस शिक्षा का सम्बन्ध वेद की सभी शाखाओं के साथ है। पाणिनि तथा पाणिनीतर व्याकरण की परम्परा में आपिशलीय शिक्षा का उपयोग अधिक हुआ है। इसके आठ खण्ड हैं।

पाणिनीय शिक्षा - पाणिनीय शिखा में ६० श्लोक (कारिकाएं) हैं। इसमें वर्णों की संख्या, वर्णो की उत्पत्ति, स्वर, काल स्थान, प्रयत्न आदि अनेक विषयों का संक्षिप्त वर्णन किया गया है। इस शिक्षा का सम्बन्ध सामान्य रुप से सभी शाखाओं के साथ है। इसमें वर्णित सिद्धान्त आचार्य पाणिनि के ही हैं।

2.3.4 यजुर्वेद से सम्बन्धित शिक्षा ग्रन्थ

याज्ञवल्क्य शिक्षा- यह शुक्ल यजुर्वेद से सम्बन्धित है। इसमें उच्चारण विषयक सम्पूर्ण विषयों का सांगोपांग विवेचन है इसलिए यजुर्वेद से सम्बन्धित शिक्षाओं में इसका सर्वाधिक महत्त्व है। इसके रचयिता याज्ञवल्क्य माने जाते हैं।

वासिष्ठी शिक्षा- शुक्लयजुर्वेदीय माध्यन्दिन शाखा से इस शिक्षा का सम्बन्ध है।

कात्यायनी शिक्षा- इस शिक्षा में १३ कारिकाएं हैं जिसमें स्वरित स्वर का लक्षण तथा पदों में उसकी स्थिति का विवेचन है। स्वरित के दोनों रूपों-स्वतन्त्र स्वरित तथा आश्रित स्वरित का स्वरूप वर्णित है। इस शिक्षा के रचयिता के रूप में कात्यायन का उल्लेख है।

पाराशरी शिक्षा- शुक्लयजुर्वेद की शिक्षाओं में पाराशरी शिक्षा का अधिक महत्त्व है। इसमें कुल

१६० कारिकाएं हैं। इसमें याज्ञवल्क्यीय, वासिष्ठी, कात्यायनी, पाराशरी, गौतमी, माण्डवी, अमोघानन्दिनी, पाणिनीय तथा माध्यन्दिनी शिक्षाओं का एकत्र उल्लेख है।

माण्डव्यशिक्षा- इस शिक्षा के प्रणेता महर्षि माण्डव्य माने जाते हैं। इसमें ४० वर्गों में ही ओष्ठ्य बकारयुक्त पदों को संकलित किया गया है।

अमोघानन्दिनी शिक्षा- इस शिक्षा में कुल १३० कारिकाएं हैं जिनमें ओष्ठ्य, दन्त्य, नाद, नासिक्य, रंग आदि संज्ञक वर्णों का विवेचन है।

लघुअमोघानन्दिनी शिक्षा- १७ कारिकाओं वाली एक लघु शिक्षा 'शिक्षासंग्रह' में मिलती है। इस शिक्षा में यकार तथा वकार वर्णों के लक्षण तथा उच्चारण -विधि बताई गई है।

माध्यन्दिनी शिक्षा- इसके मूल प्रणेता माध्यन्दिन हैं जो याज्ञवल्क्य के शिष्य हैं। इसमें वर्णों का किन अवस्थाओं में द्वित्व होता है,इसका सम्यक् प्रकार से विचार किया गया है। लघु माध्यन्दिनी शिक्षा में २८ श्लोक हैं। इसमें मूर्धन्य षकार का कब खकार में उच्चारण होगा इसका विधान है।

वर्णरत्न प्रदीपिका शिक्षा- इसके रचयिता भारद्वाजगोत्रीय आचार्य अमरेश हैं। इसमें कुल २२७ श्लोक हैं वर्णां के उच्चारण-स्थान, करण तथा पूर्व-पराङ्गत्व का विचार है।

केशवी शिक्षा- दो प्रकार की रचनाएं हैं-एक सूत्रात्मिका और दूसरी कारिकात्मिका। इनमें य-व के उच्चारण, तथा षकार के खकार उच्चारण का भी विधान है।

हस्तस्वर प्रक्रिया- इसके रचयिता मल्लशर्मा हैं, इसलिए इसे 'मल्लशर्मशिक्षा' भी कहते हैं। इसमें कुल ६५ कारिकाएं हैं जिसमें वेदोच्चारण में हस्त- चालन प्रक्रिया का विवेचन है।

अवसाननिर्णय शिक्षा- इस शिक्षा के रचयिता अनन्तदेव हैं। इसमें यजुष् मन्त्रों में होने वाले अवसान (विराम) का ज्ञान है।

स्वरभक्ति लक्षणपरिशिष्ट शिक्षा- इस शिक्षा में कुल ४२ कारिकाएं हैं। इसमें ८ स्वरितों के लक्षण एवं निर्दर्शन (उदाहरण) हैं।

क्रमसन्धान शिक्षा- इस शिक्षा में, माध्यन्दिन संहिता में ४० अध्यायों में पाये जाने वाले क्रमसन्धान संगृहीत हैं। माध्यन्दिन के क्रमपाठियों के लिए यह शिक्षा उपादेय है।

मनः स्वार शिक्षा- इसके आदिम (प्रथम) प्रणेता ब्रह्मा हैं तथा प्रवचन करने वाले याज्ञवल्क्य हैं। इसमें ६४ खण्ड हैं। इसमें अवसानों का उल्लेख तथा नकारान्त ,तकारान्त ऋचाओं की एवं यजुष् मन्त्रों की परिगणना की गई है। यह स्वर-विषयक ज्ञान के लिए उपादेय है।

यजुर्विधान शिक्षा-यह शिक्षाग्रन्थ न होकर एक विधान ग्रन्थ है। इसमें अन्न काम ,पुत्रकाम आदि फलों की प्राप्ति के लिए यजुष् मन्त्रों से होम का विधान किया गया है। इसमें छः अध्याय हैं तथा यह गद्यात्मक रचना है।

स्वराष्टक शिक्षा- इसमें चार खण्ड हैं। इसमें अच् सन्धि, स्वरों के उच्चारण में हस्त चालान की स्थिति ,विसर्ग सन्धि एवं माहेश्वर सूत्र उद्धृत हैं। यह शिक्षा सूत्रात्मक है।

क्रमकारिका शिक्षा- क्रम रूप कण्ठों से युक्त इस क्रमकारिका शिक्षा का रत्नमालिका नाम भी है।

इसमें पदों की आनुपूर्वी से ही क्रम की स्थिति के नियम का उल्लेख किया गया है । इसमें ९३ कारिकाएं हैं।

कृष्णयजुर्वेदीय शिक्षा

भारद्वाज शिक्षा- इसका सम्बन्ध तैत्तिरीय संहिता से है । इसके रचयिता भारद्वाज हैं यह प्राचीन शिक्षा है । संहिता-शिक्षा भी इसका नाम है । तैत्तिरीय-संहिता के पदों की स्वरगत स्थिति के आधार पर शुद्धता के ज्ञान के लिए यह शिक्षा उपादेय है । पदों के अर्थबोध के लिए भी यह शिक्षा उपयोगी है।

व्यास शिक्षा- यह भी तैत्तिरीय संहिता से सम्बद्ध है । इसमें २८ प्रकरण हैं जिसमें वर्णो के स्थान, प्रयत्न अनुप्रदान,(बाह्य प्रयत्न) काल, स्वर, सन्धि आदि अनेक विषयों का विवेचन है। तैत्तिरीय संहिता के उच्चारण- विषयक सभी तथ्यों (नियमों) का इसमें विवेचन है। इसमें ५२५ सूत्र हैं।

शम्भु शिक्षा- इस शिक्षा में मात्रा तथा स्वर के विषय में पर्याप्त विचार किया गया है।

कौहलीय शिक्षा- इसके रचयिता आचार्य कोहली माने जाते हैं । इसका सम्बन्ध तैत्तिरीय संहिता से है ।

सर्वसम्मत शिक्षा- इसमें कुल चार अध्याय तथा १७० श्लोक हैं । यह एक प्राचीन शिक्षा है जिसके प्रणेता (रचनाकार) केशव नामक कोई आचार्य हैं।

आरण्य शिक्षा- इसका सम्बन्ध तैत्तिरीय आरण्यक के साथ है। इसमें आरण्यक के स्वरों का विवेचन तथा उनका आध्यात्मिक महत्त्व भी प्रतिपादित है। इसमें १२६ कारिकाएं हैं।

सिद्धान्त शिक्षा- इस शिक्षा में ककारादि क्रम से विभिन्न पदों का निर्देश किया गया है। बोधायन, वाल्मीकि और हारित शिक्षा अभी प्रकाश में नहीं आयी हैं।

2.3.5 सामवेद से सम्बन्धित शिक्षा ग्रन्थ

गौतमी शिक्षा- इसके मूल प्रवचनकर्ता गौतम माने जाते हैं । इस शिक्षा का नाम संयोगश्रृखंला भी है क्योंकि इसमें वर्णो के संयोग का विवेचन है। इसमें दो प्रपाठक हैं प्रथम प्रपाठक में ९ खण्ड तथा द्वितीय में छः खण्ड हैं । यह शिक्षा सूत्रात्मिका है। इसमें व्यंजन वर्णों के ही संयोग का विवेचन है, स्वरों का नहीं ।

लोमशी शिक्षा- इसके मूल प्रवचन कर्ता आचार्य लोमश माने जाते हैं । यह शिक्षा कारिका रुप में है । जिसमें ७४ कारिकाएं हैं तथा आठ खण्डों में विभक्त है। इसमें सामगों के स्वरगान के ढंग का उल्लेख, कम्प तथा रंग के उच्चारण मात्रा का उल्लेख, स्वरभक्तियों का सोदाहरण उल्लेख, वर्णो के द्विर्भाव का विवेचन आदि अनेक विषय निबद्ध हैं ।

नारदीय शिक्षा - इसे उत्तम श्रव्य वेदाङ्ग कहा गया है । इसके रचयिता देवर्षि नारद माने जाते हैं।

इसमें दो प्रपाठक तथा कई खण्ड हैं प्रथम प्रपाठक में ८ तथा द्वितीय में ८ खण्ड हैं । तृतीय खण्ड गद्यात्मक है शेष में २२७ कारिकायें हैं, इसमें स्वर विषयक विवेचन, स्वरों का उल्लेख, सभी वेदों में सभी स्वरों के चरित, स्वरों का सम्बन्ध आदि अनेक विषय हैं।

2.3.6 अथर्ववेद से सम्बन्धित शिक्षा ग्रन्थ

अथर्ववेद की माण्डूकी- शिक्षा का उल्लेख मिलता हैं। उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट होता है कि शिक्षा ग्रन्थ बहुसंज्ञक हैं।

2.4 वेदाङ्गों मे शिक्षा का महत्व

शिक्षा वेदाङ्ग के अन्तर्गत शिक्षा नाम से अनेक रचनाएं मिलती है। प्रातिशाख्यों की तरह इनका भी सम्बन्ध वेद की किसी न किसी शाखा से है। शिक्षा ग्रन्थ अपनी शाखा का नामशः उल्लेख करने के साथ प्रयोजन के रुप में उच्चारण के वैशिष्ट्य को बताते हैं।

शिक्षा-वेदाङ्ग का प्रयोजन वेद की उच्चारण शुद्धि की रक्षा करना यज्ञादि में वेदमन्त्रों का शुद्ध उच्चारण के लिए वेदाध्येताओं को समर्थ बनाना और मन्त्रों का यथोक्त फलदायित्व सुरक्षित करना है। उपलब्ध ३४ शिक्षाग्रन्थों में प्रतिपादित विषयों के आधार पर शिक्षा वेदाङ्ग का प्रयोजन और भी अधिक स्पष्ट हो जाता है । विषयो की विभिन्नता ही सभी शिक्षाग्रन्थों की आवश्यकता का सूचक है। यथा- वेदमन्त्रों में प्रयुक्त स्वरों उदात्त, अनुदात्त, स्वरित तथा प्रचय के अतिरिक्त नादस्वर, कम्पस्वर का स्वरुप एवं उच्चारण विधि का उल्लेख स्वराङ्कुशा शिक्षा में हैं। स्वर भक्ति के उच्चारण में होने वाले त्रिविध दोषों का उल्लेख शैशिरीय शिक्षा में है। वर्णो के उच्चारण स्थान, करण, प्रयत्न का लक्षण, स्पर्श्य, अन्तःस्थ एवं ऊष्म स्वर वर्णां का उल्लेख, ध्वनि की उत्पत्ति तथा वर्णो की विवृतता तथा संवृतता का विवेचन आपिशलि शिक्षा में है। वर्णों की उत्पत्ति, स्वर, काल, स्थान, प्रयत्न, दोष और गुण का विवेचन पाणिनीय शिक्षा में है ।

गौतमी शिक्षा में व्यजन वर्णो के संयोग को तीन वर्गों में विभक्त किया है- अयस्पिण्ड, दारुपिण्ड तथा ऊर्णापिण्ड । यम सहित जो संयोग होता है वह अयस्पिण्ड अन्तःस्थ व्यन्जनों का संयोग दारुपिण्ड तथा अन्य सभी वर्णोंका संयोग ऊर्णापिण्ड संयोग कहलाता है ।

लोमशी शिक्षा में उक्त विषयों के अतिरिक्त सामगान का ढंग वर्णित है। नारदीय शिक्षा में भी स्वर विषयक विवेचन है। याज्ञवल्क्य शिक्षा में नाम, आख्यात, उपसर्ग तथा निपात के भी वर्ण, ऋषि, देवता, लिङ्ग एवं जाति का विवेचन है।

पाराशरी शिक्षा में प्रणव, कण्डिकागत मन्त्रों में अक्षर-संख्या, स्वरों का पौर्वापर्य, अनुस्वार, संयोग, विसर्ग आदि के ह्रस्व-दीर्घ का विचार, वर्ण के ऊपर कब अर्धचन्द्र का प्रयोग किया जायेगा इसका उल्लेख तथा वकार के तीन रुपों आदि का उल्लेख इसमें वर्णित है ।

माण्डव्य शिक्षा में वकार तथा बकार उच्चारण पर नियम बताये हैं जिससे वेदमन्त्रों के

उच्चारण में वकार और बकार का सांकर्य (मिश्रण) न हो जाय। अमोघानन्दिनी शिक्षा में वर्ण-उच्चारण विषयक अनेक महत्त्वपूर्ण जानकारी दी गई है लघुअमोघानन्दिनी में अनुसार (--) के हकार, हिकार, हुकार, हेकार तथा होकार रुप में उल्लेख माध्यन्दिनी शिक्षा में मिलते हैं।

वेदोच्चारण में हस्तचालन प्रक्रिया एवं नित्य वेदपाठ में इसका प्रयोग तथा फलश्रुति के ज्ञान के लिए हस्तस्वर प्रक्रिया शिक्षा अत्यन्त उपयोगी है।

यजुर्वेदसंहिता के अवसान पदों का उल्लेख अवसान निर्णय शिक्षा में है। क्रमसन्धान शिक्षा में जिन अध्यायों में क्रमसन्धान नहीं मिलता उनका स्पष्ट उल्लेख है। स्वर और सन्धि के ज्ञान के लिए 'स्वराष्टक शिक्षा' उपयोगी है। संहिता के क्रमपाठ में वेष्टन (आवृत) के विषय का विवेचन 'क्रमकारिका शिक्षा' में है।

तैत्तिरीय संहिता के पदों की स्वरगत स्थिति के आधार पर शुद्धता के ज्ञान के लिए 'भरद्वाज शिक्षा' उपादेय है। व्यास शिक्षा अपने आप में सम्पूर्ण है अतः उच्चारण-विषयक लगभग सभी विषयों का इसमें विवेचन है। आरण्यक के स्वरों का तथा उनका आध्यात्मिक महत्त्व 'आरण्य-शिक्षा' में वर्णित है। ककारादि क्रम से विभिन्न पदों का निर्देश 'सिद्धान्त शिक्षा' में वर्णित है। स्वरों के विशद् -विवरण के लिए अथर्ववेदीय माण्डूकी शिक्षा की उपादेयता है। निष्कर्षतः उपलब्ध सभी शिक्षाएं उच्चारण-सम्बन्धी नियमों का उल्लेख करती हैं ,जिनके अध्ययन से वेदमन्त्रों के सम्यक् शुद्ध उच्चारण, यथार्थ-ज्ञान एवं यथोक्त फल सुरक्षित रहते हैं। अतः शिक्षा की वेदाङ्ग में महत्त्वपूर्ण भूमिका निश्चित है।

बोध प्रश्न-

(१) रिक्त स्थान भरिए-

(१) विश्व का प्राचीनतम साहित्य ....है। (वेद/रामायण)

(२) वैदिकसाहित्य के अध्ययन के लिए .... की आवश्यकता है। (वेद/वेदाड्.ग)

(३) वेंदाड्.ग की संख्या ....है। (५/६)

(४) वेदमन्त्रों के शुद्ध स्वरुप ज्ञान के लिए ....आवश्यक है। (व्याकरण/छन्द)

(५) ज्योतिष् वेदाड्.ग .... के लिए आवश्यक है। (निर्वाचन/शुभमूहूर्त ज्ञान)

(६)वेद की सबसे छोटी इकाई....................................है। (वर्ण/पद)

(७)व्याकरण का पूर्वावश्यक तत्त्व..................................है। (शिक्षा/छन्द)

(८)शिक्षा का लक्षण है.......................................है।(वर्णादि छः विषयों का विवेचन/याज्ञिक कर्मकाण्ड का विवेचन)।

(९)वेदमन्त्रों का यथोक्त फल प्राप्त होता है............................(शुद्ध उच्चारण -से/उच्चारण से)।

(१०) स्वरहीन मन्त्रों के उच्चारण से ....प्राप्त होता है। (ब्रह्मलोक /इहलोक)

बोध प्रश्न- (२)

१. शिक्षा-शास्त्र का लक्षण लिखिए ?
२. शिक्षा का प्रयोजन क्या हैं ?
३. शिक्षा शास्त्र के सिद्धान्तों का मूल ग्रन्थ क्या है ?
४. शिक्षा के सिद्धान्त सूत्र कहाँ से चुनकर लिए गये हैं।
५. ऋग्वेद से सम्बन्धित दो शिक्षायें लिखिये।
६. नारदीय शिक्षा किस वेद से सम्बन्धित है?
७. यजुर्वेद की कितनी शिक्षायें उपलब्ध हैं?
८. अथर्ववेद की शिक्षा का नाम लिखिए।

2.5 सारांश

जिस शास्त्र में स्वर, वर्ण, मात्रा, बल (प्रयत्न) साम (स्पष्ट एवं सुन्दर स्वर में उच्चारण) और सन्तान (सन्धि नियम का बोध) हो उस शास्त्र को शिक्षा नामक वेदाङ्ग कहा गया हैं। शिक्षा का प्रयोजन वेदमन्त्रों के उच्चारण में शुद्धि रखना, यज्ञादि वेदमन्त्रों के शुद्ध उच्चारण में वेदाध्येताओं को समर्थ बनाना एवं मन्त्रों का यथोक्तफल प्राप्त कराना हैं। शिक्षाशास्त्र के सिद्धान्तों के बीज मन्त्र-संहिताओं में मिलतें हैं। ब्राह्मणगन्थ, आरण्य ग्रन्थ, उपनिषद्, आदि ग्रन्थों में शिक्षाशास्त्र के नियमों के सिद्धान्त मिलते हैं। पुराण, रामायण, महाभारत में अक्षरों के उच्चारण से युक्त वेद-मन्त्रों के पाठ किए जाने का उल्लेख हैं। प्रातिशाख्यग्रन्थ शिक्षा के ही ग्रन्थ हैं बड़े आकार के शिक्षा सम्बन्धी ग्रन्थ प्रातिशाख्य कहे जाते हैं। छोटे ग्रन्थ शिक्षा नाम से जाने जाते हैं। उपलब्ध शिक्षाओं की संख्या ३४ हैं। पाणिनीय शिक्षा और व्यास शिक्षा विशेष महत्त्वपूर्ण है।

2.6 शब्दावली

१- वेदाङ्ग - वेद के अङ्ग
२- वैदिकवाङ्मय- वेद का साहित्य
३- प्रामाणिक शास्त्र- प्रमाण द्वारा सिद्ध किया गया शास्त्र
४- वेदाध्ययन - वेद के अध्ययन
५- सूत्रात्मक- सूत्र रुप में लिखि गई।
६- बल - प्रयत्न (आभ्यान्तर प्रयत्न , बाह्य प्रयत्न) वर्णो के उच्चारण में किया जाने वाला-
७- प्रातिशाख्य - प्रत्येक शाखासम्बन्धी शास्त्र।
८- यथोक्त - जैसा कहा गया है वैसा।
९-यागाचार्यो- यज्ञ करने वाले आचार्य।
१०- ऋत्विज्- मन्त्रों को पढ़ने वाले आचार्यो को ऋत्विज् कहते हैं।
११- प्राथमम्येन - प्रमुखता से।

2.7 बोध प्रश्नों के उत्तर

(१) रिक्त स्थान के उत्तर-

१. वेद। २. वेदाङ्ग। ३. छः। ४. व्याकरण। ५. शुभमुहूर्त ज्ञान के लिए।

६. वर्ण। ७. शिक्षा। ८. वर्णादि छः विषयों का विवेचन। ९. शुद्ध उच्चारण।

१०. ब्रह्मलोक।

(२)१. शिक्षा शास्त्र जिसमे वर्ण ,स्वर, मात्रा, बल, साम, सन्तान का विवेचन हो।

२. वेदमन्त्रों के शुद्धोच्चारण से यथार्थ फल प्राप्ति।

३. मन्त्रसंहिताएं।

४. बाह्मण ग्रन्थ।

५. आपिशलि, पाणिनीय।

६. सामवेद।

७. १८।

८. माण्डूकी शिक्षा।

2.8 उपयोगी पुस्तकें

१. संस्कृत हिन्दी शब्द कोश - वामन शिवराम आप्टे।

२. संस्कृत साहित्य का इतिहास - पं0 बलदेव उपाध्याय।

३. पाणिनीय - शिक्षा - महालक्ष्मी प्रकाशन, आगरा-2

४. संस्कृत वाङ्मय का बृहद् इतिहास - प्रधान संपादक पद्मभूषण पं. बलदेव उपाध्याय।

2.9 निबन्धात्मक प्रश्न

1. शिक्षाशास्त्र के उद्भव एवं विकास का वर्णन कीजिए।

2. वेदों से सम्बद्ध शिक्षाग्रन्थों का विस्तृत परिचय दीजिए।

इकाई 3. पाणिनीयशिक्षा के अनुसार उच्चारण विधि

इकाई की रुपरेखा

3.1 प्रस्तावना
3.2 उद्देश्य
3.3 आचार्य पाणिनि का संक्षिप्त परिचय
3.4 पाणिनीय-शिक्षा का परिचय
 3.4.1 पाणिनीय शिक्षा का प्रतिपाद्य
 3.4.2 वर्णों का परिचय
 3.4.3 वर्णोच्चारण प्रक्रिया
 3.4.4 वर्णोच्चारण में स्थान की भूमिका
 3.4.5 वर्णोच्चारण में प्रयन्त (बल) की भूमिका
 3.4.5 वर्णोच्चारण में स्वरों की भूमिका
 3.4.6 वर्णोच्चारण में हस्तसंचालन की भूमिका
 3.4.7 वर्णोच्चारण में दोष एवं गुण
 3.4.8 विभिन्न वर्णो के उच्चारण की विधि
 3.4.8 शुद्ध वर्णोच्चारण का महत्व
3.5 सारांश
3.6 शब्दावली
3.7 बोध प्रश्नों के उत्तर
3.8 उपयोगी पुस्तकें
3.9 निबन्धात्मक प्रश्न

3.1 प्रस्तावना

वेदाङ्गों में शिक्षा का महत्वपूर्ण स्थान है। यह वेद पुरुष की नासिका है। शिक्षा वस्तुतः ध्वनिविज्ञान है जिसके अन्तर्गत वर्णों ,स्वरों,मात्राओं, उच्चारण - स्थानों तथा उच्चारण प्रकारों का विवेचन है। पूर्वकाल से ही यज्ञों मे तथा स्वाध्याय, पारायण आदि में भी पूर्णफल के लिए मन्त्रों के शुद्ध उच्चारण पर बल दिया जाता था। यज्ञ में मन्त्र का अशुद्ध उच्चारण होने पर यज्ञ असफल हो सकता था, जिससे ऋत्विज और यजमान दोनों का भयंकर अनिष्ट हो सकता था, इसलिए मन्त्रों के सम्यक् उच्चारण प्रकार की जानकारी के लिए शिक्षा वेदाङ्ग. की नितान्त उपयोगिता थी। आचार्य सायण (वेदभाष्यकार) का कहना है कि कर्मकाण्ड में मन्त्रों के शुद्धोच्चारण के लिए शिक्षा की आवश्यकता है किन्तु उससे कहीं अधिक आवश्यकता उपनिषद् भाग के शुद्ध उच्चारण के लिये है। कर्मकाण्ड में मन्त्रोच्चारण में त्रुटि होने से प्रायश्चित करके उस त्रुटिजनित दोष को दूर किया जा सकता है, किन्तु ज्ञानकाण्ड में गलत उच्चारण से जो गलत ज्ञान होगा उसके परिणाम-स्वरूप होने वाले दुःख की निवृत्ति के लिए कोई प्रायश्चित् ही नहीं है। (तैत्तिरीय उपनिषद् १,२ पर सायण भाष्य)

शिक्षा-संहिता, ब्राह्मण उपनिषद् आदि समस्त वेदाध्ययन के लिए विहित (कही गई) है। शिक्षा वेदाङ्ग के अन्तर्गत दो प्रकार के साहित्य मिलते हैं-प्रातिशाख्य एवं शिक्षा। सभी शिक्षा प्रातिशाख्य के बाद की रचनाएं हैं। प्रातिशाख्यों की तरह इनका सम्बन्ध वेद की किसी न किसी शाखा से है। शिक्षाग्रन्थ स्पष्टरूप से अपनी शाखा का उल्लेख करते हैं इनका प्रयोजन भी उच्चारणगत वैशिष्ट्य को बताना हैं, कुछ शिक्षाएं सूत्रात्मक हैं कुछ कारिकाओं में श्लोकबद्ध हैं। उपलब्ध शिक्षाओं में पाणिनीय शिक्षा का सम्बन्ध सभी शाखाओं के साथ है। पाणिनीय शिक्षा में वर्णों के उच्चारण की विधि से पूर्व पाणिनीय शिक्षा का सामान्य परिचय इस इकाई में दिया गया है।

3.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के बाद आप -

(क) पाणिनीय-शिक्षा का परिचय प्राप्त कर सकेंगे ।

(ख) वर्णों की संख्या एवं विभाजन की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे ।

(ग) वर्णों की उत्पत्ति प्रक्रिया का बोध आपको हो जायेगा।

(घ) वर्णोच्चारण में स्थान, प्रयत्न एवं करण का महत्व की जानकारी प्राप्त कर लेंगे।

(ङ) वर्णोच्चारण में स्वरों उदात्तादि का महत्व ज्ञात हो जायेगा।

(च) वर्णोच्चारण में हस्तसंचालन के प्रयोग की जानकारी प्राप्त सकेंगे।

(छ) वर्णोच्चारण विधि में उच्चारण सम्बन्धी दोष एवं गुण का महत्व की जानकारी सकेगें।

(ज) वर्णोच्चारण का बोध हो जाने पर वेदमन्त्रों को यथार्थरूप से पढ़ने एवं अर्थबोध करने में सक्षम हो जायेगे।

3.3 आचार्य पाणिनि का संक्षिप्त परिचय

व्याकरण शास्त्र के इतिहास में संस्कृत को परिष्कृत करने में आ0 पाणिनि का नाम अविस्मरणीय है। इन्होंने संस्कृत भाषा की अक्षुण्णता बनाये रखे के लिए अपना जीवन अमर वाणी की साधना में समर्पित कर दिया। आचार्य पाणिनि के पिता की संज्ञा पणिन् (पणि) बतलायी गई हैं। पणिन् शब्द से इ´ प्रत्यय होने पर अपत्यार्थक पाणिनि शब्द निष्पन्न होता है। अतः पणि के पुत्र पाणिनि हैं। इनकी माता का नाम दाक्षी था। (दाक्षी पुत्रस्य पाणिनेः महाभाष्य १/१ /२0 सूत्र) पाणिनीय शिक्षा में पाणिनि के लिए दाक्षीपुत्र उपाधि का प्रयोग है (पा0 शि0५६) आ. पाणिनि के गुरु का नाम वर्षाचार्य था। तक्षशिला इनका सर्वमान्य विद्याध्ययन का केन्द्र रहा। इनका जन्मस्थान 'शलातुर' नामक ग्राम रहा है। शलातुर ग्राम का निवासी होने के कारण पाणिनीय व्याकरण की ' शालातुरीय' संज्ञा सर्वविदित है। बहिः साक्ष्य के आधार पर वर्तमान परिप्रेक्ष्य में आ0 पाणिनि का स्थिति काल वि0 पू0 ७५० से ५०० वि0 पू0 के मध्य माना जा सकता है। अष्टाध्यायी इनकी व्याकरण की अमरकृति है। इसे ' पाणिनीयाष्टक' भी कहा जाता है इसमें आठ अध्याय ४००० सूत्र हैं। पाणिनि को यह विद्या शंकर से प्राप्त हुई थी, इसलिए इसे शांकरी कहा गया है। पाणिनीयशिक्षा का सम्बन्ध सामान्य रूप से सभी शाखाओं के साथ हैं यद्यपि यह शिक्षा पाणिनि के नाम से विख्यात है और इसमें वर्णित सिद्धान्त पाणिनि के ही हैं, किन्तु जिस रूप में यह उपलब्ध हैं वह पाणिनि की अपनी रचना नहीं प्रतीत होती हैं। वस्तुतः पाणिनि परम्परा के किसी परवर्ती आचार्य के द्वारा इसकी रचना की गई है ऐसा माना जाता है। प्रथम श्लोक में ही इसका उल्लेख है कि ' पाणिनीय मतानुसार शिक्षा को कहूँगा पाणिनीय शिक्षा में ६० कारिकाएं हैं।

डॉ0 रामदेव त्रिपाठी ने पाणिनीय- शिक्षा का सर्वोत्तम संस्करण डॉ0 मनमोहन घोष का माना है जिसमें पाणिनीय शिक्षा के छः रूप बताये हैं-

१ संस्कृत मूल १८ श्लोकों वाला।

२ अग्निपुराणान्तर्गत- २१ श्लोकों वाला।

३ पंजिकाभाष्य सहित-२३ श्लोकों वाला।

४ शिक्षा प्रकाश -व्याख्या सहित-३२ श्लोकों वाला।

५ यजुः शाखीय - ३५ श्लोकों वाला।

६ ऋक्शाखीय - ६० श्लोकों वाला।

स्वामी दयानन्द सरस्वती ने 'वेदांग प्रकाश भाग-१' के रूप में पाणिनीय शिक्षा का एक भिन्न संस्करण निकाला है जिसका नाम ' वर्णोच्चारण शिक्षा' है इसमें ८६ सूत्र हैं तथा चार श्लोक भी हैं। पाणिनीय शिक्षा के सूत्रात्मक और पद्यात्मक दो भाग प्रकाशित हैं। पद्यात्मक पाणिनीय शिक्षा के भी लघुपाठ- यजुष् सम्बन्धी ३५ पद्य तथा दीर्घ पाठ ऋचा सम्बन्धी ६० पद प्रचलित हैं। पद्यात्मक पाणिनीय शिक्षा का प्रवचन पाणिनि के सिद्धान्त के अनुसार अन्य रचनाकार द्वारा किया गया है।

3.4 पाणिनीय शिक्षा का परिचय

3.4.1 पाणिनीय शिक्षा का प्रतिपाद्य

वर्ण्यविषय निम्न है- ग्रन्थ प्रतिपाद्य और प्रयोजन, वर्ण भेद, वर्णमाला, वर्णोत्पत्ति प्रक्रिया, उत्पन्न वर्णो के भेदक तत्व उदात्तादि स्वर, हस्तसंचालन, ह्स्वादि मात्रा, प्रतिवर्ण उच्चारण स्थान प्रतिवर्ण उच्चारण प्रयत्न (आभ्यान्तर बाह्य) विशेष वर्ण रङ्गवर्ण कम्प- स्वर उच्चारण विधि, उच्चारण के गुण, दोष तथा उनके लाभ हानि, सन्धि, मन्द, मध्य, तार ध्वनि उनकी स्थिति स्थान, आचार्य पाणिनि का योगदान और उसके प्रति आदरभाव, प्रत्येक वेदांग का वेद में स्थान अथवा भूमिका, शिक्षाध्ययन के ऐहलौकिक और पारलौकिक प्रयोजन (फल)।

3.4.2 वर्णों का परिचय

अकार आदि को वर्ण कहते हैं। वेदार्थ -ज्ञान हेतु वर्ण -परिचय अत्यावश्यक है। पाणिनीय- शिक्षा में ६३ या ६४ वर्ण माने गये हैं। ' त्रिषष्टिश्चतुः षष्टिर्वा वर्णाः' शम्भुमते मताः जिसमें २१ स्वर हैं, २५ स्पर्श संज्ञक.वर्ण हैं,आठ यादि (य र ल व श ष स ह) ४ यम, ४ अयोगवाह ,दुस्पृष्ट लकार ,प्लुत लृकार को भी सम्मिलित करके कुल ६४ वर्ण हैं ये वर्ण निम्न हैं-

१. स्वर २१ हैं-

ह्रस्व	दीर्घ	प्लुत
अ	आ	अ ३
इ	ई	इ ३
उ	ऊ	उ ३
ऋ	ॠ	ऋ ३
लृ =	ए	ए ३
	ओ	ओ ३
	ऐ	ऐ ३
	औ	औ ३ = २१

२- व्यञ्जन ३३ हैं-

(१) स्पर्शव्यंजन २५

क	ख	ग	घ	ङ
च	छ	ज	झ	ञ
ट	ठ	ड	ढ	ण

त थ द ध न

प फ ब भ म = २५

(२) अन्तःस्थ वर्ण (व्यञ्जन) - य व र ल - ४

(३) ऊष्मवर्ण (व्यञ्जन)- श ष स ह -०४

२५+४ +४= ३३ व्यञ्जन। यम - ०४ हैं- पलिक्क्नी, चख्ख्नतुः, अग्ग्निः घ्घ्नन्ति, मध्यवर्ण (पूर्व वर्ण के समान वर्ण) क्, ख्, ग्, घ् ये चार यम हैं।

अयोगवाह = ०४ हैं विसर्ग (:) अनुस्वार (.-) जिहामूलीय (....क....ख) उपघ्मानीय (......प ....फ)। दुःस्पृष्ट-0१- कुल मिलाकर ६३ वर्ण हैं। प्लुत लृकार - 0१ प्लुत लृकार को भी मिलाकर वर्णों की संख्या ६४ हो जाती है। इस तरह २१ .२५.४.४.४.४.११= ६४ वर्ण। जहॉ प्लुत लृकार की गिनती नहीं होती वहॉ वर्णो की ६३ संख्या है।

3.4.3 वर्णोच्चारण प्रक्रिया

वर्ण संख्या में ६३ या ६४ हैं। इनकी उत्पत्ति का संकेत पाणिनीय शिक्षा की छठी कारिका में है - आत्मा (चेतन तत्व) का बुद्धि (ज्ञान तत्वके साथ सम्पर्क होता हैं और वह अपने अभीष्ट अर्थ को व्यक्त करने की इच्छा से मन को प्रेरित करता है। मन कायाग्नि अर्थात् शारीरिक शक्ति को प्रेरित करता है। जिससे वायु में प्रेरणा उत्पन्न होती है। अर्थात् वही कायाग्नि (जठराग्नि) मारुत अर्थात् प्राणवायु को प्रेरित करता है-

आत्मा बुद्धया समेत्यार्थान् मनो युङ्क्ते विवक्षया।
मनः कायाग्निमाहन्ति स प्रेरयति मारुतम्।। (पा0 शि/६)

कायाग्नि से प्रेरित प्राणवायु हृदय में संचरित होकर मन्द्र स्वर को उत्पन्न करती है, जो प्रातः सन्ध्यावन्दनादि कर्म के साधन रूपी मन्त्रों के उपयोगी गायत्री नामक छन्द से युक्त है-

मारुतस्तूरसि चरन् मन्द्रं जनयति स्वरम्
प्रातःसवनयोगं तं छन्दो गायत्रमाश्रितम्।। (पा0 शि0१७)

वही प्राणवायु उरःप्रदेश में संचरण करता हुआ कण्ठप्रदेश मे पहुँकर मध्यम ध्वनि (स्वर) को उत्पन्न करता है जो अपराह्न सन्ध्यावन्दनादि कर्म के साधन रूपी मन्त्रों के उपयोगी तथा त्रिष्टुप् छन्द से युक्त है। तत्पश्चात् वह प्राणवायु कण्ठप्रदेश से ऊपर उठकर शिरोभाग (मूर्धा) में संचरण करता हुआ जगती छन्द से युक्त सायंकालीन सोमयाग के मन्त्र के लिए उपयोगी तार (उच्च) स्वर को उत्पन्न करता है।

कण्ठे माध्यन्दिन युगं माध्यमं त्रैष्टुभानुगम्।
तारं तातीर्यसवनं शीर्षण्यं जागतानुगम्।।(पा0 शि0 ८)

वह प्राणवायु शिरः प्रदेश (शिरोभाग) से ऊपर जा नहीं सकता है क्योंकि ऊपर जाने के लिए कोई मार्ग (रन्ध्र) नही है इसलिए यह प्राणवायु मूर्धा से टकराकर लौटकर मुखविवर (मुख का खाली

स्थान) मेंसे बाहर आता है।मुखविवर (मुख के अन्दर) में ही विभिन्न प्रक्रियाओं के योग से वह प्राणवायु वर्णो के रूप में परिणत होता है अर्थात् वर्ण उत्पन्न होने लगते हैं -

सोदीर्णो मूर्ध्न्यभिहतो वक्त्रमापद्य मारुतः।
वर्णान् जनयते तेषां विभागः पंचधास्मृतः।।(पा0 शि0 ९)

वर्णोत्पत्ति की प्रक्रिया वक्ता के भीतर इतनी शीघ्रता से होती है कि कब कौन सा वर्ण किस स्थान से किस प्रयत्न से किस करण की सहायता से उत्पन्न हुआ पता ही नही चलता। जैसे शतदल को सुई से बेंधते समय ऐसा प्रतीत होता है कि सारे दल (पत्ते) एक साथ बिंध गये, पृथक् रूप से दिखाई नहीं देते हैं उसी प्रकार वक्ता को भी वर्णो के उत्पन्न होने की एक एक प्रक्रिया का पता नही लता हैं, ऐसा प्रतीत होता है कि वर्ण समूह रूप पद, वाक्य एक ही बार उच्चरित हो गये हो । जबकि वर्णोच्चारण प्रक्रिया में उत्पलपत्रशतभेदन्याय से पौर्वापर्य तो रहता ही है । उत्पत्ति की सारी प्रक्रियाओं से बुद्धि क्रमशः विकसित होती हुई वाणी में परिणत होती है -

अथायमान्तरो ज्ञाता सूक्ष्मवागात्मना स्थितः
व्यक्तये स्वस्य रूपस्य शब्दत्वेन विवर्तते ।। (वाक्य पदीयम् ११३)

अर्थात् शब्द ही आन्तर ज्ञाता है जो सूक्ष्म शब्दशक्ति के रूप में स्थित है वह अपने स्वरूप को प्रकट करने के लिए स्थूल शब्दरूप में भासित होता हैं । वहीं ज्ञाता अर्थ बताने की इच्छा होने पर मन बन जाता है और वह जठराग्नि से संयुक्त होकर मन के सहित प्राण वायु को ऊपर की ओर प्रेषित करता है। प्राणवायु मनोधर्म (ज्ञानरूप शब्द) समाविष्ट होकर तेज (जठराग्नि) की सहायता से बाहर शब्द के रूप में भासित होता है। वह प्राण वायु मन रूपी अन्तःकरण से युक्त होकर अपनी क, ख आदि वर्णरूपी ग्रन्थि का विभाग करके अनेक प्रकार से सुनाई पड़ने वाली ध्वनियों से शब्दों को अभिव्यक्त कर पुनः उन्हीं वर्णो में ही लीन होता है- ' प्राणो वर्णानभिव्यज्य वर्णेष्वेवोपलीयते (वा0/१/१/११५), इस प्रकार शब्द की प्राण और बुद्धि में रहने वाली शक्ति ही कण्ठ आदि स्थानों से व्यक्त होकर क, ख आदि भेदो का कारण बनती है ।

वह शब्द परावाक् से मूलचक्र में, पश्यन्ती वाक् से नाभि में, मध्यमा वाक् से हृदय में और वैखरी वाक् से कण्ठदेश में रहती है । पाणिनीय शिक्षा में आत्मा, बुद्धि और मन के व्यापार का वर्णन कर मूल चक्र, नाभि तक का संकेत किया है तथा मध्यमा से वैखरी वाणी की अभिव्यक्ति का वर्णन किया है कि प्राणवायु उरस् से कण्ठ, कण्ठ से शिरस् और शिरस् से मुखविवर में प्रवेश करता है। यहाँ आकर वह वायु वर्णाकार रूप में परिणत हो जाती है । इस प्रकार वर्णोत्पत्ति में सहायक आत्मा, बुद्धि, मन, प्राणवायु, हृदय (उरःस्थल) कण्ठ, शिरस् तथा मुखविवर हैं इनमें वाणी क्रमशः सूक्ष्म से सूक्ष्मतर होती जाती है ।

3.4.4 वर्णोच्चारण में स्थान की भूमिका

उत्पन्न हुए वर्णो को पॉच भागों में विभक्त किया गया हैं। स्थान की दृष्टि से वर्णो को आठ भागों में वर्गीकृत किया जा सकता हैं। उरस्, कण्ठ, शिरस्, जिह्वामूल, दन्त्य, नासिका , ओष्ठ और तालु इन उच्चारण स्थानों का वर्णोच्चारण में महत्वपूर्ण भूमिका है यथा

१. उरस् (हृदय) स्थान से कवर्गादि पंचम वर्णों तथा अन्तःस्थ (यवरल) वर्णों से मिश्रित हकार वर्ण का उच्चारण होता है।

२. कण्ठ स्थान से कवर्गादि के पंचम अक्षर तथा अन्तःस्थ वर्ण से असंयुक्त " ह'' कार वर्ण उच्चारित होता है।

३. शिरस् स्थान से (मूर्धा से) उच्चारित होने वाले (उत्पन्न होने वाले) ऋ टवर्ग (ट ठ ड़ ढ़ ण) र तथा ष वर्ण हैं।

४. जिह्वामूल स्थान से क वर्ग- क ख ग घ ङ वर्ण उत्पन्न (उच्चारित किया जाता है) होता है।

५. दन्त्य स्थान लृ त वर्ग - त थ द ध न, ल तथा स इन वर्णो के उच्चारण (उत्पत्ति) में सहायक हैं।

६. नासिका स्थान अनुस्वार (.) और यम वर्णो के उच्चारण में सहायक है।

७. ओष्ठ स्थान से उ और पवर्ग प फ ब भ म इन वर्णों का उच्चारण होता है।

८. तालु स्थान इ च वर्ग - च छ ज झ ञ, य और श वर्ण के उच्चारण में सहायक है।

इनके अतिरिक्त दन्त्य और ओष्ठ दोनों के सम्मिलित स्थान से 'व' कार की उत्पत्ति, कण्ठ और तालु से ए, ऐ, तथा कण्ठ और ओष्ठ दोनों से ओ और औ का उच्चारण होता है।

3.4 .5 वर्णोच्चारण में प्रयत्न की भूमिका

प्रयत्न (बल या कोशिश) दो प्रकार के आभ्यान्तर तथा बाह्य हैं। इन प्रयत्नों का महनीय योगदान है। एक मात्रिक ह्रस्व अकार के उच्चारण में संवृत प्रयत्न, दो मात्रा वाले दीर्घ आकारादि स्वरों में विवृत प्रयत्न सहायक हैं। घोष संज्ञक वर्ण (हश् प्रत्याहारस्थ) में संवृत प्रयत्न, अघोष (खर् प्रत्याहारस्थ) संज्ञक वर्ण में विवृत प्रयत्न सहायक हैं। स्वरवर्णों में और ऊष्म संज्ञक वर्णों में विवृत प्रयत्न, एङ्. (ए ओ) का विवृततर तथा ऐच् (ऐ औ) का विवृत प्रयत्न सहायक है। शल् (श ष स ह) वर्णो की उत्पत्ति में ईषत्स्पृष्ट तथा ईषद्विवृत प्रयत्न सहायक हैं। शल् (श ष स ह) वर्णो कें उच्चारण में अर्धस्पृष्ट सहायक है। शेष हल् (व्यंजन) वर्णों में स्पृष्ट प्रयत्न सहायक है। ञम् (ञ म ङ ण न) अनुनासिक, हकार, रेफ तथा झष् (झ भ घ ढ ध) वर्णोच्चारण में संवार तथा घोष बाह्य प्रयत्न सहायक हैं। यण् और जश् (ज ब ग ड द) ईषन्नाद (संवारघोष) वाले हैं। खफादि (ख फ छ ठ थ) श्वास बाह्यप्रयत्न से उच्चारित होते हैं। चर् (च ट त क प श ष स) प्रत्याहारस्थ वर्ण ईषत्

श्वास प्रयत्न की सहायता से उच्चरित होते हैं।

3.4.6 वर्णोच्चारण में स्वरों की भूमिका

आचार्य पाणिनि ने वर्णोच्चारण में स्वरों का विशेष ध्यान रखा है। स्वर -तीन हैं उदात्त, अनुदात्त और स्वरित। प्रचय भी स्वर माना गया है। पाणिनीय शिक्षा में इन स्वरों के मुखविवर में, हृदय मूर्धा ,श्रोत, सम्पूर्ण मुख में उच्चारण स्थान बताये हैं इनका उन्हीं स्थान से सम्यक् उच्चारण करने से वर्ण की शुद्धता बनी रहती है। कारिका ४८ में इनके उच्चारण स्थान निर्धारित हैं अतः वर्णोच्चारण नियमपूर्वक करने से वर्ण दोषपूर्ण नहीं होता तथा उच्चरित वर्णयुक्त मन्त्र यथार्थ फल प्राप्ति प्रदान करता है। पा0 शि0 कारिका ५२ में स्वरों का गलत उच्चारण या स्वरहीन उच्चारण का दुष्परिणाम वर्णित है। वर्णोच्चारण में हस्त संचालन की भूमिका -वेदमन्त्रों के उच्चारण में स्वरों का (उदात्तादि) का हस्तसंचालन पूवर्क संकेत आवश्यक है। पाणिनीय शिक्षा में कारिका ४३ और ४४ में उदात्त, अनुदात्त, स्वरित और प्रचय स्वरों के संकेत के लिए अंगूठे (अंगुष्ठ) की प्रमुख भूमिका है जिससे प्रत्येक स्वर का संकेत नियत होता है। हस्तसंचालन पूर्वक उदात्तादि संकेत न करने से कारिका ५४ में इसका दुष्परिणाम और हस्तसंचालन पूर्वक उदात्तादि का संकेत करने से कारिका ५५ में इसका सुपरिणाम वर्णित है।

3.4.7 वर्णोच्चारण में दोष एवं गुण की भूमिका

पाणिनीय शिक्षा की कारिका ३२ में वर्णोच्चारण के छः दोष तथा कारिका ३४ एवं ३५ में अन्य १८ दोषों का उल्लेख है। इनको ध्यान में रखते हुए वेदमन्त्रों का उच्चारण करना चाहिए। इसके अतिरिक्त वर्णोच्चारण कैसे किया जाय इसके लिए पाणिनीय शिक्षा में कारिका -३३ में छः गुणों का उल्लेख है। वेदमन्त्रों को पढ़ते या पाठ करते समय ये छः गुणों का ध्यान रखना चाहिए। कारिका ५१ में शुद्ध ,स्पष्ट एवं सुस्वर से उच्चारण करने का महत्व स्पष्ट है।

3.4.8 विभिन्न वर्णों के उच्चारण की विधि

आचार्य पाणिनि ने पाणिनीय-शिक्षा में विभिन्न वर्णो की उच्चारण विधि को स्पष्ट किया है।

क- यदि हकार पंचम अक्षर से युक्त हो अथवा अन्तस्थ वर्णो -य व र ल से युक्त हो तो ऐसे हकार का उच्चारण हृदय स्थानिक होना चाहिए। यदि हकार इनसे असंयुक्त है तो हकार का उच्चारण कण्ठ से होना चाहिए।

ख - ए ,ओ, ऐ, औ, इनके उच्चारण में कण्ठ की अर्धमात्रा और एक मात्रा का उल्लेख किया है। इनके उच्चारण काल में कण्ठ संवृत (कम खुलना) तथा विवृत (खुलना) नामक प्रयत्न करता है अतः ए,ओ, ऐ, औ का उच्चारण करते समय कण्ठ के संवृत और विवृत करने से वर्ण शुद्ध उच्चारित होता है। इसका ध्यान रखना आवश्यक है।

ग- सभी स्वरों के उच्चारण में विवृत प्रयत्न का ध्यान रखना चाहिए ए, ओ, में विवृत्त, ऐ , औ, में विवृततम प्रयत्न से उच्चारित होने चाहिए।

घ- अनुस्वार (कृ) और यम का नासिका से उच्चारण किया जाना चाहिए।

ङ- अयोगवाह (आश्रित वर्ण) वर्णों के उच्चारण में ध्यान रखना चाहिए कि ये किस वर्ण के आश्रित हैं और उनका उच्चारण स्थान क्या है वही उच्चारण स्थान अयोगवाहों का भी होगा अतः इनके उच्चारण में यह ध्यान रखना आवश्यक है।

च-दन्त्यमूल से उत्पन्न स्वर का अनुसरण करने वाले अनुस्वार (कृ) का अवश्य उच्चारण करना चाहिए यदि हकार, रेफ तथा श ष स वर्ण पीछे हो। ऐसे अनुस्वार का उच्चारण तुम्बीफल वीणा के स्वर के सदृश कहा गया है।

छ- यदि अनुस्वार, विवृत्त, विराम, संयुक्ताक्षर परे हैं तो ऐसे अचों (स्वरों) के उच्चारण में ओष्ठ को दो बार अलग करना चाहिए यथा- औकार तथा वकार के उच्चारण के समान ऐसे अचों का उच्चारण करना चाहिए।

झ - वर्णों के उच्चारण में ध्यान रखना चाहिए कि कोई भी मन्त्र में निहित वर्ण छूटे भी नहीं तथा गलत उच्चारित भी न हो। जैसे व्याघ्री अपने शावक को ले जाती है। वैसे ही वर्णोंच्चारण में ध्यान देना चाहिए।

रंगवर्ण का उच्चारण करते समय स्वर परक रङ्ग (अनुनासिक) का ध्यान रखना चाहिए। रङ्ग वर्ण का स्पष्ट उच्चारण किया जाना चाहिए। रङ्ग के उच्चारण में पूववर्ती वर्ण का संस्पर्श न हो इसके बाद दीर्घ स्वर का उच्चारण हो तत्पश्चात् अनुनासिक वर्ण बोले जाय।

ट- रङ्ग के उच्चारण में हृदय, मूर्धा और नासिका स्थान का ध्यान रखना चाहिए। एक मात्रा हृदय से, अर्धमात्रा मूर्धा से , अर्धमात्रा नासिका से उच्चरित होनी चाहिए।

ठ- कम्पस्वर के उच्चारण में स्वर का आदि और अवसान काल एक समान उच्चारित हो बीच में कम्पयुक्त उच्चारण करें।

इस प्रकार वर्णोंच्चारण की विधि पाणिनीय शिक्षा में वर्णित है जिसका पूर्णतः अवबोध के साथ प्रयोग करना चाहिए।

3.4.9 शुद्धोच्चारण का महत्व

वेदमन्त्रों के शुद्ध उच्चारण की विधि पाणिनीय शिक्षा में वर्णित है क्योंकि शुद्ध पाठ/यजमान का प्रत्येक दृष्टि से (लौकिक/पारलौकिक) सुख प्रदान करता है-यथा- **सुस्वरेण सुवक्त्रेण प्रयुक्तं ब्रह्म राजते-** अर्थात् सुन्दर ध्वनि तथा सुन्दर कण्ठ से बोला गया वेदमन्त्र सर्वथा सुशोभित होता है। मिथ्या प्रयुक्तो न तमर्थमाह अर्थात् अनुचित (विधि का पालन न करते हुए) गलत तरीके से उच्चरित वेदमन्त्र उसके यथार्थ को अभिव्यक्त नहीं करता है। हतायुष्यं व्याधिपीडितम् से भी स्पष्ट है कि अनुचित रूप से उच्चरित वेदमन्त्र आयु नाशक तथा रोगग्रस्त करने वाला होता है। वेदमन्त्र

उच्चारण में स्वरों (उदात्तादि) का हस्तसंचालन भी आवश्यक है- ऐसा न करने से वियोनिमधिगच्छति- अर्थात् निकृष्ट (अधम) योनि में जन्म मिलता है। हस्तेन वेदं योऽधीते -ब्रह्मलोके महीयते अर्थात् उदात्तादि को सूचित करने वाले हस्त संचालन पूर्वक वेदमन्त्र पाठ पवित्र होता है तथा पाठक को ब्रह्मलोक में भी पूजनीय बनाता है। इस लोक में सम्मान अथवा अभीष्ट फल की प्राप्ति तो होती ही है , परलोक में भी सुख (मोक्ष) प्राप्त कर लेता है । यही वेदमन्त्रों के शुद्धोच्चारण का महत्त्व है ।

3.5 सारांश

छः वेदाङ्गों में शिक्षा का महत्वपूर्ण स्थान है । इनकी संख्या ३४ उपलब्ध है जिनमें पाणिनीय -शिक्षा सर्वाधिक लोकप्रिय है । आचार्य पाणिनि के शिक्षा-सम्बन्धी सिद्धान्तों का अवलोकन षष्ठपद्यात्मक पाणिनीय-शिक्षा के प्रतिपाद्य, वर्णोच्चारण की प्रक्रिया, वर्णोच्चारण में स्थान ,प्रयत्न ,स्वर ,गुण दोष आदि का विवेचन ,शुद्धमन्त्रोच्चारण का महत्व इन बिन्दुओं का ज्ञान 'शिक्षा नामक वेदाङ्ग के अध्ययन से सम्भव है । इन सब का सम्यक् ज्ञान वेदाध्ययन के प्रति रूचि उत्पन्न करता है । वेदाध्ययन से हम सार्वत्रिक कामनाओं की प्राप्ति करने में सक्षम हो सकते हैं । आचार्य पाणिनि ने स्पष्ट भी किया है कि जो नियम पूर्वक ,संयत होकर ,स्वरादि का सम्यक् प्रयोग करते हुए वेद को पढ़ता है उसे ऋग्वेद ,यजुर्वेद, सामवेद (वेदत्रयी) अपने मन्त्रों के माध्यम से पवित्र करते हैं। ऐसा अध्येता ब्रह्म समाज (विद्वद् समाज) में सम्मान को प्राप्त करता है । उसे आन्तरिक एवं बाह्य सुख-सन्तोष प्राप्त होता है । वह ज्ञान सम्पन्न होकर मोक्ष (परम सुख, ब्रह्मानन्द की प्राप्ति) प्राप्त करता है जैसा कहा जाता है - ज्ञानेन मुक्ति न तु मुण्डनेन अर्थात् ज्ञान से मुक्ति होती है । प्रस्तुत इकाई का भी यही निष्कर्ष है कि उच्चारण विधि का सम्यक् प्रयोग शुद्ध वर्णोच्चारण में अत्यन्त सहायक है ।

बोध प्रश्न

(क) रिक्त स्थान की पूर्ति कीजिए ।

१- उपलब्ध शिक्षा ग्रन्थों की संख्या .... है । (३०/३४)

२-पाणिनीय शिक्षा के रूप .... हैं । (६ / ७)

३-आचार्य पाणिनि की अमर कृति.................... है । (अष्टाध्यायी /वाक्यपदीयम्)

४-वर्णों के विभाग .... है । (पॉच / छः)

५-वर्णों के उच्चारण स्थान ....हैं । (सात / आठ)

(ख) निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर दीजिए

६-वर्तमान पाणिनीय शिक्षा का रूप कौन सा है ?

७-आचार्य पाणिनी का जन्म समय लिखिए ?

८- शिक्षा और प्रातिशाख्य में अन्तर बताइए ?

९ . वर्णों की संख्या कितनी है ?

१० - पाठक के दोष और गुणों की संख्या बताइए ?

११ - वर्णोंत्पत्ति में सहायक तत्व लिखिए ?

१२ - रंग वर्ण उच्चारण की विधि किस कारिका में है ?

१३ - कम्प स्वर उच्चारण का उदाहरण लिखिए ?

१४ - संयुक्त हकार का उच्चारण स्थान लिखिए ?

१५ - उदात्तादि स्वर उच्चारण स्थान की कारिका कौन सी है ?

3.6 शब्दावली

१- ऋत्विज् - यज्ञ में वेदमन्त्रों को पढ़ने वाले प्रत्येक वेदमन्त्रों के ऋत्विज् होते हैं-

ऋग्वेद का ऋत्विक् -'होता'

यजुर्वेद का ऋत्विक्- अध्वर्यु

सामवेद का ऋत्विक्- उद्गाता

अथर्ववेद का ऋत्विक् - ब्रह्मा

२ - महावाक्य - वाक्यों का समूह जिसमें आकांक्षा योग्यता और सन्निधि हो।

३ - अक्षुण्णता - कभी नष्ट न होने वाला (हमेशा रहने वाला)।

४ - अपत्यार्थक – अपत्य अर्थक - सन्तान अर्थ में।

५ - अग्निपुराणान्तर्गत - अग्निपुराण के अन्तर्गत।

६ - वर्णोत्पत्ति – वर्ण उत्पत्ति (आद्गुणः से गुण सन्धि)।

७ - कायाग्नि – काय + अग्नि शरीर में रहने वाली अग्नि को जठराग्नि भी कहा गया है।

८- उत्पलपत्रशतभेदन्याय- कमल पत्तों को सूई से छेदने में क्रम का पता नहीं चलता उसी तरह वर्णोत्पत्ति प्रक्रिया का भी क्रम मालूम नहीं चलता इसलिए इस न्याय से वर्णोत्पत्ति प्रक्रिया की समानता बताई है।

९- नियमावली - नियम अवलि = नियमों की पंक्ति (श्रेणी)।

3.7 बोध प्रश्नों के उत्तर

१- ३४

२- ६

३- अष्टाध्यायी

४- पाँच

५- आठ

६- षष्टी पद्यात्मक ऋक्शाखीय पाणिनीय शिक्षा।

७- ७५०वि0 पू0 से ५००वि0 पू0।

८- शिक्षा सम्बन्धी छोटें आकार के ग्रन्थ -शिक्षा ,तथा बड़े आकार के प्रातिशाख्य कहलाते हैं।

९- ६३ अथवा ६४ हैं।

१०- दोष छः,गुण छः हैं।

११- आत्मा, बुद्धि, मन और प्राणवायु।

१२- २७वीं, २८वीं कारिका में।

१३- रथीव।

१४- संयुक्त हकार का उच्चारण स्थान हृदय है।

१५- ४८ वीं कारिका।

3.8 उपयोगी पुस्तकें

१. संस्कृत वाङ्मय का बृहद् इतिहास वेदखण्ड - प्रधान सं पद्मभूषण पं0 बलदेव उपाध्याय

२. संस्कृत वाङ्मय का बृहद् इतिहास वेदाङ्गखण्ड - प्रधान सं0पद्मभूषण पं0 बलदेव उपाध्याय

३.पाणिनीय - शिक्षा - डॉ0 अमिय चन्द्र शास्त्री 'सुधेन्द्र ' महालक्ष्मी प्रकाशन, आगरा-2

४.वैदिक-साहित्य का इतिहास - श्री गजानन शास्त्री मुसलगॉवरकर पं0 राजेश्वर (राजू) केशवशास्त्री मुसलगॉव, चौखम्बा संस्कृत संस्थान वाराणसी।

3.9 निबन्धात्मक प्रश्न

1. पाणिनीय शिक्षा क्या है ? विस्तृत परिचय दीजिए।

2 . शिक्षा ग्रन्थों की उपयोगिता सिद्ध कीजिए।

इकाई 4. पाणिनीय शिक्षा के अर्धांश की व्याख्या

इकाई की रुपरेखा

4.1 प्रस्तावना
4.2 उद्देश्य
4.3 अर्धांश की व्याख्या
4.4 सारांश
4.5 शब्दावली
4.6 उपयोगी पुस्तकें
4.7 बोध प्रश्नों के उत्तर
4.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
4.9 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री
4.10 निबन्धात्मक प्रश्न

4.1 प्रस्तावना

वेदाङ्ग-शिक्षा में पाणिनीय-शिक्षा सर्वाधिक लोक-प्रिय एवं उपादेय है। इसके सूत्रात्मक एवं पद्यात्मक दो रूप हैं। श्रीयुधिष्ठिर मीमांसक ने सूत्रात्मक पाणिनीय-शिक्षा के पाठों का ही प्रवचन-कर्ता पाणिनि को सिद्ध किया है, जिसके सूत्र वाक्यपदीय, शब्दानुशासन, वृहन्यास, काशिकावृत्ति, न्यास-पदमंजरी, शब्दकौस्तुभ, महाभाष्य, महाभाष्य प्रदीप, तैत्तिरीय प्रातिशाख्य के त्रिरत्न भाष्य में उद्धृत हैं। पद्यात्मक पाणिनीय-शिक्षाका मूल सूत्रात्मक-पाणिनीय-शिक्षा ही है जो आ0 पाणिनि प्रोक्त है। पद्यात्मक पाणिनीय-शिक्षा के भी लघुपाठ यजुष्सम्बन्धी ३५ पद्य तथा बड़ा पाठ ऋचा सम्बन्धी ६० पद्य ये दो पाठ प्रचलित हैं । पद्यात्मक-पा0-शिक्षा के लेखक ने स्पष्ट लिखा है कि मैं पाणिनी के सिद्धान्त के अनुसार अपनी ओर से शिक्षा का प्रवचन कर रहा हूॅ तथा ग्रन्थ के अन्त में भी पाणिनी के महान् योगदान का गौरव-वर्णन करते हुए उनके प्रति नमस्कारात्मक आदर-भाव और भक्ति-भाव प्रकट किया है जिससे स्पष्ट होता है कि पद्यात्मक पाणिनीय-शिक्षा पाणिनिकृत नही है।

4.2 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आपः-

१ पाणिनीय-शिक्षा के अर्धांश की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे ।

२ मङ्गलाचरण की परम्परा तथा अनुबन्ध चतुष्ट्य का बोध हो जायेगा।

३ वर्णों की संख्या-(पाणिनीय- शिक्षा के आधार पर) की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।

४ वर्णोत्पत्ति की प्रक्रियातथा वर्णो के विभाग का बोध हो जायेगा।

५ वर्णो के भेद, वर्णों का उच्चारण स्थान, अनुस्वार, यम का उच्चारण स्थान ज्ञात हो जायेगा।

६ शब्दों या वर्णों के उच्चारण में सावधानी रखने का बोध हो जायेगा, रंग वर्ण के उच्चारण विधि की जानकारी प्राप्त कर लेंगे।

4.3 अर्धांश की व्याख्या

१- **अथ शिक्षां प्रवक्ष्यामि पाणिनीयं मतं यथा**
शास्त्रानुपूर्वं तद्विद्याद् यथोक्तं लोकवेदयोः।।१।।

अन्वय- अथ पाणिनीयम् मतम् यथा शिक्षाम् प्रवक्ष्यामि । तत्-लोक वेदयोः यथोक्तं शास्त्रानुपूर्वं विद्यात्।

व्याख्या-अब मैं (व्याख्याकार) आचार्य पाणिनि के मतानुसार शिक्षानामक वेदाङ्ग को कहूॅगा।

शिष्यजन पाणिनि के उस मत को लौकिक, वैदिक शब्दो के विषय में पूर्वाचार्यों से प्रोक्त (लौकिक

वैदिक शिक्षाशास्त्रों में जैसा कहा गया है) तथा शास्त्रानुसार जाने अर्थात् उसी का अनुकरण समझें । भाव यह है कि यह शिक्षाग्रन्थ और उसके प्रतिपाद्य (विषय) पाणिनि सम्मत है। पाणिनि का मत शास्त्रोपदेष्टा या गुरुओं की अविच्छिन्न परम्परा से प्राप्त हुआ है।

विशेष- १. अथ शब्द का प्रयोग मङ्गलसूचक है। जिसके उच्चारण से कार्य में बाधा नहीं आती है। इसलिए पाणिनीय-शिक्षा का प्रारम्भ 'अथ' शुभ पद से किया है।

२. **शास्त्र के चार अनुबन्ध हैं-** अधिकारी, विषय, संबंध और प्रयोजन । इस शिक्षा का **अधिकारी**-जिज्ञासु वेदपाठी शिष्य है।

विषय- शिक्षावेदाङ्ग का निरुपण करना।

संबन्ध- शिक्षा ग्रन्थ से बोध-बोधक संबंध।

प्रयोजन- वर्णोच्चारण विधि का ज्ञान।

२ - **प्रसिद्धमपि शब्दार्थमविज्ञातमबुद्धिभिः ।**

पुनर्व्यक्तीकरिष्यामि वाच उच्चारणे विधिम् ॥२॥

अन्वय:- शब्दार्थम् प्रसिद्धमपि अबुद्धिभिः अविज्ञातम् (अतः) पुनः वाच उच्चारणे विधिम् व्यक्ती करिष्यामि।

व्याख्या- शब्दोच्चारण की विधि विद्वानों में अत्यन्त प्रसिद्ध होने पर भी मन्दबुद्दि या अल्पबुद्दि लोगों द्वारा ज्ञात नही हुई है इसलिए वाणी या वर्णों के उच्चारण नियम को मैं पुनः कहूँगा अर्थात् वैदिक और लौकिक संस्कृत के वर्णोच्चारण के प्रकारों को स्पष्ट करने लिए ऋग्वेद प्रातिशाख्य, शुक्लयजुर्वेदप्रातिशाख्य, तैत्तिरीयप्रातिशाख्य, अथर्ववेद प्रातिशाख्य तत्तच्छास्त्रीय शिक्षाग्रन्थ और आपिशलीय शिक्षा आदि लौकिक शिक्षाग्रन्थ तथा विभिन्न व्याकरणो में आये हुए शिक्षासम्बन्धी अंश विद्वानों को उपलब्ध हैं ।उन ग्रन्थों से प्रतिभासम्पन्न तथा मेधावी लोग वाणी के उच्चारण के शास्त्रीय प्रकारों को जानते ही हैं। अल्पमति वेदपाठी याज्ञिक पुरोहित जो लक्षणशास्त्र से अनभिज्ञ हैं उनके कारण यज्ञीय -वाणी का अपभ्रंशीकरण हो सकता है, जो दोष हैं उनके निवारणार्थ तथा इस लघुग्रन्थ की सहायता से अदृश्योत्पादन समर्थ शास्त्रीय शब्दों की रक्षा हो इसलिए पाणिनीय शिक्षागत वर्णोच्चारण नियम एवं विधि को प्रस्तुत किया जा रहा है।

विशेष- यहाँ पाणिनीय-शिक्षा को कहने का उद्देश्य व्याख्याकार ने निर्दिष्ट कर दिया है।

३ - **त्रिषष्टिश्चतुःषष्टिर्वा वर्णाः शम्भुमते मताः ।**

प्राकृते संस्कृते चापि स्वयं प्रोक्ताः स्वयम्भुवा ॥३॥

अन्वय- प्राकृते संस्कृते च त्रिषष्टिः चतुषष्टि वा वर्णाः शम्भुमते अपि मताः स्वयं स्वयम्भुवा प्रोक्ताः।

व्याख्या- प्राकृतभाषा और देववाणी (संस्कृत) में भगवान शंकर के मतानुसार तिरसठ या चौसठ अक्षर माने गये हैं और वे ही साक्षात् ब्रह्मा द्वारा प्रतिपादित किये गये हैं। यहॉ ब्रह्मा शब्द से ओऽम्

इष्ट है ओऽम् में अ उ म् वर्ण हैं जिसमें 'अ उ' सभी स्वरो के एवं म् सभी व्यंजनो के प्रतीक हैं। अ से कण्ठ स्थान, उ और म् से ओष्ठ स्थान लक्षित हैं। ओऽम् से यह भी व्यक्त है कि सभी वर्ण कण्ठ से ओष्ठ पर्यन्त स्थान आदि से उच्चारित हैं। ओऽम् नादात्मक ध्वनि तत् तत् स्थानों से आहत होकर वर्णों को उत्पन्न करती है। इन्हीं कारणों से संस्कृत में वर्ण 'स्वयम्भू' या ओऽम् से ही उच्चरित कहे गये हैं।

विशेष- यहाँ वर्णोत्त्पत्ति का मूल कारण भगवान शिव और ब्रह्मा का उल्लेख किया गया है।

४- **स्वरा विंशतिरेकश्च स्पर्शानां पञ्चविंशतिः।**

यादयश्च स्मृता ह्यष्टौ चत्वारश्च यमाः स्मृताः॥४॥

अनुस्वारो विसर्गश्च .... क........ पौ चापि पराश्रितौ।

दुःस्पृष्टश्चेति विज्ञेयो लृकारः प्लुत एव च॥५॥

अन्वय- स्वराः एकः विंशतिः च, स्पर्शानाम् पञ्चविंशतिः यादयः च अष्टौ हि स्मृताः,यमाः च चत्वारः स्मृताः,अनुस्वारः विसर्गःच, पराश्रितौ .... क......च अपि , प्लुत लृकारः एव च दुःस्पृष्टः च इति विज्ञेयाः।

व्याख्या- स्वर इक्कीस हैं- यथा अ,इ,उ,ऋ,ये चारों वर्ण ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत के भेद से १२ प्रकार के होते हैं ए,ओ,ऐ,औ,ये चारों वर्ण दीर्घ और प्लुत के भेद से ८ प्रकार के होते हैं।यदि प्लुत लृकार को भी माना जायेगा तो स्वरों की संख्या २२ हो जाती है। प्लुत लृकार न मानने पर स्वर २१ कहे जाते हैं। स्पर्श संज्ञक वर्ण पच्चीस हैं - कादयो मावसानाः स्पर्शाः इस नियम के अनुसार क से म तक पच्चीस वर्ण स्पर्श संज्ञक हैं। या दि अर्थात् यण् (य,व,र,ल) तथा शल्-(श,ष,स,ह) ये आठ हैं। चार यम कहे जाते हैं दो अनुस्वार और विसर्ग, प वर्ण के आश्रित रहने वाले दो वर्ण जिह्वामूलीय और उपघ्मानीय हैं। दुःस्पृष्ट और प्लुत लृकार इस प्रकार वर्णों की संख्या ६४ जाननी चाहिए।

१- स्वर -२१

ह्रस्व- अ, इ, उ,ऋ, लृ।

दीर्घ- आ, ई, ऊ, ॠ, ए, ऐ, ओ, औ।

प्लुत- अ ३, इ ३ , उ ३, ऋ ३ ,लृ३ ,ए ३ ,ऐ ३, ओ ३ ,औ ३।

२- व्यंजन- २५ स्पर्श वर्ण

कवर्ग- क, ख, ग, घ, ङ्- ५

चवर्ग- च छ ज झ ञ´- ५

ट वर्ग- ट ठ ड ढ ण - ५

त वर्ग - त थ द ध न - ५

प वर्ग - प फ ब भ म - ५

यादि - ४ यण् - य व र ल

शल्- ४ श ष स ह

यम - पलिक्क्नी ,चख्ख्नतु, अग्ग्निः घ्घ्नति उदाहरणों में क्, ख्,ग् घ् के बाद आये समान वर्ण क् ख् ग् घ् ये यम हैं क्योंकि इनके बाद पंचम अक्षर है। इनकी संख्या ४ है।

अनुस्वार - ०१

विसर्ग - : ०१

जिह्वामूलीय - ....क............. ख -१ = ०२

उपध्मानीय- ....क.......... फ -१

दुःस्पृष्ट- दो अचों के बीच में आये ड को ल (ड़)एवं ढ को ल्ह (ढ) -१ ईडे को ईळे

= २२+२५+८+४+१+१+२+१ = ६४

विशेष - वर्णो की संख्या ६४ मानी गई है यदि प्लुत लृकार को न माने तो वर्णो की संख्या ६३ मानी जायेगी इसलिए उक्त कारिका में वर्णो की संख्या६३ या ६४ मानी गयी है।

६- **आत्मा बुद्धया समेत्यर्थान् मनो युङ्क्ते विवक्षया।**
मनः कायाग्निमाहन्ति स प्रेरयति मारुतम् ।।६।।

अन्वयः- आत्मा अर्थान् बुद्ध्या समेत्य विवक्षया मनः युङ्क्ते, मनः कायाग्निम् आहन्ति, स मारुतम् प्रेरयति।

व्याख्या- आत्मा (शरीर में व्यक्त चेतन तत्त्व) घट पटादि पदार्थों को बुद्धि द्वारा संग्रह करने के पश्चात् उन पदार्थों को बोलने की इच्छा से मन से युक्त (प्रेरित) करता है। वह मन उदरस्थ अग्नि (कायाग्नि)को आहत करता है तथा वह कायाग्नि प्राणवायु को उत्तेजित करता है।

प्रस्तुत कारिका में वर्णोत्पत्ति प्रक्रिया में चार तत्वों - आत्मा, बुद्धि, मन एवं प्राणवायु का उल्लेख किया है।

७- **मारुतस्तूरसि चरन्मन्दं जनयति स्वरम्।**
प्रातः सवनयोगं तं छन्दो गायत्रमाश्रितम् ।।७।।

अन्वयः- मारुतः उरसि चरन् प्रातः सवनयोगं छन्दः गायत्रम् आश्रितम् तम् मन्द्रम् स्वरम् जनयति

व्याख्या- (जठरानल या (कायाग्नि से प्रेरित)प्राण नामक वायु हृदय में भ्रमण करता हुआ प्रातः कालीन स्नानादिक नित्यकर्म के साधनभूत मन्त्रों के लिए उपयोगी गायत्री नामक छन्द से युक्त उस गम्भीर स्वर को उत्पन्न करता है। प्राणवायु ही भिन्न -भिन्न स्थानो से होकर वर्णोत्पत्ति की प्रक्रिया मे प्रमुख तत्त्व है।

८- **कण्ठे माध्यन्दिनयुगं मध्यमं त्रैष्टुभानुगम्।**
तारं तार्तीयसवनं शीर्षण्यं जागतानुगम् ।।८।।

अन्वय - कण्ठे त्रैष्टुभानुगम् माध्यन्दिनयुगम् मध्यमम्, शीर्षण्यं जागतानुगम् तार्तीयसवनं तारं (स्वरं जनयति)

व्याख्या- कायाग्नि से प्रेरणा प्राप्त हुआ प्राणवायु जब कण्ठ स्थान में पहुॅचता है तब त्रिष्टुप् नामक

छन्द से युक्त माध्यन्दिन याग कर्म के मन्त्रो के लिए उपयोगी मध्यम स्वर को उत्पन्न करता है वही प्राणवायु शिर (मूर्धा) प्रान्त में सञ्चरण करता हुआ जगती नामक छन्द से युक्त सायं कालीन **यागोचित मन्त्र के लिए उपयोगी तार (उच्च) स्वर को उत्पन्न करता है।**

विशेष- सवन -यज्ञ का वाचक है (अमर कोष में), तीन स्वर -गम्भीर, मध्यम औरउच्च, हैं। प्रातः काल - गम्भीर स्वर का प्रयोग , मध्याह्न में मध्यम स्वर, सायं में उच्च स्वर का प्रयोग निर्धारित किया गया है।

९- **सोदीर्णो मूर्ध्न्यभिहतो वक्त्रमापाद्य मारुतः।**
वर्णाञ्जनयते तेषां विभागः पंचधा स्मृतः ।।९।।
स्वरतः कालतः स्थानात् प्रयत्नानुप्रदानतः
इति वर्णविदः प्राहुनिपुणं तन्निबोधत ।।१०।।

अन्वयः- सः मारुतः- उदीर्णः मूर्ध्नि अभिहतः वक्त्रम् आपाद्यम् वर्णान् जनयते । तेषाम् ,स्वरतः कालतः स्थानात् प्रयत्नानुप्रदानतः इति पंचधाविभागः स्मृतः।

व्याख्या- वह प्राणवायु ऊपर की ओर उठकर मूर्धा (उच्चतम भाग या सामने के अग्रभाग में टकराकर कण्ठादि स्थान वाले मुख में पहुचकर वर्णो (अकार, इकार, उकार आदि) को उत्पन्न या प्रकाशित करता हैं । उन वर्णो का उदात्तादि स्वर से, ह्रस्वादि काल से कण्ठादिस्थान से, स्पृष्टादि आभ्यान्तर प्रयत्न ,विवारादि बाह्य प्रयत्न, से पॉच प्रकार का विभाजन किया गया है उस विभाजन को सुस्पष्टतया जिज्ञासु एवं पाठकगण समझे ।

विशेष- सम्पूर्णवर्णों को विद्वानों द्वारा स्वर ,काल स्थान, आभ्यन्तर और बाह्यप्रयत्न की दृष्टि से पाँच भागों में विभाजित किया है ।

११- **उदात्तश्चानुदात्तश्च स्वरितश्च स्वरास्त्रयः।**
ह्रस्वो दीर्घः प्लुत इति कालतो नियमा अचि।।११।।

अन्वय- (अचि) स्वराः त्रयः उदात्तः च अनुदात्तः च स्वरितः च (इति) अचि ह्रस्वः दीर्घ प्लुतः इति कालतः नियमाः (भवन्ति)।

व्याख्या- स्वरों के विचार (दृष्टि)से अच् के तीन भेद -उदात्त, अनुदात्त और स्वरित होते हैं। काल की दृष्टि से ये अच् ह्रस्व (एक मात्रिक)दीर्घ (द्विमात्रिक) और प्लुत (त्रिमात्रिक) तीन प्रकार के होते हैं।

विशेष- स्वर की दृष्टि से अच् तीन हैं इनका वेद-मन्त्रों के उच्चारण में बड़ा महत्त्वपूर्ण योगदान है **यथा उदात्त स्वर** - अ इ आदि, - अचिह्नित रहते हैं।

अनुदात्त स्वर -अ इ आदि -वर्ण के नीचे एक पड़ी रेखा होती है।

स्वरित स्वर -अ   इ आदि -वर्ण के ऊपर एक खड़ी रेखा होती है। काल की दृष्टि से अच् तीन हैं- ह्रस्व अ, दीर्घ -आ , प्लुत -अ३। व्यञ्जन को अर्धमात्रिक माना गया है - क्, ख् क्योंकि इसमें स्वर नहीं होता। यहॉ पर वर्णो के वर्गीकरण का प्रथम एवं द्वितीय आधार स्वर एवं काल का उल्लेख है।

१२- **उदात्ते निषादगान्धारावनुदात्त ऋषभधैवतौ।**
स्वरितप्रभवा ह्येते षड्जमध्यम पंचमाः।।१२।।

अन्वय- उदात्ते निषाद गान्धारौ अनुदात्ते ऋषभधैवतौ (अन्तर्भूतौ स्तः इति), एते षड्जमध्यमपंचमाः स्वरित प्रभवा हि (सन्तीति)।

व्याख्या-उदात्त स्वर में निषाद और गान्धार संगीत के ये स्वर अन्तर्भूत हैं, अनुदात्त स्वर में ऋषभ और धैवत ये दो संगीत के स्वर अन्तर्भूत होते हैं, एवं स्वरित स्वर में षड्ज मध्यम और पंचम ये तीन संगीत के स्वर अन्तर्भूत होते हैं।

अर्थात् संगीत के 'स्वरों का भी समावेश संस्कृत के तीन स्वरों उदात्त, अनुदात्त और स्वरित स्वर में होता है।

१३- **अष्टौ स्थानानि वर्णानामुरः कण्ठः शिरस्तथा।**
जिह्वामूलं च दन्ताश्च नासिकोष्ठौ च तालु च ।।१३।।

अन्वय- वर्णानाम् उरः कण्ठः शिरः जिह्वामूलम्, दन्ताः नासिका, ओष्ठौ तालु च इति अष्टौ स्थानानि (भवन्तीति)

व्याख्या- वर्णों के उच्चारण स्थान आठ हैं - उरस् (वक्षःस्थल या हृदय) , कण्ठ (गला) शिरस् (मूर्धा), जिह्वामूल (जीभ की जड़) दन्त, नासिका दोनो होंठ (ओष्ठ) और तालु (तालु मध्य से ऊपरी दॉतो के बीच खुरदरा कठोर भाग)।

विशेष- वर्णों के उच्चारण स्थान -आठ हैं यह वर्णों के वर्गीकरण का तृतीय आंधार है।

१४- **ओभावश्च विवृत्तिश्च शषसा रेफ एव च।**
जिह्वामूलमुपघ्मा च गतिरष्टविधोष्मणः ।।१४।।

अन्वय- उष्मणः अष्टविधा गतिः (भवतीति) ओभावः विवृत्तिः रेफ शषसाः जिह्वामूलम् उपघ्मा च।

व्याख्या- ऊष्मसंज्ञक विसर्ग के आठ तरह के परिवर्तन या विकार प्राप्त होते हैं ,विसर्ग का ओ हो जाना, विवृत्ति होना, अर्थात् दो स्वरों के मध्य विसर्ग को रेफ होना पुनः रेफ का लोप होकर सन्धि का अभाव अथवा लोप हो जाना, विसर्ग का श् हो जाना कहीं ष् हो जाना, कहीं स् हो जाना, विसर्ग का कही रेफ (र्)हो जाना विसर्ग का कहीं जिह्वामूलीय...........क........... ख और कहीं उपघ्मानीय ....प...........फ हो जाना यथा- १- शिवो वन्द्यः,२- अश्वाः रथ ३- रामश्शेते, ४- रामष्टीकते ५- विष्णुस्त्राता, ६- प्रातरग्निम् ७- ऋषि को, ८- वायु, पूजा। ये क्रमशः विसर्ग के परिवर्तन के उदाहरण हैं।

१५- **यद्योभावप्रसन्धानमुकारादि परं पदम्।**
स्वरान्तं तादृशं विद्याद् यदन्यद् व्यक्तमूष्मणः।।१५।।

अन्वय- यदि उकारादि परं पदम् ओभाव प्रसन्धानम् तादृशम् स्वरान्तम् विद्याद् यद् अन्यद् ऊष्मणः व्यक्तम् ।(विद्याद्)।

व्याख्या- यदि उकारादि पद बाद में हो तथा पूर्व में अ हो तो पूर्व अ और पर उ दोनों के स्थान में एक आदेश से ओ के रूप में संहिता (सन्धि) कार्य हुआ हो तो इस प्रकार के सन्धि कार्य को दो स्वरों का परिणाम या कार्य (समझना चाहिए) यदि इसके विपरीत उकारादि पद का बाद में अभाव रहने पर उसके पूर्व ओकार हो तो ऐसे ओकार की विसर्गस्थानिक संज्ञा होती है ऐसा समझे यथा - महा उदधि = महोदधिः- यहाँ सन्धि कार्य आ + उ दो स्वरों के स्थान में आद् गुणः सूत्र से 'ओ' हुआ है देवः देवेभिरागमत् के स्थान पर देवो देवेभिरागमत् - मे देवः के विसर्ग को ओकार हुआ वह ऊष्म (विसर्ग) के स्थान पर हुआ है।

विशेष- यहॉ ओकार दो प्रकार का बताया गया है। १-स्वर स्थानिक २-विसर्ग स्थानिक

१६- **हकारं पंचमैर्युक्तमन्तः स्थाभिश्च संयुतम् ।**
उरस्यं तं विजानीयात् कण्ठ्यमाहुरसंयुतम् ॥१६॥

अन्वय- प´चमैः युक्तम् अन्तःस्थाभिः च संयुतम् हकारम् उरस्यम् विजानीयात् असंयुतम् तम् कण्ठ्यम् आहुः।

व्याख्या- कवर्गादि के पंचमवर्णों तथा अन्तःस्थ (य व र ल) वर्णों से संयोग करके उच्चरित हकार को हृदय स्थानिक समझना चाहिए । उन वर्णो के साथ असंयुक्त (संयोग रहित) हकार को कण्ठ्यस्थानीय (कोमल तालु पर प्राण वायु को विकृत करके उत्पन्न हुआ) समझना चाहिए यथा- उरः स्थानीय का उदाहरण- ह्मलयति, ह्लादः, ह्यः। कण्ठ्यस्थानीय -हसति।

विशेष- हकार का उच्चारण स्थान -उरः स्थानीय ,कण्ठ्यस्थानीय दो हैं।

१७- **कण्ठ्यावहाविचुयशास्तालव्या ओष्ठजावुपू**
स्युर्मूर्धन्या ऋटुरषा दन्त्या लृतुलसाः स्मृताः॥१७॥

अन्वय- अहौ कण्ठ्यौ इचुयशाः तालव्याः उपू ओष्ठजौ, ऋटुरषाः मूर्धन्याःस्युः, लृतुलसाः दन्त्याः स्मृताः।

व्याख्या- अ, आ, अ ३ तथा ह (वर्गान्त और अन्तस्थ वर्ण से असंयुक्त) वर्ण कण्ठ स्थान से उच्चारित होते हैं। इ, ई, इ३, च, छ, ज,झ, (चवर्ग), य तथा श ये वर्ण तालु से (उच्चारित होते हैं) उ ऊ उ३ प फ ब भ म (पवर्ग) ये वर्ण ओष्ठ स्थानीय (अधर पर वायु विकृत करके बोले जाते हैं) हैं, ऋ, ऋ, ऋ३ ,ट, ठ,ड ढ ण (ट वर्ग), र, ष ये वर्ण मूर्धास्थानीय होते हैं। लृ, त, थ, द, ध, न (तवर्ग) ल और स ये वर्ण दॅातो पर वायु को विकृत करके उत्पन्न हुए कहे गये हैं।

विशेष- १- वर्णों में कुछ वर्ण कण्ठ्य स्थानीय कुछ तालव्य-स्थानीय, कुछ वर्ण मूर्धन्य स्थानीय कुछ वर्ण दन्त्य- स्थानीय हैं।

२- अ, आ, अ३ वर्ण कहने से क्रमशः ह्रस्व ,दीर्घ प्लुत समझने चाहिए।

१८- **जिह्वामूले तु कुः प्रोक्तो दन्त्योष्ठ्योः वः स्मृतो बुधैः**
एऐ तु कण्ठतालव्या ओऔ कण्ठोष्ठजौ स्मृतौ ॥१८॥

अन्वय- बुधैः कुः तु जिह्वामूले प्रोक्तः वः दन्त्योष्ठ्यः स्मृतः, एऐे कण्ठतालव्यौ (ज्ञेयौ) ओ औ कण्ठोष्ठ जौ स्मृतौ।

व्याख्या - विद्वानों के द्वारा क वर्ग को जिह्वामूल से उच्चार्यमाण कहा गया है। वकार को (व) दन्त्य और ओष्ठ दोनों के माध्यम से उच्चारित किया जाता है ए और ऐ का उच्चारण कण्ठ और तालु दोनों के सम्मिलित सहयोग से होता है ओ और औ का कण्ठ और ओष्ठ के सम्मिलित सहयोग से उच्चारण होता है ,ऐसा समझना चाहिए।

विशेष- पाणिनीय व्याकरण में क वर्ग का उच्चारण कण्ठ-स्थान से कहा गया है।

१९- **अर्धमात्रा तु कण्ठ्यस्य एकारैकारयोर्भवेत्।**
ओकारौकारयोर्मात्रा तयोर्विवृत संवृतम्।।१९।।

अन्वय - एकारैकारयोः (एकार ऐकारयोः) कण्ठ्यस्य अर्धमात्रा भवेत् ओकारौकारयोः (ओकार औकारयोः) तु (कण्ठ्स्य) मात्रा (भवेत्) तयोः विवृत संवृतम् (ज्ञेयमिति)

व्याख्या - एकार और ऐकार में पूर्ववर्ती अ की अर्ध मात्रा तथा परवर्ती इ वर्ण की एक मात्रा इसी तरह ओकार और औकार में पूर्ववती वर्ण अ की अर्धमात्रा परवर्ती वर्ण उ की एक मात्रा होती है। उन दोनों में अ इ(ए ,ऐ) अ उ (ओ औ) भी पूर्ववर्ती वर्ण अकारसंवृत आभ्यान्तर प्रयत्न तथा परवर्ती वर्ण इ और उ का विवृत आभ्यान्तर प्रयत्न होता है।

विशेष - ए, ऐ, ओ, औ, का उच्चारण तथा कण्ठ की मात्रा का उल्लेख किया है। पाणिनीय व्याकरण में एदैतोः कण्ठतालु से ए और ऐ का उच्चारण स्थान कण्ठ और तालु तथा ओदौतोः कण्ठोष्ठयम् से ओ और औ का उच्चारण स्थान कण्ठ और ओष्ठ (होंठ) है।

२०- **संवृतं मात्रिकं ज्ञेयं विवृतं तु द्विमात्रिकम्**
घोषा वा संवृताः सर्वे अघोषा विवृताः स्मृताः ।।२०।।

अन्वय- मात्रिकम् संवृतम् ज्ञेयम् द्विमात्रिकम् विवृतम् तु (ज्ञेयम्) सर्वेघोषा वा संवृताः अघोषा विवृताः स्मृताः।

व्याख्या- ह्रस्व अकार एक मात्रिक होता है प्रयोग अवस्था में इसका संवृत आभ्यन्तर प्रयत्न समझना चाहिए। दीर्घ आ दो मात्रिक है इसका विवृत आभ्यन्तर प्रयत्न समझें। सभी घोष वर्णो का (हश् प्रत्याहार के अन्तर्गत आने वाले वर्ण) संवृत आभ्यन्तर प्रयत्न तथा अघोष (खर् प्रत्याहार के अन्तर्गत आने वाले वर्ण) वर्णों का विवृत आभ्यन्तर प्रयत्न होता है।

विशेष- १- स्वराणां विवृतम् से स्वरों का विवृत प्रयत्न कहा गया है परन्तु प्रक्रिया दशा मे ह्रस्व अ का संवृत प्रयत्न कहा गया है।

२- हश् प्रत्याहार में आने वाले वर्ण- ह, य व र ल, ञ म ङ ण न,
झ भ, घ ढ ध, ज ब ग ड द।

३- खर् प्रत्याहार के अन्तर्गत आने वाले वर्ण- ख फ छ ठ थ, च ट त, क प, श ष स ह।

४- घोष- वर्णों के उच्चारण के समय गूँज का उठना घोष कहलाता है।
५- संवृत- जिह्वा के स्थान से हटकर समीप रहना संवृत कहलाता है।
६- विवृत- जिह्वा के स्थान से दूर रहना विवृत कहलाता है।

२१- **स्वराणामूष्मणां चैव विवृतं करणं स्मृतम्**
तेभ्योऽपि विवृतावेङौ ताभ्यामैचौ तथैव च ॥२१॥

अन्वय- स्वराणाम् ऊष्मणाम् च एव करणम् विवृतम् स्मृतम् तेभ्यः अपि एङौ विवृतौ तथा च ताभ्याम् अपि ऐचौ तथैव च।
व्याख्या- स्वरों का (जिन्हें अच् कहा गया है इसके अन्तर्गत अ इ, उ, ऋ,ए, ओ,ऐ,औ) और ऊष्म संज्ञक वर्णों (श ष स ह) का आभ्यन्तर प्रयत्न विवृत कहा गया है। इन स्वरों में से ए और ओ का विवृततर तथा ऐ और औ का विवृततम् आभ्यन्तर प्रयत्न कहा गया है।

विशेष- १- स्वरों का विवृत आभ्यन्तर यत्न होता है, ए ओ का विवृततर तथा ऐ औ का विवृततम आभ्यान्तर प्रयत्न कहा गया है।
२- संवृत में उच्चारण में वायु मार्ग कम खुला रहता है।
३- विवृत में उच्चारण में वायु मार्ग खुला रहता है।
४- करण- प्रयत्न को साधने वाला साधन करण है।

२२- **अनुस्वारयमानांच नासिकास्थानमुच्यते।**
अयोगवाहा विज्ञेया आश्रयस्थानभागिनः ॥२२॥

अन्वय- अनुस्वार यमानाम् च स्थानम् नासिका उच्यते, अयोगवाहाः आश्रयस्थानभागिनः विज्ञेयाः।
व्याख्या- अनुस्वार (--) तथा यम (क् ख् ग् घ्) वर्णां का उच्चारण स्थान नासिका भी कहा जाता है। अयोगवाहों (अनुस्वार, विसर्ग, जिह्वामूलीय उपघ्मानीय तथा चार यम क् ख् ग् घ्) का उच्चारण स्थान उनके आश्रयीभूत वर्ण का जो उच्चारण स्थान होता है वही उच्चारण स्थान समझना चाहिए। यथा कं, कः, ... क.......... ख प.......... फ, ... यम (पलिक्क्नी उदाहरण में द्वितीय क् पूर्ववर्ती क् के उच्चारण स्थान वाला होता हैं) ये वर्ण पूववर्ती के आश्रित है अतः इनका उच्चारण स्थान पूर्ववर्ती वर्ण का उच्चारण स्थान होगा।
विशेष- यहाँ अनुस्वार और यम का उच्चारण स्थान नासिका भी कहा है तथा ये वर्ण अयोगवाह हैं इनके अतिरिक्त विसर्ग, जिह्वामूलीय, उपघ्मानीय ये भी अयोगवाह हैं। इनका उच्चारण स्थान इनके आश्रयदाता वर्ण के उच्चारण स्थान कहे गये हैं।

२३- **अलावुवीणानिर्घोषो दन्तमूल्यः स्वरानुगः।**
अनुस्वारस्तु कर्तव्यो नित्यं ह्री शषसेषु च ॥२३॥

अन्वयः- अलावुवीणानिर्घोषः दन्तमूल्यः स्वरानुगः अनुस्वारः तु (उच्चारणं) नित्यम्

कर्तव्यः ह्नी शषसेषु च (परेषु)।

व्याख्या- तुम्बीफल (लौकी, तुमड़ा आदि) वीणा से निकलने वाले स्वर के समान दन्तमूल में उत्पन्न स्वर का अनुसरण करने वाले अनुस्वार का उच्चारण सर्वथा करना चाहिए यदि अनुस्वार के बाद हकार, रेफ तथा श ष स वर्ण परे (पीछे) हो। यथा त्वं रक्षायै (त्वम् रक्षायै)

विशेष- पदों में प्रयुक्त अनुस्वार (.) वर्णों का भी उच्चारण स्पष्ट रूप से किया जाना चाहिए।

२४- **अनुस्वारे विवृत्यां तु विरामे चाक्षरद्वये।**
द्विरोष्ठ्यौ तु विगृह्णीयाद्यत्रौकार वकारयोः ।।२४।।

अन्वयः-अनुस्वारे विवृत्याम् विरामे अक्षर- द्वये च तु ओष्ठ्यौ तु द्विः विगृहणीयात् यत्र ओकारवकारयोः

व्याख्या - अनुसार, विवृति, विराम और संयुक्ताक्षर (दो अक्षरों के संयोग) परे (बाद मे) रहने पर पूर्व अच् (स्वरां) के उच्चारण में ओष्ठ (होंठ) को दो बार पृथक् करना चाहिए जिस प्रकार ओ (औ) और व के उच्चारण में दो बार होंठ पृथक् किये जाते हैं।

विशेष- १- अनुस्वार ,विवृति विराम और संयुक्ताक्षर से पूर्व अच् के शुद्ध उच्चारण की विधि बताई है।

२- संयुक्ताक्षर का उदाहरण- अग्निः यहाँ अ स्वर के परे ग्नि संयुक्ताक्षर है। अ का उच्चारण करते समय दो बार ओष्ठ को पृथक् करना चाहिए।

२५- **व्याघ्री यथाहरेत्पुत्रान् दंष्ट्राभ्यां न च पीडयेत्**
भीता पतन भेदाभ्यां तद्वत् वर्णान् प्रयोजयेत् ।। २५।।

अन्वय- यथा व्याघ्री पुत्रान् पतनभेदाभ्याम् भीता दंष्ट्राभ्याम् हरेत् तद्वत् वर्णान् प्रयोजयेत्

व्याख्या-जिस प्रकार व्याघ्री (बाघिन) अपने नवजात शिशु (शावका) को गिरने और पीड़ित होने (दाँत से दबाने के कारण शिशु को पीड़ा हो सकती है इसके भय से डरी हुई दाँतो से पकड़कर एक स्थान से दूसरे स्थान में ले जाती है उसी प्रकार वर्णों का उच्चारण न अधिक शैथिल्य से और न अधिक आघात से करना चाहिए।

विशेष- वर्ण स्पष्ट एवं निर्दोष ढंग से उच्चारित किये जाने चाहिए। जिससे वर्ण छूटे भी नहीं, कर्कश भी न लगे।

२६- **यथा सौराष्ट्रिका नारी तक्रँ इत्यभिभाषते।**
एवं रङ्गाः प्रयोक्तव्याः खे अराँ इव खेदया।। २६।।

अन्वय- यथा सौराष्ट्रिका नारी तक्रँ इति अभिभाषते, एवं रङ्गाः प्रयोक्तव्याः खे अराँ इव खेदया।

व्याख्या- जिस प्रकार सुराष्ट्र (महाराष्ट्र) देश की स्त्री निरनुनासिक तक्र (मट्ठा पेय पदार्थ) पद का तक्रँ अनुनासिक रूप से उच्चारण करती है उसी प्रकार रङ्ग वर्णो का (अनुनासिक वर्णों का) उच्चारण करना चाहिए। जैसे 'खे अराँ इव खेदया' यह वैदिक उदाहरण है इसमें अरान् के न् का लोप होकर उसका पूर्ववर्ती स्वर आ (रा में आ) अनुनासिक होकर अराँ हो गया है।

विशेष- १- वैदिक भाषा में रङ्ग वर्ण अनुनासिक का ही दूसरा नाम है।

२ - अनुनासिक वर्ण का सुस्पष्ट, मधुर एवं समरागता पूर्ण उच्चारण करना चाहिए। खे अराँ इव खेदया' में आँ रङ्ग वर्ण है।

२७- रङ्ग वर्णं प्रयुञ्जीरन् नो ग्रसेत्पूर्वमक्षरम्
दीर्घस्वरं प्रयुञ्जीयात् पश्चान्नासिक्यमाचरेत् ।। २७।।

अन्वयः-रङ्गवर्णम् पूर्वम् अक्षरम् नो ग्रसेत्, दीर्घस्वरम् प्रयुञ्जीरन् पश्चात् नासिक्यम् आचरेत्।

व्याख्या - रङ्ग वर्ण का ऐसे उच्चारण करना चाहिए जिससे पूर्व वर्ण रङ्ग (अनुनासिकवर्ण) से ग्रसित (प्रभावित) न हो। रङ्ग का स्वर दीर्घ उच्चारित हो पश्चात् (बाद में) अनुनासिक वर्ण या नासिक्य वर्ण का उच्चारण हो।

विशेष- रङ्ग वर्ण से पूर्व वर्ण को एक साथ उच्चारण करना दोष माना गया है। यहाँ रङ्ग वर्ण के उच्चारण की विधि बताई गई है।

२८- हृदये चैकमात्रस्त्वर्द्धमात्रस्तु मूर्द्धनि।
नासिकायां तथार्द्धं च रङ्गस्यैवं द्विमात्रता ।।२८।।

अन्वय- (रङ्गस्य) एकमात्रः तु हृदये, अर्द्धमात्रः तु मूर्र्द्धनि तथा अर्द्धम् च नासिकायाम् एवं रङ्गस्य द्विमात्रता ।।

व्याख्या:-रङ्ग वर्ण एक मात्रा हृदय में (मन्द उच्चारित करके) अर्द्धमात्रा मूर्धा में (तार स्वर से उच्चारित करके) अर्द्धमात्रा नासिका में (अनुनासिक रूप से) उच्चारित करना चाहिए **विशेष-** रङ्ग वर्ण के उच्चारण में कुल दो मात्राएं होती हैं

२९- हृदयादुत्करे तिष्ठन् कांस्येन समनुस्वरन्
मार्दवं च द्विमात्रं च जघन्वाँ इति निदर्शनम् ।।२९।।

अन्वय - हृदयात् उत्करे तिष्ठन् कांस्येन समनंस्वरन् मार्दवम् च द्विमात्रम् च (आचरेत्) जघन्वाँ इति निदर्शनम्।

व्याख्या -(रङ्ग पद के उच्चारण में) हृदय से लेकर ऊर्ध्व भाग स्थिति को प्राप्त करने वाले रङ्ग वर्ण का कांस्यपात्र के स्वर के समान मधुरता या मृदुता से और दीर्घ (द्विमात्रिक) उच्चारण करना चाहिए। जैसे जघन्वाँ (ऋग्वेद १/३२/११.) रङ्ग वर्ण का उदाहरण है।

विशेष- १- रङ्ग वर्ण का उच्चारण स्थान एव उच्चारण विधि देते हुए रङ्ग का वैदिक उदाहरण दिया है।

२- रङ्ग वर्ण उच्चारण की ध्वनि की समानता कांस्यपात्र की ध्वनि से की गई है। जिससे पाठक रङ्ग वर्ण की उच्चारण विधि को सरलता से समझ सके।

३०- मध्ये तु कम्पयेत्कम्पमुभौ पार्श्वौ समौ भवेत्।
सरङ्गं कम्पयेत्कम्पं रथीवेति निदर्शनम् ।।३०।।

अन्वय- कम्पम् तु मध्ये कम्पयेत्, उभौ पार्श्वौ समौ भवेत् कम्पम् सरङ्गम् कम्पयेत् रथीव इति निदर्शनम्।

व्याख्या- कम्प स्वर का उच्चारण करते समय मध्य भाग में कम्पस्वर का कम्पयुक्त ध्वनि से उच्चारण करना चाहिए। मध्य भाग के पूर्व और पश्चिम भागों का उदात्त रूप में या अनुदात्त रूप में समान रूप से उच्चारण हो और रङ्ग के साथ कम्प स्वर का उच्चारण करें। यथा 'रथीव' ऋग्वेद २-२४-१५ में उदाहरण दिया हैं। रङ्ग भी हो तो रङ्ग सहित स्वर को कम्पित करके उच्चारित करना चाहिए ।

विशेष -१. स्वर के उच्चारण के मध्य में कम्प स्वर का कम्पयुक्त उच्चारण करना चाहिए, वह कम्पयुक्त वर्ण उच्चारण के मध्य में होना चाहिए।

२. रङ्ग वर्ण के उच्चारण के समय भी कम्पस्वर का उच्चारण करना चाहिए।

३. कम्प झटके को कहते हैं। शौनकाचार्य ने कहा है कि यदि उदात्त या स्वरित बाद में हों तो जात्य, अभिनिहित, क्षेप्र और प्रश्लिष्ट - ये (स्वरित) स्वर कम्प को प्राप्त होते हैं उस स्वरित स्वर की आधी मात्रा उदात्त से उदात्ततर उच्चरित होती है। स्वरित के बार उदात्त, उदात्त के बाद अनुदात्त का उच्चारण करने में झटका लगता है यही झटका कम्प कहलाता है।

बोध प्रश्न

(१) रिक्त स्थान भरिए

१- प्रस्तुत शिक्षा में आचार्य.............................. का मत है। (याज्ञवल्क्य/पाणिनि)

२- वर्णोत्पत्ति प्रक्रिया में प्रथम भूमिका...............................है। (आत्मा/हृदय)

३- स्वर की दृष्टि से अच् के भेद................................... हैं। (दो/तीन)

४- अयोगवाहों की संख्या ....है। (सात/आठ)

५- विसर्ग के परिवर्तन.............................. होते हैं। (सात/आठ)

(२) १- अच् किसे कहते हैं?

२- कायाग्नि किस को प्रेरित करती है ?

३- च वर्ग का उच्चारण स्थान बताइए-

४- ओकार कितने प्रकार का है?

५- अनुस्वार और यम का उच्चारण स्थान बताइए

६- सुधीजन अक्षरों का उच्चारण किसकी तरह करें ?

७- तर्क्ँ किसका उदाहरण है ?

८- 'रथीव' किसका उदाहरण है ?

९- रङ्ग वर्ण में कितनी मात्रा होती है ?

१०- कम्पस्वर का उच्चारण किसके सहित होना चाहिए

4.4 सारांश

प्रस्तुत इकाई में पाणिनीय शिक्षा के १ से लेकर ३० कारिकाओं की व्याख्या की गई है। इस अंश में सर्वप्रथम वर्णों की संख्या का निर्धारण किया गया जिसमें वर्णों की संख्या ६३ या ६४ मान्य है। ६४ वर्णों में २१ स्वर, २५ व्यञ्जन, ४ अन्तःस्थ, ४ ऊष्म वर्ण, ४ यम, ४ अयोगवाह, १ दुस्पृष्ट और १ प्लुत लृकार हैं। ये सभी वर्ण मुखविवर में प्राणवायु के विभिन्न स्थानों से टकराने से उच्चरित या उत्पन्न होते हैं। वर्णोत्पत्ति प्रक्रिया में आत्मा, बुद्धि, मन, प्राणवायु, हृदय, कण्ठ, मूर्धा, तालु, नासिका, ओष्ठ, दन्त, जिह्वामूल आदि का इतनी शीघ्रता से सहयोग होता है कि पता ही नहीं चलता कि प्राणवायु कहाँ-कहाँ से टकराकर वर्णरूप में उच्चरित और श्रवणीय बन जाता है। यही प्राणवायु प्रातःकाल, मध्याह्न एवं सायंकाल विभिन्न स्थानों से टकराकर गम्भीर मध्यम एवं उच्चस्वर से जाना जाता है। यहीं प्राणवायु, ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत रूप से उच्चारण काल को सूचित करता है। यहीं प्राणवायु उदात्त, अनुदात्त एवं स्वरित से भी स्वर रूप में अभिहित होता है । विभिन्न प्रयत्नों (प्रयास) के माध्यम से प्राणवायु वर्ण, पद एवं वाक्य रूप में ज्ञान का माध्यम बन जाता है । यदि प्राणवायु से उत्पन्न वर्णों का शुद्ध उच्चारण, सम्यक् प्रयोग किया जाय तो वह सम्यक् अर्थबोध कराने में समर्थ होता है। एक भी वर्ण का सही अर्थ ज्ञात हो जाने से वह स्वर्ग में कामधेनु के समान इच्छित कामनाओं को पूर्ण करता है- यथा-

'एकः शब्दः सुप्रयुक्तः सम्यग्ज्ञातः स्वर्गे लोके कामधुग् भवति'।

इसी हेतु पाणिनीय शिक्षा के अर्धांश व्याख्या में वर्णोच्चारण के साधन, स्थान एवं विधि का सम्यक् अध्ययन आवश्यक है ।

4.5 शब्दावली

१ - शास्त्रोपदेष्टाओं- शास्त्र का उपदेश करने वाले विद्वान् ।

२ - यजुःसम्बन्धी- यजुर्वेद से सम्बन्धित ।

३ - ऋचा सम्बन्धी- ऋग्वेद से सम्बन्धित ।

४ - शब्दोच्चारण - शब्दों का उच्चारण ।

५ - अनभिज्ञ- वेदमन्त्रों के पाठ विधि को न जानने वाले ।

६ - यागोचित - यज्ञकर्म के अनुरूप ।

७ - आभ्यन्तरप्रयत्न - वर्णोच्चारण में जो प्रयत्न अन्दर से लगता है ।

८ - अन्तर्भूत - एकाकार, मिल जाना ।

९ - समावेश- सम्मिलित होना ।

१० - प्रत्याहार- सूत्र (माहेश्वर -सूत्र)का संक्षिप्त रूप, यथा अइउण् सूत्र का संक्षिप्त रूप अण् प्रत्याहार

बना।

११- अयोगवाह - ये वर्ण अन्य पर आश्रित होते हैं।

१२- पाठक -वेदमन्त्रों को पढने वाला।

4.6 बोध प्रश्नों के उत्तर

(१)

१- पाणिनि

२- आत्मा

३- तीन

४- आठ

५- आठ

(२)

१- अ से लेकर च् तक के वर्ण - अ इ उ ऋ लृ, ए ओ ऐ औ ये अच् हैं। जिन्हें स्वर कहा जाता है।

२- प्राणवायु को।

३- तालु।

४- दो।

५- नासिका।

६- व्याघ्री की तरह।

७- अनुनासिक का।

८- कम्पस्वर का।

९- दो मात्राएं।

१०- रङ्ग सहित।

4.7 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

१.लघु सिद्धान्त कौमुदी-श्री वरदराज मिश्र सं0 श्री महेश कुशवाहा चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी।

२.पाणिनीय शिक्षा-डॉ0 अमियचन्द्र शास्त्री 'सुधेन्द्र महालक्ष्मी प्रकाशन ,आगरा -२

३.संस्कृत वाङ्मय का बृहद् इतिहास -पद्म भूषण पं0 बलदेव उपाध्याय।

४. रचनानुवाद कौमुदी-डॉ0 कपिलदेव द्विवेदी, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी।

५.लघु सिद्धान्त कौमुदी-श्री वरदराज मिश्र, भैमी व्याख्या
६.पाणिनीय शिक्षा-व्याख्याकार श्री नारायण मिश्र चौखम्बा पब्लिशर्स वाराणसी।

4..8 उपयोगी पुस्तकें

१ . लघु सिद्धान्त कौमुदी-श्री वरदराज सं0 श्री महेश कुशवाहा चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी।
२. पाणिनीय शिक्षा-डॉ0 अमियचन्द्र शास्त्री 'सुधेन्द्र महालक्ष्मी प्रकाशन ,आगरा -२
३. संस्कृत वाङ्मय का बृहद् इतिहास-पद्म भूषण पं0 बलदेव उपाध्याय।
४. रचनानुवाद कौमुदी-डॉ0 कपिलदेव द्विवेदी, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी।
५. लघु सिद्धान्त कौमुदी-श्री वरदराज, भैमी व्याख्या
६. पाणिनीय शिक्षा-व्याख्याकार श्री नारायण मिश्र चौखम्बा पब्लिशर्स वाराणसी।

4.9 निबन्धात्मक प्रश्न

1. स्वरों के भेद का उल्लेख करते हुए उनका सोदाहरण परिचय दें।
2. स्वरों की उच्चारण प्रक्रिया का वर्णन करें।

इकाई 5. पाणिनीय शिक्षा के शेष अंशों की व्याख्या

इकाई की रूपरेखा

5.1 प्रस्तावना

5.2 उद्देश्य

5.3 ३१ से ६0 तक की कारिकाओं की व्याख्या

5.4 सारांश

5.5 शब्दावली

5.6 बोध प्रश्नों के उत्तर

5.7 उपयोगी पुस्तकें

5.8 निबन्धात्मक प्रश्न

5.1 प्रस्तावना

पाणिनीय शिक्षा के १ से ३० कारिकाओं तक के अंशों में वर्णों की संख्या, वर्णोत्पत्ति प्रक्रिया, वर्णोच्चारण स्थान, प्रयत्न, रङ्ग वर्ण की उच्चारण विधि आदि की जानकारी प्राप्त की गई तथा शुद्ध उच्चारण के लिए शिक्षा के महत्व से परिचय प्राप्त हुआ। संस्कृत के वर्णों का सम्यक् उच्चारण ब्रह्मलोक या पुण्य प्राप्ति का साधन है। वहीं वर्णों का अनुचित स्थान से उच्चारण करना, उदात्त के स्थान पर अनुदात्त उच्चारण करना यह अपराध कहा गया है। अशुद्ध उच्चारण, हस्तहीन स्वरों का उच्चारण मन्त्र को दूषित कर देता है इसका उदाहरण 'इन्द्रशत्रु- वृत्र' ही का जिसमें स्वरों का गलत उच्चारण 'इन्द्रशत्रु वृत्र' का विनाशक बन गया। इससे स्पष्ट है कि शुद्ध उच्चारण की विधि, स्थान, स्वरों का सम्यक् ज्ञान शिक्षा- ग्रन्थ के अध्ययन से सम्भव है तथा उचित फल की प्राप्ति भी उच्चारण की विधि के सम्यक् प्रयोग से सम्भव है। पाणिनीय- शिक्षा में भी शुद्धवर्णोच्चारण की विधि एवं शुद्धोच्चारण से प्राप्त फल (लाभ) का उल्लेख किया गया है। इस इकाई में शेष अंश की व्याख्या समाहित की गयी है जिसके प्रारम्भ में ही वर्ण -प्रयोग कैसे किया जाये इसका वर्णन है।

5.2 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप-

क - पाणिनीय शिक्षा के शेष अंशों की विषय सामग्री से परिचय प्राप्त कर लेंगे।

ख - वर्णों का उच्चारण किस प्रकार करें जिससे कहे गये वाक्य में कोई भी अक्षर न छूटें न ही दोषपूर्ण प्रयुक्त हो, इसकी जानकारी प्राप्त कर लेगें।

ग - सम्यक् (विधि एवं नियम जानकर) वर्णों का उच्चारण करने से ब्रह्मलोक की महिमा प्राप्त होती है, इस कथन से वर्णों के शुद्ध उच्चारण का महत्व जानेंगे।

घ - वर्णों का शुद्ध उच्चारण करना पाठक के गुण हैं, अशुद्ध उच्चारण करना पाठक के अवगुण हैं। पाठक के गुण और अवगुणों से परिचय प्राप्त कर लेंगे।

ड़ - प्रातः, मध्याह्न एवं सांयकालीन सन्ध्यावन्दन में प्रयुक्त वर्णों के गम्भीर, मध्यम और उच्च स्वरों के भेद का ज्ञान प्राप्त कर लेंगे

च - वर्णों के उच्चारण में 'प्रयत्न' (प्रयास-आभ्यान्तर एवं बाह्य) से परिचय प्राप्त कर लेंगें।

छ - उदात्त, हस्तसंचालन पूर्वक स्वरों का प्रयोग एवं प्रयोजन की जानकारी प्राप्त कर लेंगे। ज- स्वरहीन मन्त्रों का उच्चारण करने से वह मन्त्र विनाशक हो जाता है इसकी जानकारी प्राप्त कर लेंगे।

झ - व्याकरण एवं शिक्षा विषयक ग्रन्थ आचार्य इपाणिनि द्वारा किसकी कृपा सेलिखे गये , इसे जान सकेंगे।

5.3 ३१ से ६0 तक की कारिकाओं की व्याख्या

३१- एवं वर्णाः प्रयोक्तव्या नाव्यक्ता न च पीड़िताः।
सम्यग्वर्णप्रयोगेण ब्रह्मलोके महीयते ।।३१।।

अन्वयः-एवम् वर्णाः प्रयोक्तव्याः न अव्यक्ता न च पीड़िताः, सम्यग् वर्णप्रयोगेण ब्रह्मलोके महीयते।

व्याख्या- इस प्रकार वर्णों के उच्चारण में ध्यान रखना चाहिए कि वर्ण अस्पष्ट न हो तथा सुनने में कर्कश भी न लगे। वर्णों का नियमपूर्वक उच्चारण करने से वर्णोंच्चारण में त्रुटि नहीं होगी तथा उच्चारण किया गया वर्ण सम्यक् अर्थ एवं उद्दश्य का बोधक होगा। शुद्ध उच्चारण करने वाले को ब्रह्मलोक में अथवा विद्वत्समाज में सम्मान की प्राप्ति होगी। सम्मान, यश, ही मानव-जीवन की शाश्वत पूँजी है।

विशेष- शुद्ध, सुस्पष्ट और मधुर वर्णोंच्चारण करना चाहिए।

३२. गीति शीघ्री शिरः कम्पी तथा लिखितपाठकः
अनर्थज्ञोऽल्पकण्ठश्च षडेते पाठकाधमाः।।३२।।

अन्वयः- गीति शीघ्री शिरः कम्पी लिखित पाठकः तथा अनर्थज्ञः अल्पकण्ठः च एते षट् पाठकाः अधमाः (भवन्ति)।

व्याख्याः- गाते हुए पढ़ने वाला, जल्दी-जल्दी पढ़ने वाला, सिर हिला-हिलाकर पढने वाला, दूसरे के लिखे हुए या अपने लिखे हुए को ही उसी रूप में और अशुद्धि की जॉच किए बिना पढ़ने वाला, बिना अर्थ समझे ही पढ़ने वाला, अनभ्यस्त कण्ठ से या फॅसे गले से पाठ करने वाला ये छह प्रकार के पाठक अधम (निम्न) कोटि के कहे गये हैं। अतः वर्णों का उच्चारण करते समय उक्त दोषों (अवगुणों) की जानकारी होनी चाहिए।

विशेष- ग्रन्थकार नें वर्णोच्चारण के - दोष गिनाएं हैं जिनकी संख्या छः हैं।

३३. माधुर्यमक्षरव्यक्तिः पदच्छेदस्तु सुस्वरः।

धैर्यं लयसमर्थं च षडेते पाठका गुणाः।।३३।।

अन्वय- माधुर्यम् अक्षरव्यक्तिः पदच्छेदः सुस्वरः धैर्यम् लयसमर्थम् च एते षट् पाठका गुणाः (सन्ति)

व्याख्या- मधुरता अर्थात् सुनने में कानों को अच्छे लगने वाले (श्रुति सुखदाता) वर्णों की सुस्पष्टता से उच्चारण करने वाले, पदों का सन्धि विच्छेद पूर्वक उच्चारण करने वाले उचित स्वरों (उदात्तादि स्वरों) का उच्चारण करने वाले, धैर्य से शान्त स्वस्थ-चित्त से वर्णोंच्चारण करने वाले, लययुक्त उच्चारण करने वाले ये उत्तम पाठक के गुण कहे गये हैं।

विशेष- वेदमन्त्रों का उच्चारण करते समय पाठक के छः गुणों का ध्यान रखना चाहिए जिससे वेदमन्त्रों का सम्यक् अर्थबोध हो सके।

३४, ३५. शंकितं भीतमुद्घुष्टमव्यक्तमनुनासिकम् ।
काकस्वरं शिरसिगं तथा स्थानविवर्जितम् ।।३४।।
उपांशुदष्टं त्वरितं निरस्तं विलम्बितं गद्गदितं प्रगीतम् ।
निष्पीडितं ग्रस्तपदाक्षरं च वदेन्न दीनं न तु सानुनास्यम् ।।३५।।

अन्वयः- शङ्कितम्, भीतम्, उदघुष्टम्, अव्यक्तम्, अनुनासिकम् काकस्वरम्, शिरसिगम्, स्थानविवर्जितम्, उपाशुम् दष्टम् ,त्वरितम्, निरस्तम्, विलम्बितम्, गदगदितम्, प्रगीतम्,निष्पीडितम्, ग्रस्तपदाक्षरम्, दीनम् सानुनास्यम् च वदेत्

व्याख्या- संशययुक्त - स्वर, वर्ण, मात्रा, स्थान, करण आदि की शङ्का से युक्त (कहीं स्वर गलत तो प्रयुक्त नही हो रहा है, कही वर्ण गलत उच्चारित हो रहा है इत्यादि शङ्का का होना) भय सहित, अनावश्यक ऊँची आवाज निकालते हुए, स्पष्टता रहित, निरनुनासिक को अनुनासिक (नासिका के स्वर सहित) करके उच्चारित करना कौए के स्वर के समान कर्कश स्वर में उच्चारित करना, शिर में पीड़ित करके कहे गये (अनावश्यक ढंग से प्राणवायु को मूर्धा पर टकराते हुए) स्वाभाविक वर्ण स्थान से भिन्न स्थान द्वारा उच्चारित, अत्यन्त मन्द स्वर के साथ उच्चारित, दष्ट(जबड़ों) को नीचा करके,शीघ्रता के साथ उच्चारित, निष्ठुरतापूर्वक अथवा विद्यमान वर्ण का अपने स्थान और करण से यथावत् उच्चारण न करते हुए, बड़ी देर के साथ उच्चारित, शिथिल कण्ठ से या रुक-रुक कर बोलते हुए गाने की तरह, उच्चारण करते हुए , अपने को अत्यन्त पीड़ित कर कहे गये , बीच-बीच में पद या अक्षर को व्यक्त किये बिना ही उच्चारण करते हुए, उत्साह रहित होकर, सम्पूर्ण वाक्य को अनुनासिक (नाक से उच्चारित) बनाकर उच्चारण करना ये वर्णोच्चारण के सामान्य दोष हैं। इनका ध्यान रखकर ही शुद्ध उच्चारण करना चाहिए।

विशेष- वर्णोच्चारण करने में दोषों का ध्यान रखना आवश्यक है ये १८(अठारह) दोष उक्त कारिकाएं में आचार्य पाणिनि ने बताएं हैं। उत्तम पाठक के लिए आवश्यक है कि इन दोषों का ज्ञान भी होना चाहिए।

३६- प्रातः पठेन्नित्यमुरः स्थितेन स्वरेण शार्दूलरुतोपमेन ।
माध्यन्दिने कण्ठगते चैव चक्राह्वसङ्कूजितसन्निभेन ।।

अन्वय- प्रातः उरःस्थितेन शार्दूलरुत उपमेन स्वरेण, माध्यन्दिने च एव कण्ठगतेन चक्राह्वसङ्कूजित सन्निभेन नित्यम् (स्वरेण) पठेत् ।

व्याख्या- प्रातः कालीन सन्ध्यावन्दन में (यज्ञ कर्म में) हृदयस्थित सिंह स्वर के समान गम्भीर स्वर से और माध्यन्दिन (दोपहर के) यज्ञकर्म में कण्ठस्थित चक्रवाक पक्षी के स्वर के समान मध्यम ध्वनि (स्वर के द्वारा) से सदैव (प्रतिदिन) वर्णों का उच्चारण करना चाहिए।

विशेष- प्रातः कालीन सन्ध्यावन्दन कर्म में स्वर गम्भीर हो। मध्याह्नकालीन यज्ञादिकर्म में प्रयुक्त स्वर मध्यम हो। यहाँ उपमा अलंकार द्वारा सिंह और चक्रवाक पक्षी के ध्वनि की समानता वाले स्वर का उच्चारण करने का निर्देश दिया है।

३७ - तारं तु विद्यात्सवनं तृतीयं शिरोगतं तच्च सदा प्रयोज्यम् ।
मयूरहंसान्यभृतस्वराणां तुल्येन नादेन शिरःस्थितेन ।।३७।।

अन्वय - तृतीयम् सवनम् मयूरहंसान्यभृतस्वराणाम् तुल्येन शिरः स्थितेन नादेन, तत् च सदा शिरोगतं प्रयोज्यम् तारम् तु विद्यात्।

व्याख्या- तृतीय काल (सायंकाल) के सवन (यज्ञ) कर्म में मन्त्रोच्चारण को मोर, हंस और कोयल के स्वरों के समान शिर में स्थित ध्वनि से मूर्धागत उच्चार्यमाण वर्णों का उच्चस्वर (तार) से उच्चारण करना चाहिए ।

विशेष- सायंकाल में स्वर का उच्चारण उच्च स्वर से किया जाना चाहिए इसका उल्लेख किया गया है ।

३८- अचोऽस्पृष्टा यणस्त्वीषन्नेमस्पृष्टाः शलः स्मृताः
शेषाः स्पृष्टाः हलः प्रोक्ता निबोधानुप्रदानतः।।

अन्वय- अचः अस्पृष्टाः यणः तु ईषत् शलः नेमस्पृष्टाः स्मृताः। शेषाः हलः स्पृष्टाः प्रोक्ता अनुप्रदानतः निबोध।

व्याख्या- अच् (स्वर) वर्णों का स्पर्शरहित अर्थात् विवृत नामक आभ्यान्तर प्रयत्न है, यण् (अन्तस्थ वर्ण य,व,र,ल) वर्ण का ईषत्स्पृष्ट (अल्प स्पर्श) नामक आभ्यान्तरण प्रयत्न शल् (ऊष्म वर्ण श् ष् स् ह्) वर्ण का अर्धस्पृष्ट या ईषत्विवृत आभ्यान्तर प्रयत्न कहे गये हैं । हल् (व्यञ्जन) संज्ञक वर्ण जो शेष रह गये है उनका स्पष्ट आभ्यन्तर प्रयत्न कहा गया है । आगे बाह्य प्रयत्न के भेद से वर्णभेद समझना चाहिए ।

विशेष- समस्त वर्णो के आभ्यन्तर प्रयत्न बताये गये हैं ।

१- अस्पृष्ट (विवृत)

२- ईषत्स्पृष्ट (अल्पस्पर्श) ,

३- अर्धस्पृष्ट (ईषद्विवृत)

४- स्पृष्ट ।

३९,४०. **मोऽनुनासिका न ह्रौ नादिनो हझषः स्मृता ।**

ईषन्नादा यणो जश्च श्वासिनस्तु खफादयः ।।३९ ।।

ईषच्छवासांश्चरो विद्यात् गोर्धामैत्तप्रचक्षते ।

दाक्षीपुत्रपाणिनिना येनेदं व्यापितं भुवि ।। ४०।।

अन्वय- ञम् अनुनासिकाः ,न ह्रौ, हझषःनादिनः स्मृता यणः जश्च ईषन्नादिनः खफादयः श्वासिनः सन्ति चरः ईषत् श्वासान् विद्यात् एत् गोः धाम प्रचक्षते। येन दाक्षीपुत्रपाणिनिना इदं भुवि व्यापितम् ।।

व्याख्या- ´ ञम् (ञ म ङ ण न) ये वर्ण अनुनासिक हैं। हकार और रेफ (र्) निरनुनासिक हैं । ह झ ष नाद प्रयत्न (संवार घोष) वाले हैं । यण् (य व र ल) तथा जश् (ज ब ग ड द) ईषद् नाद वाले हैं ख फ छ ठ थ ये वर्ण श्वास (विवार और अघोष) प्रयत्न वाले ह । चर् च ट त क प श ष स ये वर्ण ईषद् श्वास (अल्प विवार और अघोष) वाले हैं । इस वर्ण- स्वर - मात्रा - बल - साम -सन्तान रुप शिक्षाशास्त्र को शब्दवेत्ता वाणी का स्थान या आकर कहते हैं । शुद्ध वर्णोच्चारण को जानकर ही दाक्षी पुत्र पाणिनि द्वारा इस शिक्षाशास्त्र को भूलोक में व्याप्त (विस्तारित) किया गया है।

विशेष-

१- आचार्य पाणिनि द्वारा वर्णों के बाह्यप्रयत्नों के आधार पर वर्णों के विभाजन किये गये हैं।

२-´ञम् प्रत्याहारान्तर्गत वर्णों की अनुनासिक संख्या होती है(मुखनासिकावचनोऽनुनासिकम्) ।

३- हकार और रेफ की अनुनासिक संज्ञा है ।

४- ह, रेफ तथा वर्गों के चतुर्थ अक्षरों का संवार और घोष अथवा नाद बाह्य प्रयत्न है।

५- यण् प्रत्याहारस्थ और तृतीय अक्षर ईषद्नाद प्रयत्न वाले हैं।

६- वर्णों के द्वितीय अक्षर खफ आदि श्वास संज्ञक हैं ।

७- चर् प्रत्याहारस्थ अर्थात् प्रत्येक वर्ग के प्रथम अक्षर एवं श् ष् स् वर्ण ईषत् संज्ञक हैं।

४१- **छन्दः पादौ तु वेदस्य हस्तौ कल्पोऽथ पठ्यते ।**
ज्योतिषामयनं चक्षुर्निरुक्तं श्रोत्रमुच्यते ।। ४१।।
शिक्षा घ्राणं तु वेदस्य मुखं व्याकरणं स्मृतम्,
तस्मात्साङ्गधीत्यैव ब्रह्मलोके महीयते ।।४२।।

अन्वय- वेदस्य पादौ छन्दः हस्तौ कल्पः अथ पठ्यते, चक्षुः ज्योतिषाम् अयनम् श्रोतम् निरुक्तम् उच्यते । वेदस्य घ्राणम् तु शिक्षा, मुखम् व्याकरणम् स्मृतम् । तस्मात् साङ्गम् (वेदम्)अधीत्य एवं (मनुष्यः) ब्रह्मलोके महीयते ।

व्याख्या- वेद शास्त्र को पुरुष का रुप मानकर उस पर पुरुष के अंगों का आरोप किया है। आचार्य पाणिनि ने वेदरुपी पुरुष के छः अंगों का उल्लेख किया है । वेद रुपी पुरुष के पाद (चरण) छन्दः शास्त्र हैं तो कल्पशास्त्र को हाथ कहा गया है। वेद पुरुष के नेत्र ज्योतिष्शास्त्र हैं तो कान (श्रोत्र) निरुक्त कहलाते हैं । वेद पुरुष की नासिका शिक्षाशास्त्र है (तो) मुख व्याकरण कहा जाता है । इसलिए षडंग सहित वेद को पढ़कर ही (व्यक्ति) ब्रह्मलोक में पूजित (सम्मानित) होता है।

विशेष-

१- वेद रुपी पुरुष के छः अंग छन्द, कल्प, ज्योतिष्, निरुक्त, शिक्षा एवं व्याकरण हैं ।

२- इन अंगों को वेदांग कहा जाता है ।

३- अंग सहित वेदाध्ययन करने से ब्रह्मलोक में सम्मान प्राप्त होता है अर्थात् पृथ्वीलोक में सुख सम्पन्नता तो प्राप्त होती है मृत्युपश्चात् स्वर्गलोग में यश प्राप्त होता है अर्थात् अनन्त सुख (मोक्ष) की प्राप्ति होती हैं।

४३- **उदात्तमाख्याति वृषोऽङ्गुलीनां प्रदेशिनी मूललिविष्टमूर्धा।**
उपान्तमध्ये स्वरितं द्रुत´च कनिष्ठिकायामनुदात्तामेव।

अन्वय- अङ्गुलीनाम् वृषः प्रदेशिनीमूलनिविष्टमूर्धा उदात्तम् आख्याति । उपान्तमध्ये द्रुतम् कनिष्ठिकायाम् अनुदात्तम् एव (आख्याति)॥

व्याख्या - अंगुलियों में श्रेष्ठ 'अंगुष्ठ' तर्जनी (अंगूठे के बाद वाली अंगुली) के मूल से सम्बद्ध अग्रभाग वाली होकर (सामवेदाश्रित) उदात्तस्वर को , अनामिका के मध्य भाग से संयुक्त होकर स्वरित स्वर को और कनिष्ठिका के मध्य भाग से अन्वित होकर अनुदात्त स्वर को अभिव्यक्त करता है।

विशेष- अच् तीन हैं-उदात्त, अनुदात्त और स्वरित। इनका प्रयोग मंत्रों के उच्चारण के स्थान के माध्यम से, हाथ की अंगुलियों के स्पर्श करने से एवं लिखित में भी अंकित किया जाता है।

४४- **उदात्तं प्रदेशिनीं विद्यात् प्रचयं मध्यतोङ्गुलिम्।**
निहतं तु कनिष्ठिक्यां स्वरितोपकनिष्ठिकाम्। ४४॥

अन्वयः- उदात्तम् प्रदेशिनीम्, प्रचयम् मध्यतोऽङ्गुलिम्। निहतम् तु कनिष्ठिक्याम् स्वरितम् उपकनिष्ठिकाम् विद्यात्॥

व्याख्या-उदात्त- स्वर को संकेत करने में तर्जनी अंगुली साध्य, प्रचय को मध्यमा अंगुलि से साध्य या संकेतित समझना चाहिए। अनुदात्त स्वर को कनिष्ठिका (सबसे छोटी अंगुलि) से साध्य, स्वरित स्वर को अनामिका से साध्य या आश्रित जानना चाहिए।

विशेष- यहॉ चार स्वरों उदात्त, अनुदात्त, स्वरित और प्रचय के अंगुलियों में संकेत के स्थान बताये हैं-१-उदात्त का तर्जनी अंगुलि २- प्रचय का मध्यमा अंगुलि ३- अनुदात्त का कनिष्ठिका अंगुलि ४- स्वरित का अनामिका अंगुलि।

४५- **अन्तोदात्तमाद्युदात्तमुदात्तमनुदात्तं नीचस्वरितम्।**
मध्योदात्तं स्वरितं द्वयुदात्ता त्र्युदात्तमिति नवपदशय्या।४५।

अन्वय- अन्तोदात्तम्, आद्युदात्तम् उदात्तम् अनुदात्तम्, नीचस्वरितम् मध्योदात्तम्, स्वरितम् द्वयुदात्ता इति नवपदशय्या॥

व्याख्या-पदों की नौ प्रकार की स्थिति होती है। अतः पद नौ प्रकार के हैं। अन्तोदात्त (जिसका अन्तिम वर्ण उदात्त हो यथा अग्निः में ग्निः अन्त उदात्त है) आद्युदात्त (जिस पद का आदि वर्ण उदात्त होता है- इन्द्रः में इ आद्युदात्त है) उदात्त (जो वर्ण एक वर्णी हो और वह भी उदात्त ही हो यथा यः

उदात्त है) अनुदात्त, नीच स्वरित, मध्योदात्त, स्वरित, द्वयुदात्त (दो उदात्त वाले पद) त्र्युदात्त (तीन उदात्त वाले पद)।

विशेष- उदात्तादि स्वर के भेद से पद नौ प्रकार के होते हैं।

४६- **अग्निः सोमः प्र वो वीर्यं हविषां स्वर्बृहस्पतिरिन्द्राबृहस्पती।**
अग्निरित्यन्तोदात्ता सोम इत्याद्युदात्तम् ॥
प्रेत्युदातं व इत्युनुदां त्तावीर्यं नीचस्वरितम्।
हविषां मध्योदात्तं स्वरिति स्वरितम्।
बृहस्पतिरिति द्वयुदामिन्द्राबृहस्पती इति त्र्युदात्तम्॥४७॥

अन्वय- अग्निः सोमः प्र वो वीर्यम् हविषाम् स्वर्बृहस्पतिरिन्द्रबृहस्पती, 'अग्निः' इति अन्तोदात्तम्, 'सोम' इति आद्य उदात्तम् 'प्र' इति उदात्तं 'वः' इति अनुदात्तम्, 'वीर्यम्' नीचस्वरितम्, हविषाम् मध्योदात्तम्'स्वर' इति स्वरितम् 'बृहस्पती' इति द्वयुदात्तम्, 'इन्द्राबृहस्पती' इति त्र्युदात्तम्।

व्याख्या- स्वरों के आश्रित (स्वर साध्य) पद नौ हैं उनका उदाहरण प्रस्तुत वाक्य है- 'अग्निः सोमः प्र वो वीर्यं हविषां स्वर्बृहस्पतिरिन्द्रबृहस्पती' इस वाक्य में अग्निः पद अन्तोदात्त है 'सोमः' आद्युदात्त (आदि में उदात्त) 'प्र' उदात्त है 'वः' अनुदात्त है, 'वीर्यम्' नीचस्वरित, 'हविषा' मध्योदात्त स्वरः 'स्वरित', 'बृहस्पति' द्वयुदात्त एवं इन्द्रबृहस्पती त्रयुदात्तत्त (तीन उदात्त) पद के उदाहरण हैं।

विशेष- उक्त कारिका में उदात्त आदि के कारण पद नौ तरह के होते हैं इनका उदाहरण भी दिया गया है।

४८- **अनुदात्तोः हृदि ज्ञेयो मूर्ध्न्युदात्त उदाहृतः**
स्वरितः कर्णमूलीयः सर्वास्ये प्रचयः स्मृतः।

अन्वय- अनुदात्तोः हृदि ज्ञेयः उदात्तः मूर्ध्नि उदाहतः, स्वरितः कर्णमूलीयः प्रचयः सर्वास्ये स्मृतः॥

व्याख्या- अनुदात्त स्वर का उच्चारण करते समय हाथ को हृदय प्रान्त तक नीचे की ओर ले जाना चाहिए उदात्त स्वर का उच्चारण करते समय हाथ को मूर्धा (सिर) तक ऊपर की ओर ले जाना चाहिए, स्वरित के उच्चारण में कान के मूल तक तिरछा करके ले जाना चाहिए तथा प्रचय (स्वरित के बाद स्थित अनुदात्त) स्वर के उच्चारण में मुख के पास नासिका के अग्र भाग तक हाथ रखना चाहिए।

विशेष- १- मन्त्रोच्चारण में उदात्तादि स्वरों का हस्तसंचालन आवश्यक है।

२- हृदय प्रान्त, मूर्धा, कर्ण का मूल एवं मुख के पास नाक के अग्रभाग तक विभिन्न स्थानों में हस्तसंचालन करते हुए मन्त्रोच्चारण का नियम है।

४९- **चाषुस्तु वदते मात्रां द्विमात्रं चैव वायसः ।**
शिखी रौति त्रिमात्रं तु नकुलस्त्वर्द्धमात्रकम् ।।

अन्वय- चाषः तु मात्राम् वदते, वायसः च द्विमात्रम् एव । शिखी तु त्रिमात्रम् रौति नकुलः तु अर्द्धमात्रकम् ।

व्याख्या- नीलकण्ठ पक्षी एक मात्रा कालिक, कौवे का द्विमात्रा कालिक, मोर का त्रिमात्राकालिक और नकुल (नेवला) का अर्द्धमात्राकालिक वर्णोच्चारण प्रसिद्ध है ।

विशेष- प्रबुद्ध मानव जब वर्णोच्चारण करते हैं तब उनके स्वरों के उच्चारणकाल को पक्षियों के उच्चारण काल के समय से समानता करते हुए उस उच्चारण समय का संकेत किया है । वह संकेत एकमात्रा, दो मात्रा और तीन मात्रा से भी स्पष्ट किया जाता है तथा क्रमशः इन्हें क्रमश: ह्रस्व ,दीर्घ और प्लुत की संज्ञा दी जाती है । याज्ञवल्क्य ने पलक झपकने में लगने वाले समय को एक मात्रा से संकेत किया है ।

५०- **कुतीर्थादागतं दग्धमपवर्णं च भक्षितम्**
न तस्य पाठे मोक्षोऽस्ति पापाहेरिव किल्विषात् ।।

अन्वय- कुतीर्थाद् आगतम् दग्धम् अपवर्णम् च भक्षितम् , पाठे किल्विषात् पापाहेः इव मोक्षः न अस्ति ।

व्याख्या - अज्ञान, दुराचार आदि दुर्गुणों से युक्त अतः निन्दित उपाध्याय (अध्यापक) से सीखा हुआ वेदशास्त्र , दग्ध अर्थात् नीरस होता है । अशुद्ध वर्णयुक्त एवं सुस्पष्टता से शून्य वेदमन्त्र का पाठ करने पर पाठक को पाप और दुष्कर्म, कुसंस्कार, त्रुटि, अपराध, दोष, रोग, शोक या भव-बन्धन से छुटकारा नहीं मिलता है । ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार विष से भयंकर सर्प के काटने पर व्यक्ति को मृत्यु से छुटकारा नहीं मिलता है ।

विशेष- १- वेदमन्त्रों को सद्गुरु से ही पढ़ना चाहिए ।

२- अनुचित रुप से अशुद्ध उच्चारण पाप है ।जिसके करने से उच्चारणकर्ता सांसारिक कष्टों से घिरा रहकर मोक्ष प्राप्त नहीं कर पाता है ।

५१- **सुतीर्थादागतं व्यक्तं स्वाम्नाय्यं सुवयवस्थितम् ।**
सुस्वरेण सुवक्त्रेण प्रयुक्तं ब्रह्मराजते । ५१।

अन्वय- सुतीर्थाद् आगतम् व्यक्तम् स्वाम्नाय्यम् सुव्यवस्थितम् सुस्वरेण सुवक्त्रेण प्रयुक्तम् ब्रह्मराजते।

व्याख्या- सदाचार गुरु से पढ़े हुए वेदमन्त्र, नितान्त सुस्पष्ट अपने आम्नाय से युक्त (सम्प्रदाय से पवित्र) और अत्यधिक नियन्त्रित, सुकण्ठ से (कण्ठादि उचित स्थानों से) शुद्ध, उदात्त आदि स्वरों के साथ उच्चारण किए जाने पर वेदमन्त्र शोभित होते हैं अर्थात् सफल होकर प्रतिष्ठित होते हैं। जिस

उद्देश्य से वेदमन्त्र पाठ किया जाता है वह उद्देश्य पूर्ण होता है।

विशेष- वेदमन्त्रों को ज्ञान एवं सदाचार सम्पन्न उपाध्याय (गुरु) से पढ़ना चाहिए।

५२- **मन्त्रोहीनः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह।**
स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात्॥

अन्वय- स्वरतः वर्णतः वा हीनः मन्त्रः मिथ्याप्रयुक्तः तम् अर्थम् न आह। (मन्त्रः) वाग्वज्रः यजमानम् हिनस्ति यथा स्वरतोऽपराधात् इन्द्रशत्रुः।

व्याख्या- स्वर (उदात्तादि) तथा वर्ण से हीन मन्त्र मिथ्या (शास्त्र-विरुद्ध) रूप से प्रयुक्त (उच्चारित) होकर अभीष्ट अर्थ को नही कहता है। वह दुष्टमन्त्र वाणी रूपी वज्र बनकर यजमान को नष्ट कर देता है जिस प्रकार इन्द्रशत्रु शब्द ने अशुद्ध स्वर से उच्चारण करने वाले यजमान को नष्ट कर दिया था। अतः दुष्ट शब्द के प्रयोग से बचने के लिए शुद्धस्वरों आदि का ज्ञान आवश्यक है।

विशेष- १- वेदमन्त्रों का स्वरादि की दृष्टि से शुद्ध उच्चारण नितान्त आवश्यक है।

२- इन्द्रशत्रुर्वर्धस्व (तैत्रिरीय संहिता २.५.२.३) ऐसा मन्त्र ऋत्विक् के प्रमादवश षष्ठीतत्पुरुष के स्वर अन्तोदात्त् इन्द्रशत्रु शब्द के स्थान पर बहुव्रीहि समास के स्वर वाला आद्युदात्तइन्द्रशत्रु शब्द उच्चरित हो गया। फलतः कर्ता (वृत्रासुर) के कर्म बन जाने से स्वयं वृत्रासुर ही इन्द्रद्वारा वध का पात्र बन गया। अतः स्वर का गलत प्रयोग होने से उसका विपरीत फल मिला।

५३- **अनक्षरमनायुष्यं विस्वरं व्याधिपीडितम्**
अक्षता शस्त्ररुपेण वज्रं पतति मस्तके ॥५३॥

अन्वय- अनक्षरम् अनायुष्यम् विस्वरम् व्याधिपीडितम् अक्षता शस्त्ररुपेण वज्रम् (सन्) मस्तके पतति

व्याख्या- वेदमन्त्रों के उच्चारण में अक्षर की त्रुटि यजमान की आयु को क्षीण कर देता है तथा स्वरहीन (उदात्तादि स्वरों के उच्चारण में हस्त संचालन न करके) मन्त्राक्षर रोगग्रस्त कर देता है। ऐसा दोषपूर्ण मन्त्र कभी नष्ट न होने वाले वज्र स्वरूप होकर यजमान के मस्तिष्क में प्रहार करता है अर्थात् अशुद्ध मन्त्र का उच्चारण यजमान या पाठक का अहित करता है।

विशेष- १-वैदिक-मन्त्रों का दोषरहित त्रुटिरहित, स्वरयुक्त उच्चारण यजमान के यथोक्त फल को देने वाला होता है।

२-दुष्टाक्षर - आयुर्नाश का कारण होता है।

३- स्वरदोष- शारीरिक- कष्ट का कारण होता है।

५४- **हस्तहीनं तु योऽधीते स्वरवर्णविवर्जितम्।**
ऋग्यजुः सामभिर्दग्धो वियोनिमधिगच्छति ॥ ५४॥

अन्वय- यः हस्तहीनम् तु स्वरवर्णविवर्जितम् (वेदमन्त्रस्यपाठम्) अधीते ऋग्यजुः सामभिः दग्धः वियोनिम् अधिगच्छति।

व्याख्या- जो पाठक वेदमन्त्रों के उच्चारण में हस्तसंचालन के बिना स्वर और अक्षरों का भ्रष्ट -

प्रयोग (अक्षरों का गलत उच्चारण)पूवर्क पाठ करता है वह ऋग् ,यजुष् तथा साम नामक वेदत्रयी रूपी अग्नि से दग्ध होकर निकृष्ट वियोनि (अधम योनि) में जन्म लेता है।

विशेष- वेदमन्त्रों के उच्चारण में स्वरादि का हस्तसंचालन न करना दोष माना गया है।

५५- **हस्तेन वेदं योऽधीते स्वरवर्णार्थसंयुक्तम् ।**

ऋग्यजुःसामभिः पूतो ब्रह्मलोके महीयते ।। ५५।

अन्वय- यः स्वरवर्णार्थसंयुतम् वेदम् हस्तेन अधीते(सः) ऋग्यजुः सामभिः पूतः ब्रह्मलोके महीयते।।

व्याख्या- जो वेदवाठी, स्वर, वर्ण तथा अर्थ के साथ उदात्तादि स्वर को सूचित करने वाले हस्तादि के संचालन पूर्वक वेदमन्त्र का पाठ करता हैं वह ऋग्वेद, यजुर्वेद तथा सामवेद से पवित्र होकर ब्रह्मलोक (स्वर्गलोक) में प्रतिष्ठा को प्राप्त करता है अर्थात् विद्वद्समाज में पूजनीय बन जाता है।

विशेष- वेदमन्त्रों द्वारा बताई गई विधि के अनुकूल उच्चारण करना प्रतिष्ठा प्राप्ति का कारण है। अतः सर्वदा शुद्धोच्चारण करना चाहिए।

५६- शंकरः शांकरीं प्रादाद्दाक्षीपुत्राय धीमते।

वाङ्मयेभ्यः समाहृत्य देवीं वाचमिति स्थितिः।।५६।।

अन्वय- शंकरः वाङ्मयेभ्यः समाहृत्य शांकरीम् देवीम् वाचम् धीमते दाक्षी-पुत्राय प्रादात् इति स्थितिः।

व्याख्या- महादेव भगवान शिवजी ने सम्पूर्ण वेदादिशास्त्रों से तात्विक बातें (सार-सार) निकालकर शांकरी अर्थात् स्वनाम सम्बन्धिनी दिव्य- वाणी रूप व्याकरण विद्या को दाक्षी पुत्र महर्षिपाणिनि के लिए प्रदान किया यही तथ्यपूर्ण वृतान्त है।(ऐसा शास्त्रों में वर्णन है।)

विशेष- सनकादि ऋषियों की तपस्या के फलस्वरूप ताण्डवनृत्त करते हुए प्रसन्न होकर शिवजी ने डमरु बजाया जिसकी ध्वनि रूप को आचार्य पाणिनि ने १४ माहेश्वर सूत्र द्वारा संग्रहित कर लिया और अष्टाध्यायी व्याकरण की रचना की यही माहेश्वर-सूत्र शांकरी विद्या के नाम से प्रसिद्ध हैं। पाणिनि -शिक्षा में इन्ही माहेश्वर वर्णो के उच्चारण की विधि निहित है इसलिए पाणिनीय शिक्षा को त्रिनयन (शिवजी) के मुखकमल से निःसृत् (निकली हुई) विद्या भी कहा है।

५७- **येनाक्षरसमाम्नायमधिगम्य महेश्वरात्।**

कृत्स्नं व्याकरणं प्रोक्तं तस्मै पाणिनये नमः।।५७।।

अन्वय- महेश्वरात् अक्षर-समाम्नायम् अधिगम्य येन कृत्स्नम् व्याकरणम् प्रोक्तम् तस्मै पाणिनये नमः।।

व्याख्या- भगवान शंकर से सम्पूर्ण वर्णसमाम्नाय को ग्रहण कर जिस महर्षि पाणिनि ने समग्र व्याकरण-शास्त्र का प्रवचन किया उस विश्वविख्यात महर्षि पाणिनि को नमस्कार है।

विशेष- आचार्य पाणिनि ने व्याकरणशास्त्र का उपदेश (प्रवचन) भगवान शिव की कृपा से दिया।

५८- येन धौता गिरः पुंसां विमलैः शब्दवारिभिः।

तमश्चाज्ञानजं भिन्नं तस्मै पाणिनये नमः।।५८।।

अन्वय- येन विमलैः शब्दवारिभिः पुंसाम् गिरः धौताः अज्ञानजं तमः च भिन्नम् तस्मै पाणिनये नमः।

व्याख्या- जिस (पाणिनि)द्वारा निर्मल शब्दरूपी जल से मनुष्यों की वाणी को दोषमुक्त करके शुद्ध (पवित्र) बनाया गया ,अज्ञान रूपी अन्धकार को शब्द-संस्कार की ज्ञान ज्योति से नष्ट किया गया उस महर्षि पाणिनि के लिए नमस्कार है।

विशेष- आ0 पाणिनि कृत व्याकरणशास्त्र के अध्ययन एवं अभ्यास से पाठक की वाणी ज्ञान सम्पन्न, शुद्ध एवं परिष्कृत हो जाती है। उस ज्ञान रूपी ज्योति से अज्ञान रूपी अन्घकार भी स्वतः (अपने आप) समाप्त हो जाता है।

५९- **अज्ञानान्धस्य लोकस्य ज्ञानाञ्जनशलाकया।**
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै पाणिनये नमः।

अन्वय- येन अज्ञानान्धस्य लोकस्य चक्षुः ज्ञानाञ्जनशलाकया उन्मीलितम् तस्मै पाणिनये नमः।

व्याख्या-जिस (महर्षि पाणिनि) ने अज्ञान से अन्धे लोगों के नेत्रों को ज्ञान की अञ्जन (काजल) रुपी सलाई के द्वारा खोल दिया, उस महर्षिपाणिनि को नमस्कार है। अर्थात्महर्षि व्याकरण शास्त्र की रचना करके मानव को समुचित शब्दज्ञान का बोध कराया।

विशेष- शब्दज्ञान के अभाव में लोगों में अज्ञान व्याप्त ही रहता है लोगों के अज्ञान को समाप्त करने की इच्छा से महर्षिपाणिनि ने व्याकरणशास्त्र की रचना की।

६०- **त्रिनयनमभिमुख निःसृतामिमां**
य इह पठेत् प्रयतश्च सदा द्विजः।
स भवति धनधान्यपशुपुत्रकीर्तिमान्
अतुलं च सुखं समश्नुते दिवीति दिवीति ॥६०॥

अन्वय- त्रिनयनम् अभिमुखनिःसृताम् इमाम् यः द्विजः प्रयतः सदा पठेत्, स इह धन धान्य पशु पुत्र कीर्तिमान् भवति, दिवि इति दिवि इति अतुलम् सुखम् च समश्नुते।

व्याख्या- त्र्यम्बक भगवान शंकर के मुख कमल से निकली हुई इस पाणिनीयशिक्षा को जो विद्वान् जितेन्द्रिय (संयम से) होकर सदैव पढ़ता है वह इस संसार में धन, धान्य (अन्नादि) पशु, पुत्र, कीर्ति को प्राप्तकर स्वर्ग में विपुल (अत्यधिक) सुख (कल्याण) को प्राप्त करता है।

विशेष- पाणिनीय-शिक्षा भगवान शंकर के मुखारविन्द से प्रादूर्भूत है। जो कोई व्यक्ति संयमित होकर नित्य इस शिक्षा का पाठ करता है वह अतुलनीय सुख को प्राप्त करता है। पाणिनीय शिक्षा के अन्तर्गत ५५ पद्यों में ही शिक्षा सम्बन्धी विधि वर्णित । है शेष ५ पद्यों में पाणिनीय शिक्षा का प्रादुर्भाव एवं महत्त्व तथा आ0पाणिनी को नमस्कार किया गया है।

६१. **अथ शिक्षाँमात्मोदात्तश्च हकारं स्वराणां यथाब ।**
गीत्यचोऽस्पृष्टोदात्तं चाषस्तु शङ्कर एकादश ॥६१॥

व्याख्या- प्रस्तुत श्लोक आ0 रामप्रसाद त्रिपाठी द्वारा सम्पादित 'शिक्षा संग्रह' में सम्पादित पाणिनीय-शिक्षा के अन्त में उद्धृत है। इसमें पाणिनीय-शिक्षा को खण्ड में विभक्त करने की परम्परा सुनिश्चित की है। ये खण्ड (एकादश) ¬११ हैं- अथ शिक्षां (१) पद्य से प्रथम खण्ड, आत्मा बुद्धया

(६) पद्य से द्वितीय खण्ड, उदात्तश्चानुदात्तश्च (११) पद्य से तृतीय खण्ड, हकार पञ्चमै-(१६)पद्य से चतुर्थ खण्ड, स्वराणामूष्मणा (२१) पद्य से पंचम खण्ड, यथा सौराष्ट्रिका नारी - (२६) पद्य से षष्ठ खण्ड, गीति-शीघ्री -(३२) पद्य से सप्तम खण्ड, अचोऽस्पृष्टा - (३८) पद्य से अष्टम खण्ड, उदात्तमाख्याति - (४३) पद्य से नवम खण्ड, 'चाषस्तु वदेत - (४९) पद्य से दशम खण्ड, और शङ्करः शाङ्करी - (५६) पद्य से एकादश खण्ड का आरम्भ हुआ है। इस प्रकार पाणिनीय शिक्षा को 'एकादशी खण्डिका' भी कहा गया है।

बोध प्रश्न

(१) निम्न चार विकल्पों में से सही विकल्प चुनिए।

पाणिनीय शिक्षा में पद्यों की संख्या .... है।

१- ३६ २- ४० ३- ५० ४- ६०

अधमपाठक के कितने ....प्रकार हैं।

१- ३ २- ४ ३-५ ४- ६

उत्तम पाठक के गुणों की संख्या .... है।

१- ३ २- ४ ३- ५ ४- ६

वर्णा के उच्चारण विषयक सामान्य दोष .... है।

१- पन्द्रह २- अठारह, ३- बीस, ४- बाइस

उदात्त स्वर का उच्चारण स्थान क्या हैं?

१ -मूर्धाप्रान्त, २-हृदयप्रान्त, ३-श्रोत्रमूल, ४-सम्पूर्ण मुख।

(२) निम्नलिखित के उत्तर वाक्यों में दीजिए -

1. प्रातः काल सन्ध्यावन्दनादि में उच्चारित स्वर, स्थान एवं प्रकार लिखिए।
2. मध्याह्न में उच्चारित स्वर, स्थान एवं प्रकार लिखिए।
3. सायंकालीन सन्ध्यावंदनादि में प्रयुक्त स्वर, स्थान एवं प्रकार लिखिए।
4. वर्णा के आभ्यन्तर प्रयत्न लिखिए-स्वर, यण्, शल् शेषहल् वर्ण के।
5. उदात्तस्वर का हस्तसंचालन में स्थान लिखिए।
6. अनुदात्त स्वर का हस्तसंचालन में स्थान लिखिए।
7. स्वरित स्वर का हस्त संचालन में स्थान लिखिए।
8. हस्तसंचालन पूर्वक स्वरों का उच्चारण न करने से क्या होता है ?
9. हस्तहीन और स्वर वर्ण विवर्जित मन्त्रों का प्रयोग करने से क्या होता है?
10. शांकरी से क्या तात्पर्य है ?
11. व्याकरण -शास्त्र का प्रवचनकर्ता किसे कहा जाता है?
12. त्रिनयम् से क्या तात्पर्य है ?

13. पाणिनीय शिक्षा कहॉ से निसृत् हुई ?
14. पाणिनीय शिक्षा को नित्य एवं संयमपूर्वक पढ़ने वाले को किसकी प्राप्ति होती है?

5.4 सारांश

पाणिनीय-शिक्षा के ३१ कारिका से लेकर ६० कारिकाओं की व्याख्या इस इकाई में की गयी है जिसके अध्ययन से सुस्पष्ट होता है कि इसमें वर्णों का प्रयोग सुस्पष्ट एवं सुमधुर करना चाहिए। छः मुख्य दोषों एवं १८ सामान्य दोषों को त्यागकर छः गुणों को अपनाकर वेदमंत्रों के अक्षरों का उच्चारण होना चाहिए। स्वरादि का उच्चारण स्थान, हस्त संचालन में स्थान का ध्यान रखते हुए उदात्त आदि स्वरों का सुस्पष्ट संकेत भी किया जाना आवश्यक है। वेदमन्त्र ज्ञानी, सदाचारी, संयत उपाध्याय से ही पठनीय एवं अध्यापनीय है। वेदमन्त्रों की सार्थकता, इष्ट प्राप्ति, अनिष्ट परिहार की अवधारणा भी शुद्ध वर्णोंच्चारण पर ही निर्भर है। अतुलनीय सुख समृद्धि प्राप्ति भी शुद्धोच्चारण का प्रतिफल है। अतः वेदाध्ययन के लिए वेदाङ्ग की उपादेयता सुनिश्चित है। प्रत्येक वेदाङ्ग का अपना विशिष्ट कार्य है परन्तु शुद्धोच्चारण के लिए शिक्षा ग्रन्थों में से पाणिनीय-शिक्षा की महनीय भूमिका सर्वसाधारण अथवा सर्वजनहिताय प्रतीत होती है।

5.5 शब्दावली

१- वर्णोच्चारण - वर्णों का उच्चारण
२- कम्पस्वर- कांसे के पात्र को एक बार बजाने के कुछ काल पर्यन्त कम्पनात्मक ध्वनि निकलती रहती है वही कम्प ध्वनि है।
३ - ब्रह्मलोक- परमात्मा का लोक स्वर्ग तथा वेद का लोक- वेद- वेदाङ्ग शब्दार्थ ज्ञानराशि है। यहाँ दोनों की ही प्राप्ति होती है।
४- लययुक्त - छन्द बद्ध तरीके से पढ़ना।
५- अर्धस्पृष्ट- ईषद्विवृत
६- आभ्यन्तर प्रयत्न - वर्णों के उच्चारण करने से पहले जो प्रयास होता है।
७- संवृत- कण्ठविवर का संकुचित होना।
८- विवृत- मुखविवर का खुलना।
९- यजमान - यज्ञादि कर्मानुष्ठान करवाने वाला।

5.6 बोध प्रश्न के उत्तर

१-६०
२-६
३-६
४-१८

५-मूर्धाप्रान्त।

(2)

1. उदात्त स्वर, हृदय स्थान एवं सिंह स्वर के समान गम्भीर स्वर।

2. मध्यम स्वर, कण्ठ स्थित एवं चक्रवाक स्वर के समान।

3. उच्चस्वर मूर्धा में स्थित, मोरहंस तथा कोयल के स्वरों की तरह।

4. स्वर- आभ्यन्तर प्रयत्न अस्पृष्ट या विवृत।

यण् - य व र ल का आभ्यन्तर प्रयत्न- ईषत्स्पृष्ट तथा ईषद्विवृत।

शल्- श ष स ह का आभ्यन्तर प्रयत्न- अर्धस्पृष्ट।

शेष हल् वर्णों का - आभ्यन्तर प्रयत्न- स्पृष्ट। तर्जनी मूल से सम्बद्ध अग्रभाग।

5. कनिष्ठिका के मध्यभाग से अन्वित।

6. अनामिका के मध्यभाग से संयुक्त।

7. मध्यमागंलिसाध्य प्रचय स्वर होता है।

8. ऐसा मन्त्र शस्त्ररुपवज्र बनकर यजमान के मस्तिष्क में प्रहार करता है अर्थात् उचित फल नहीं मिलता।

9. ऐसा पाठक वियोनि को प्राप्त होता है।

10.भगवान शंकर द्वारा उद्धृत दिव्यवाणी रुप व्याकरण शास्त्र है।

11. महर्षि पाणिनी को

12. भगवान शिवजी का पर्याय है।

13. भगवान शिव के मुखकमल से

14 . धन धान्य पशु पुत्र आदि की अतुलनीय सुख की प्राप्ति होती है।

5.7 उपयोगी पुस्तकें

१. महाभाष्य/प्रथम पस्पशाह्निक-विद्यानिधि हिन्दी व्याख्या/प्रथम अध्याय विद्यानिधि, शोधसंस्थान। (अमीन रोड, कुरुक्षेत्र)

२. संस्कृत - हिन्दी कोश - लेखक वामन शिवराम आप्टे

३. लघुसिद्धान्त कौमुदी - श्री वरदराज ,चौखम्बा विद्या भवन वाराणसी।

४ . पाणिनीय शिक्षा - वैदिक यन्त्रालय, अजमेर।

५ . पाणिनीय शिक्षा - सं0 अमियचंद्र शास्त्री, महालक्ष्मी प्रकाशन आगरा।

5.8 निबन्धात्मक प्रश्न

- पाणिनीय शिक्षा पर एक निबन्ध लिखें।
- श्लोक 01 से 15 तक की व्याख्या लिखें।